साहित्य की समस्याएँ



साहित्य की समस्याएँ

शिवदानसिंह चौहान

आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

लेखक के अन्य आलोचनात्मक ग्रन्थ

साहित्यानुशीलन	६·००
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	३·५०
हिन्दी गद्य-साहित्य	२·७५
आलोचना के मान	३·७५
काश्मीर : देश व संस्कृति	६·००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	दस रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ६ ५ ६
आवरण	:	ना० मा० इंगोले
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

निवेदन

'साहित्य की समस्याएँ' मेरे सन् '५१ से लेकर सन् '५५ तक के उन निबंधों का संग्रह है जो 'साहित्यानुशीलन' या अन्य किसी पुस्तक में संकलित नहीं किए गये। इनमें केवल चार निबंध ही पुराने हैं---दो साहित्य-सम्बंधी और दो भाषा-सम्बंधी---जो पहले मेरे निबंध-संग्रह 'प्रगतिवाद' में प्रकाशित हुए थे। किन्तु यह पुस्तक अब अप्राप्य है और उसका नया संस्करण निकालने का विचार नहीं है।

आचार्य शुक्ल के जीवन-काल में साहित्य, उसके इतिहास, मूल्यांकन और उसमें प्रतिबिम्बित जीवन-वास्तव की समस्याएँ जिस रूप में सामने आयीं थीं, उनका रूप अब बदल गया है, साथ ही इन समस्याओं को देखने-समझने की दृष्टि भी बदल गयी है। इसी कारण, हर सजग आलोचक साहित्य की इन मूलभूत समस्याओं पर नये सिरे से विचार करने के लिए विवश है। लेकिन पुरानी और नयी दृष्टि के विचारकों में, कम से कम, एक बात सामान्य है कि हम सभी उस सत्य का अन्वेषण करने के आकांक्षी रहे हैं जो महान् साहित्य का सत्य है, ताकि उसकी चेतना से हमारे साहित्यकारों को महान् साहित्य रचने की प्रेरणा और स्फूर्ति मिले और हमारे पाठकों में केवल उत्कृष्ट रचनाओं को ही पसन्द करने की कलाभिरुचि का विकास हो। श्रेष्ठ साहित्य की रचना या उसके मूल्यांकन के मार्ग में यदि किसी प्रकार के मतवाद--अतिवाद, ग़ैर ज़िम्मेदार दृष्टिकोण या सामाजिक परिस्थितियाँ बाधक बनी हैं तो यह हमें गवारा नहीं हुआ है और हमने उनके विरुद्ध खुलकर प्रतिवाद किया है। साहित्य-चिन्तन में सत्य और विवेक को प्रतिष्ठित करना ही इन विविध-विषयक निबंधों का उद्देश्य है।

मैंने भाषा-सम्बंधी दो निबंधों को केवल उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही इस संग्रह में शामिल नहीं किया। संविधान और भाषा-आयोग की सिफ़ारिशों के बावजूद राष्ट्रभाषा या जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का अन्तिम फैसला नहीं हो गया है। इन प्रश्नों का जब तक कोई जनवादी समाधान नहीं किया जायगा, तब तक ये प्रश्न, एक-न-एक रूप में, देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में उठकर, भारतीय राष्ट्र की एकता को चुनौती देते रहेंगे। स्वतंत्रता अविभाज्य है तो उसके वरद्-स्पर्श का देश की हर भाषा और हर नागरिक को समान रूप से अनुभव करना चाहिए। जनवाद की कसौटी केवल बहुमत को प्रसन्न और संतुष्ट करना नहीं है, बल्कि अल्पमत को अन्याय और असन्तोष से मुक्ति दिलाना भी है। इसके अतिरिक्त जनपदीय भाषा-भाषी जनता यदि आज मूक है और कतिपय हिन्दी-आन्दोलनकारी ही शोर मचाकर उसका प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रहे हैं, तो क्या यह स्थिति हमेशा ऐसी ही बनी रहेगी? आज का अल्पमत कल का बहुमत बन सकता है---अपने अधिकारों की चेतना भर फैलने की देर है। इसलिए मेरा विचार है कि हिन्दी-वादियों (या हिन्दी आन्दोलनकारियों) को व्यापक राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर जनवादी दृष्टि से भाषा-सम्बंधी प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। नागा-जातियों की तरह विद्रोह करने पर ही हम विभिन्न भाषा-भाषियों के मूल अधिकारों को स्वीकार करें, नहीं तो उनका स्वत्व-हरण करके अपना सम्मान बढ़ाते रहें, यह जनवादी तरीक़ा नहीं है। हमारा दुराग्रह देश में आन्तरिक कलह की आग का प्रज्ज्वलित रखेगा। ये निबंध, पाठकों को, सही दिशा में सोचने के लिए बाध्य कर सकें, इस संग्रह में उनका यही औचित्य है।

—शिवदानसिंह चौहान



क्रम

साहित्य

भाषा

परिशिष्ट

साहित्य

१

नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न

नये भारत से मुराद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत से है। यों तो नये भारत की रूपरेखा बनना उस दिन से ही शुरू हो गई थी जिस दिन किसी हिन्दुस्तानी को अपनी गुलामी के बन्धन असह्य मालूम पड़े और उसके मन में आज़ादी की तमन्ना पैदा हुई। उस दिन से ही नये भारत का निर्माण करने के लिए हमारी संघर्ष-यात्रा का आरम्भ हुआ। उस दिन से ही हमारी जीवन-दृष्टि और जीवन-मूल्य बदलने लगे। साहित्य का स्वर भी 'कोऊ नृप होय, हमहिं का हानी' की तटस्थता छोड़कर 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' के उद्घोष में परिणत हो गया। एक शताब्दी बीत गई हमें नये भारत के निर्माण की आकांक्षा लेकर अपनी संघर्ष-यात्रा में निकले। इस संघर्ष के बीच नये भारत की रूपरेखा हमारे हृदयों में बनती-उभरती आई है। इसीलिए जब स्वतन्त्रता मिली तो उसने नये मूल्यों और नई दृष्टि को जन्म नहीं दिया, बल्कि इससे हमारे बुद्धिजीवी वर्ग में एक विचित्र भ्रम ही पैदा हुआ। मन की गति सदा बाह्य घटनाओं के समानान्तर नहीं चलती, न हर नयी घटना का तत्काल मर्म-बोध करने में ही समर्थ होती है। अधिकतर लोगों ने समझा कि हम आख़िरी मंज़िल पर पहुँच गये। आखिरी मंज़िल पर पहुँचना गति का अवसान है। जीवन चिरन्तन गति है। उसे अगर आगे बढ़ने का मौक़ा न मिले तो वह पीछे लौटेगा ही। मन की गति भी इस नियम का अपवाद नहीं है। स्वतन्त्रता के बाद, दुर्भाग्य से, मन और जीवन की गतियाँ विपरीत दिशा में चलने लगीं। जीवन तो आगे बढ़ा, क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता ही जीवन का लक्ष्य नहीं था। लेकिन मन और बुद्धि धोखा खा गये। कुछ लोग 'स्वतन्त्रता' को ही अन्तिम मंज़िल समझ कर आगे बढ़ने से रुक गये। पुरानी पीढ़ी के साहित्यकार, जिन्होंने गहरी आत्मवेदना से संघर्ष-काल की आकांक्षाओं को वाणी दी थी, स्वतन्त्रता मिलते ही उन आकांक्षाओं के प्रति असंवेदनशील-से हो गये। उन्होंने समझा कि बस यही नया भारत है, जिसके गीत वे अब तक गाते आये थे। संघर्ष का अब अन्त हो गया, जीवन के अभाव पूरे हो गये और सत्ता के उपयोग का समय आ गया। नई पीढ़ी के कुछ साहित्यकारों ने, जो कभी संघर्ष में तप कर कंचन नहीं बने थे, न जिन्हें दूसरों के दुख-दर्द का अनुभव ही था, स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृंखलता लगाया और वे सब प्रकार के सामाजिक दायित्वों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगे अनावश्यक प्रतिबन्धों के रूप में देखने लगे। पुरानों की असंवेदनशीलता का ही यह दूसरा पहलू था। इन सबसे अलग हमारे कुछ

'साथी' ऐसे भी थे, जिन्होंने अपने मन में नये भारत की एक आदर्श कल्पना बना रखी थी। स्वतन्त्रता के बाद भी उस कल्पना से भारत का मेल न देखकर उनकी निराशा दुर्वासा का अनियंत्रित आक्रोश बनकर फूट निकली। उन्होंने कहा कि यह स्वतन्त्रता एक धोखा है, क्योंकि इसमें सब कुछ अभी पुराना ही है, नया कुछ भी नहीं, केवल शासक बदल गये हैं। वर्ग-शोषण से मुक्ति, न्याय और समानता इसमें आज भी दुर्लभ है।

इस मति-भ्रम के वातावरण में, स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन में, विशेषकर बुद्धिजीवियों में मूल्यों का विघटन शुरू हुआ। इस विघटन में और भी अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने योग दिया। उनका उल्लेख करना व्यर्थ है। तीसरे महायुद्ध की आशंका से लेकर फिल्म-व्यवसायियों की स्वार्थपरता तक का छिद्रान्वेषी विवेचन करते हुए, इन कारणों की एक लम्बी सूची गिनाने की प्रथा-सी चल पड़ी है। हर लेखक इन कारणों को गिनाता है—वह भी जो मूल्यों के विघटन से क्षुब्ध है और वह भी जो मूल्यों के विघटन के नाम पर व्यक्ति की आत्मविलासी क्रीड़ाओं के लिए सामाजिक दायित्वों की चेतना से साहित्य के दामन को अछूता रखना चाहता है। लगता है जैसे ये सभी लोग क्षणवादी हैं, वर्तमान को ही चिरन्तन मानते हैं। वस्तुतः वे वर्तमान के बाह्य रूप को ही देखते हैं, उसके आन्तरिक सत्य तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती, क्योंकि उनकी दृष्टि ऐतिहासिक नहीं है। स्वतन्त्रता ने हमें मंजिल पर नहीं पहुँचाया, बल्कि अपनी कल्पना के भारत का निर्माण करने का दायित्व भर सौंपा है। स्वतन्त्रता वास्तव में दायित्व है, सत्ता का उपभोग करने का अधिकार नहीं, न मंजिल की प्राप्ति ही। लेकिन इस बात को अधिकांश बुद्धिजीवी नहीं देख पाये। इसीलिए स्वतन्त्रता से बाद स्वार्थों का संघर्ष चला, उसको औचित्य प्रदान करने के लिए सिद्धान्तों का आधार चाहे जो दिया गया हो; स्वार्थों का यह संघर्ष अवास्तविक है, भारतीय जीवन की वास्तविकता से उसका ऊपर का ही नाता है, क्योंकि भारतीय जीवन चन्द बुद्धिजीवियों की विकृत चेतना के बावजूद एक सर्वव्यापी क्रान्ति के मध्य से गुजर रहा है। इसलिए मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया भी एक सामयिक विकृति है। स्वार्थों का संघर्ष क्षण-स्थायी है, अधिक दिन नहीं चलेगा। बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों को अपना भ्रम छोड़कर वास्तविकता से आँखें दो-चार करनी ही पड़ेंगी और युग की केन्द्रीय समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने के लिए जीवन-सत्य से जूझना पड़ेगा। इसलिए नये भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का प्रश्न उठाना अब अनिवार्य हो गया है।

इस नये भारत के निर्माण की सजग चेष्टाएँ स्वतन्त्रता के बाद ही शुरू हो सकती थीं। स्वतन्त्रता-संग्राम इसके लिए ही लड़ा गया और असंख्य देश-भक्तों ने इसकी खातिर ही स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने जीवन होम दिये। लेकिन जो आज है वही नया भारत नहीं है। हम स्वतन्त्र हुए, लेकिन भारत अभी पुराना ही है। पुराना इस अर्थ में कि पुराने के अवशेष नये के मुक़ाबले में कहीं ज्यादा हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस दिन कहा कि हम अभी गोबर-युग में हैं, यानी हमारी जनसंख्या का अधिकांश

भाग अपना काम-काज चलाने के लिए जिस 'शक्ति' का इस्तेमाल करता है, वह उपले या कंडे जला कर प्राप्त की जाती है। कोयला, भाप या बिजली की शक्ति बहुत थोड़े लोगों को ही उपलब्ध है। एटम-शक्ति का तो अभी स्वप्न ही देखा जा रहा है। नये और पुराने या उन्नत और पिछड़े जीवन को नापने का यह भी एक मानदंड है कि किसी देश के निवासी प्रकृति के गर्भ से निकाल कर अपने जीवन को सभ्य और सुखमय बनाने के लिए औसतन कितनी मात्रा में 'शक्ति' का इस्तेमाल करते हैं। निश्चय ही मनुष्य की प्रगति को नापने का केवल मात्र यही मानदंड नहीं है। और भी अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मानदंडों का प्रयोग होता है। लेकिन यह मानदंड काफी बुनियादी है, क्योंकि कल हमारे देश में समाजवादी विधान लागू हो जाय और एक दर्जन शेक्सपियर, तालसताय, रवीन्द्र जैसी प्रतिभाएँ भी पैदा हो जायँ, तो भी 'शक्ति' प्राप्त करने के आधुनिक साधनों और माध्यमों का विकास किये बिना हमारा देश 'आधुनिक' या 'उन्नत' नहीं कहा जा सकेगा। हमारी जनता की ग़रीबी और उसका पिछड़ापन पूर्वतः बना रहेगा। गोबर-युग से विकास करके एटम-युग में पहुँचने की समस्या बनी ही रहेगी और देश को इस दिशा में विकास करना ही पड़ेगा। स्वतंत्रता के बाद हम योजना बना कर सजग और संगठित रूप से इस दिशा में कदम बढ़ाने लगे हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि नये भारत के निर्माण का क्रम तेजी से शुरू हो गया है। इसका अर्थ आप समझते हैं?

इसका अर्थ है कि राजनीतिक पार्टियाँ या सरकारें बदल सकती हैं, लेकिन नये भारत के बनने के क्रम में फर्क नहीं आ सकता—हर पार्टी को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नये भारत के निर्माण का बीड़ा उठाना होगा, और ईमानदारी से उसके निर्माण में भाग लेना होगा, नहीं तो इतिहास उसे मिटा देगा। भगवान चाहे धनिकों और शक्तिमानों का ही साथ देता हो, लेकिन इतिहास इतना अंधा और पक्षपाती नहीं है, क्योंकि इतिहास का निर्माण मनुष्य करते हैं। इतिहास की प्रक्रिया मानव-प्रगति की प्रक्रिया है, इसलिए उसकी कसौटी भी मानव-प्रगति ही है। इस कसौटी पर जो पार्टी, राज्य, वर्ग, सभ्यता, व्यक्ति या विचार खोटा सिद्ध होगा, उसे इतिहास अन्ततः मिटा देगा, इसमें सन्देह नहीं हमारा मानव-समाज के दीर्घकालीन इतिहास का अनुभव यही बताता है। आज कोई पार्टी, वर्ग या व्यक्ति कितना ताकतवर है, इतिहास के लिए इस प्रमाण का कोई मूल्य नहीं है। मानव-समाज की प्रगति में वह कितना योग दे सकता है, उसके भावी अस्तित्व की सार्थकता केवल इससे ही सिद्ध होगी। इसलिए राजनीति के झगड़े, जहाँ तक पार्टियों के झगड़े हैं, निम्न-स्तर के झगड़े हैं या अधिक से अधिक नये भारत के निर्माण-कार्य को अधिक वेग और सुचारु रूप से चलाने के बारे में अपनी-अपनी योग्यता प्रमाणित करनें का अवसर पाने के झगड़े हैं। तो इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं—पहली यह कि हम आजाद हुए हैं तो अब फिर कभी गुलाम नहीं बनना चाहेंगे। दूसरी यह कि हम आजाद हुए हैं तो अब पुराना भारत नहीं रहेगा, क्योंकि नये भारत के निर्माण का क्रम लगातार जारी

रहेगा। यहाँ पुराने भारत का अर्थ अजंता, एलोरा, ताज या प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की महान उपलब्धियाँ नहीं हैं, बल्कि भारतीय जनता की गरीबी, पिछड़ापन, अशिक्षा, मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव करने वाले रीति-रिवाज, सामन्तवादी और पूँजीवादी शोषण है। नये भारत के निर्माण से मनुष्य-जीवन को विकृत और अभावग्रस्त बनाने वाली ये पुरानी व्याधियाँ मिटती जायेंगी। इस निर्माण की गति तत्कालीन परिस्थितियों के संघात से कभी मन्द या तीव्र हो जाय, यह अलग बात है, यद्यपि मन्द होना भी सम्भव नहीं दीखता। एक महान् विप्लव, क्रान्ति या परिवर्तन सामने है—हम उसके भँवर में हैं। यह शान्तिपूर्ण निर्माण का विप्लव है, निर्माण की क्रान्ति है, निर्माण का परिवर्तन है। धरती के जिस बंजर चप्पे पर हल चलता है, वह उसके लिए विप्लव, क्रान्ति, परिवर्तन सब कुछ होता है। लेकिन वह अन्ततः निर्माण की प्रक्रिया का ही अंग है। उसकी उधेड़ी हुई मिट्टी की ताज़ो गंध में भी अन्न के भावी अंकुरों की सम्भावना छिपी होती है। यह सब हल जोतने वाले को दीखता है। उसका लक्ष्य स्पष्ट होता है और यह लक्ष्य उसे अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों और अभावों से ऊपर उठकर भूमि को उर्वर बनाने में अपनी समस्त शक्ति लगा देने की प्रेरणा देता है।

तो क्या आजादी और नये भारत के निर्माण से साहित्य के मूल्यों का सम्बन्ध इतना सीधा है? क्या साहित्य के मूल्य बदल जाने चाहिएँ? हमारा दावा यह नहीं है। एक शताब्दी के विकास को दृष्टि में रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जब से आजादी की भावना पैदा हुई है, तब से हमारे साहित्य के मूल्यों में भी परिवर्तन आया है और कुछ मूल्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए हम जान-अनजान में संघर्ष करते आये हैं। रीतिकालीन कविता से भारतेन्दुकालीन साहित्य की तुलना करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। एक नये परिवर्तन और विकास के चिह्न हमें दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्यकार एक व्यापक प्रवृत्ति को त्यागकर, एक दूसरी और उतनी ही व्यापक प्रवृत्ति को अपनाते हुए नजर आते हैं। दोनों युग के साहित्यकारों के विश्व-बोध में काफी बड़ा फर्क है। इस नई प्रवृत्ति और विश्व-बोध में जिन मूल्यों को अधिक मान्यता दी गई, उनका आजादी और प्रगति की भावना से सीधा सम्बन्ध भी दिखाई देता है। इसके बाद इतिवृत्तात्मक, छायावादी या प्रगतिवादी आदि जो भी काव्य-प्रवृत्तियाँ सामने आईं और कथा साहित्य में आदर्शवाद, यथार्थवाद या प्रकृतिवाद की जो भी प्रवृत्तियाँ मुखर हुईं, उन सबमें इन मूल्यों को ही युग की बढ़ती चेतना के साथ, सूक्ष्म अथवा स्थूल अभिव्यक्ति देने की चेष्टा दिखाई देती है। आजादी पाने से पहले के काव्य और साहित्य में अभिव्यक्ति की प्रणाली चाहे वैयक्तिक रही हो या निर्वैयक्तिक, इतना तो स्पष्ट है कि उसका सम्बन्ध सामाजिक कुरीतियों, क्रूर प्रतिबन्धों, आर्थिक राजनीतिक गुलामी, अन्याय, शोषण और असमानता से मुक्ति पाने की आकांक्षा से अवश्य रहा। यह कहना गलत है कि पुराने साहित्यकार इन भावनाओं, प्रवृत्तियों और विचारों के प्रति सचेत नहीं थे या स्वयं अपनी अभिव्यक्तियों के अर्थ-संकेतों को पूरी तरह नहीं समझते थे और अनजाने में ही उन्होंने इन मूल्यों को

व्यक्त किया। हाँ, इतना अवश्य सम्भव है कि उन्होंने सदा जान-बूझकर या पूर्व-निश्चय द्वारा इन मूल्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए साहित्य की रचना न की हो और किसी व्यक्तिगत अनुभव को मूर्त अभिव्यक्ति देते समय ये मूल्य अनिवार्यतः प्रतिबिम्बित हो गये हों। यह सब सम्भव है, क्योंकि लेखक का विश्व-बोध भी देश-काल सीमित ही होता है और जो भावनाएँ और विचार युग-मानस को आलोड़ित करते हैं उससे कोई भी रचनाकार अप्रभावित नहीं रहता। साथ ही यह भी सत्य है कि हर देश और काल में नये-पुराने का संघर्ष निरन्तर जारी रहता है और जन-मानस में नये या पुराने विचार का समर्थन करने वाले परस्पर-विरोधी विचार प्रचलित रहते हैं। इस विचार-संघर्ष के पूरे ऐतिहासिक मर्म को बुद्धि-तल पर न समझने वाले लेखकों ने भी यदि नये और प्रगतिशील विचारों को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया तो इसका अर्थ है कि उनका हृदय पुराने के आकर्षण के बावजूद युग-जीवन की प्रगतिशील आकांक्षाओं के प्रति सहज संवेदनशील था और वे अपनी रचनाओं में उन मूल्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे जो जीवन-वास्तव की माँग बन चुके थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले के आधुनिक भारतीय साहित्य में कुछ ऐसा ही हुआ। इसलिए एक शताब्दी से हमारे श्रेष्ठ रचनाकार भारतीय जनता की प्रगतिशील आकांक्षाओं को मूर्त्त अभिव्यक्ति देकर जिन मूल्यों की प्राप्ति के लिए जान-अनजान में संघर्ष करते आये हैं, आज उन्हें स्वीकार भर कर लेना जरूरी है। दिमाग को खरोंचकर या कल्पना से मूल्यों की सृष्टि नहीं होती। ये मूल्य एक दीर्घकालीन संघर्ष, आजादी की प्राप्ति और नये भारत के निर्माण की समस्या से पैदा हुए हैं, उन्हें स्वीकार करने का अर्थ है कि हम अपने दायित्वों के प्रति सचेत हैं और किसी भी आकर्षक सामयिक फैशन या विदेशों से आई मानवद्रोही प्रवृत्ति के पीछे पागल होकर अपना दिशा-ज्ञान खोने के लिए तैयार नहीं हैं, जैसा कि कुछ लोग कर रहे हैं। अन्ततः यह साहित्यकार के अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा का भी प्रश्न है, जो गलत प्रवृत्तियों के प्रभाव में पड़कर अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करके स्वयं अपना गला घोंट डालता है। ह्रासोन्मुखी पूंजीवाद की विकृतियों से आक्रान्त पाश्चात्य देशों में मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है और वहाँ के साहित्यकारों और कलाकारों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता और रचनाकार की ईमानदारी के नाम पर नैतिक दृष्टि से मानवद्रोही, राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी तथा न्यस्त स्वार्थों की पोषक प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं। साहित्य में मूल्यों का विघटन समाज-जीवन के रोग-ग्रस्त तथा ह्रासोन्मुखी होने की ही निशानी है। स्वतन्त्रता के बाद हमारे बहुत से तरुण लेखकों और कलाकारों को पथभ्रष्ट करने में पाश्चात्य साहित्य की इन प्रवृत्तियों का बड़ा हाथ रहा है, यद्यपि हमारे यहाँ का समाज-जीवन ह्रासोन्मुखी नहीं है, विकासशील है और जो वैषम्य और रुग्णता उसमें है, वह गुलामी की देन है, जिसे मिटाने के लिए हम कृत-संकल्प हैं। समग्र रूप से इस वैषम्य और रुग्णता में वृद्धि नहीं हो रही, बल्कि धीरे-धीरे कमी हो रही है, क्योंकि हम नये भारत के निर्माण की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थिति को ही चिरन्तन सत्य मान

लेने से इस बात का भ्रम तो पैदा होता ही है कि भारतीय समाज खोखला है और असाध्य रोगों से पीड़ित है और इसे सम्पन्न और स्वस्थ बनाने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे स्वार्थ प्रेरित राजनीतिज्ञों द्वारा रचे गये ढकोसलों से अधिक कुछ नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित विचारधाराएँ इन भ्रमों को पक्का करने में मदद करती हैं और वे रूस-चीन के विकासोन्मुखी समाजों के प्रति आँखें मूँद लेते हैं, क्योंकि मानवद्रोह की घुट्टी बेचने वाले विचारकों और साहित्यकारों से उन्होंने अपने साहित्यिक शैशवकाल में ही रूस-चीन के बारे में बहुत-सी बे-सिर-पैर की बातें सुन रखी हैं। रूस और चीन में चाहे पुश्किन, तालसताय, गोर्की या लूसुन की प्रतिभा के लेखक अभी पैदा न हुए हों, लेकिन इतना तो निश्चित है कि वहाँ मूल्यों का विघटन नहीं हुआ है, जो स्वयं अपने में इस बात का प्रमाण है कि वहाँ का मानव-समाज पश्चिम के पूँजीवादी समाज की तरह ह्रासोन्मुखी या रोग-ग्रस्त नहीं है। विज्ञान और ऐटम बम के युग में भी यदि रूस-चीन के साहित्यों में मूल्यों का विघटन नहीं हुआ है, तो अक्ल पर ज्यादा जोर दिये बिना ही यह बात समझ में आ सकती है कि मूल्यों का विघटन, मानवद्रोही भावना और कुंठा-अनास्था की प्रवृत्तियाँ कोई ऐसी विश्व-व्यापी वास्तविकताएँ नहीं हैं कि हम उन्हें युग की अनिवार्यता मान कर अपनालें या चुपचाप स्वीकार कर लें। पूँजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास से त्रस्त विचारकों और साहित्यकारों द्वारा फैलाया हुआ यह भ्रम है, और चूँकि भारतीय-समाज पूँजीवाद के मार्ग से विकास करने के लिए कटिबद्ध है, इसलिए मानवद्रोही भावनाओं का हमारे देश में कोई औचित्य नहीं है। जो लोग इस पाश्चात्य पौधे को यहाँ उगाना चाहते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि उसके लिए यहाँ अधिक दिनों तक अनुकूल वातावरण नहीं मिलेगा। संक्रान्ति-काल की सामयिक अराजकता का लाभ उठाकर यह पौधा दो-चार कोंपलें चाहे फोड़ ले, लेकिन वृक्ष नहीं बन सकता। फिर भी, पिछली एक शताब्दी के संघर्ष-काल में कतिपय मूल्यों के रूप में हमारे साहित्य की जो उपलब्धियाँ हैं, उनको नये भारत के निर्माण की समस्या के सन्दर्भ में रखकर व्यापक जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार करने की आज जरूरत है।

भारतीय जनता ने आज़ादी के लिए संघर्ष किया—क्यों? क्योंकि 'आज़ादी' स्वयं एक मूल्य है, शायद सबसे बड़ा मूल्य। आज़ादी के बिना नये भारत के निर्माण की आकांक्षा एक स्वप्न ही बनी रहती। आज़ादी की बुनियाद पर ही 'नये भारत' की इमारत खड़ी हो सकती थी। 'जनवाद' दूसरा मूल्य है, जिसके लिए हमारी जनता ने संघर्ष किया, क्योंकि जनवाद में ही आज़ादी के बाद के भारत की आकांक्षाएँ ठोस मानवीय आधार पा सकती थीं। जनवाद या डिमोक्रेसी पूँजीवाद का पर्याय नहीं है, न दोनों में कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जनवाद समाजवाद का विरोधी भी नहीं, जैसा कि ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद के विचारकों ने प्रचारित कर रखा है। जनवाद सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्रों में व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों का समानता, न्याय और सहयोग के आधार पर नियमन करने वाली व्यवस्था भी है और विश्व-बंधुत्व की एक उच्चतर नैतिक भावना

भी। 'शान्ति' तीसरा मूल्य है जिसके प्रति हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सहज आकर्षण रहा है, क्योंकि शान्ति—विश्व शान्ति--ही आजादी और जनवाद की सुरक्षा की गारंटी है और शान्ति के वातावरण में ही किसान की कुदाली धरती से सोना उगलवा सकती है और मजदूर का हथौड़ा नये कारखानों, विद्युतशक्ति पैदा करने वाले बाँधों और राजपथों का निर्माण करके जरूरत की चीजें पैदा कर सकता है। ये तीन मूल्य हैं जो हमारी सभी प्रगति-चेष्टाओं के मूलमंत्र रहे हैं। ये मूल्य ही हमारी राष्ट्रनीति की आधार-शिला हैं—गांधी के सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त, समाजवादियों-साम्यवादियों के शोषण-मुक्त वर्गहीन समाज-व्यवस्था के सिद्धान्त तथा राष्ट्रों के सह-अस्तित्व के लिए पंचशील के सिद्धान्त इन मूल्यों की ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि भारतीय जीवन ही नहीं, विश्व-जीवन के विकास की सम्भावनाएँ भी इन मूल्यों की स्वीकृति पर निर्भर करती हैं।

भारतीय जनता ने अपने जीवन में इन मूल्यों को पाने के लिए संघर्ष किया है और हमारे सत्यान्वेषी साहित्यकारों ने व्यक्ति-पात्रों के माध्यम से मानव सम्बन्धों में एक उच्चतर सामंजस्य स्थापित करने की समस्या के रूप में इन मूल्यों को मूर्त्त अभिव्यक्ति दी है। इस परम्परा को स्वीकारने की जरूरत है, क्योंकि आज भी हमारे जीवन की वास्तविकता इस परम्परा के उत्तरोत्तर विकास का ही तकाजा कर रही है, न कि इसे त्यागने का। इसका अर्थ है कि साहित्यकारों की जीवन-दृष्टि व्यक्तिवादी या विज्ञान-विद्रोही नहीं हो सकती। व्यक्तिवाद और विज्ञान-निरोध के रूप में व्यक्त अबुद्धिवाद, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो हमें अनास्था, कुंठा और मानव-द्रोह की ओर ले जाते हैं। व्यक्तिवाद को व्यक्तित्व से नहीं मिलाना चाहिए। इस बात को ठीक से समझने की जरूरत है। व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व एक ही चीज नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अकुंठित रूप से विकास करे, यह सामाजिक प्रगति का लक्ष्य माना जा सकता है, क्योंकि जिस नये भारत का निर्माण हम करना चाहते हैं, उसमें व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण हों, इसमें किसी को विरोध नहीं हो सकता। लेकिन व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तित्व का विकास निश्चय ही सम्भव नहीं है, उससे व्यक्तित्व का हनन अवश्य होता है। समाज व्यक्तियों से ही मिलकर बनता है। हम जो कुछ भी हों, मजदूर, किसान, डाक्टर, वैज्ञानिक, शिक्षक, लेखक, कलाकार—सभी समाज के अंग हैं। हम सबके विभिन्न व्यवसायों और कार्यों की सार्थकता समाज के कारण ही है। अपने कार्यों से हम समाज को आगे ले जाते हैं, क्योंकि हमीं समाज हैं। यदि व्यक्ति व्यक्तित्वहीन होंगे, उनमें प्रौढ़ता, शिक्षा, योग्यता और भले-बुरे का निर्णय करने की क्षमता नहीं होगी तो उनका सामाजिक जीवन भी कमजोर और विशृंखल होगा। इसलिए समाज जिन व्यक्तियों से मिलकर बना है, उनको व्यक्तित्व का विकास करने की पूरी सुविधाएँ देकर ही वह उन्नति की आशा कर सकता है। व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति इसके विपरीत है। व्यतिवाद पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों की अराजकता को प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रवृत्ति है, जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच सामान्य सम्बन्ध-सूत्रों की चेतना कुंठित और मलिन हो जाती है। जिस

समाज की सत्ता मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर अवलम्बित हो, उसका विश्व-बोध सामान्य सम्बन्ध-सूत्रों को अधिक महत्त्व नहीं दे सकता। आपने बच्चों के मनोविज्ञान पर ध्यान दिया है? बच्चों में अभी व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, इसलिए वे घोर व्यक्तिवादी होते हैं—आत्मकेन्द्रित, स्वार्थ-सीमित, संकीर्ण और अवसरवादी भी! दूसरे के खिलौनों पर अपना दावा करना, मिठाई के लालच में अपरिचित की गोद में जाना और मिठाई पाते ही माँ की गोद में लौटने के लिए मचलना, चीजों को तोड़ने में आनन्द लेते समय यह न सोचना कि यह ऐनक है या मिट्टी का खिलौना! और माँ-बाप की आँखों में उँगली कोंचने से रोकने पर बिलख-बिलखकर रोना—उनकी ऐसी असंख्य हरकतें हमें प्रिय लगती हैं, क्योंकि वे अभी अबोध हैं। हम उनसे अभी अपने सामाजिक दायित्वों की चेतना की अपेक्षा नहीं रखते। जिन लेखकों के दिमाग इन बच्चों से ज्यादा विकसित नहीं होते—लेखक बनने से पहले दिमाग विकसित ही हो जाय, ऐसी कोई शर्त नहीं है कहीं—उन्हें यह संघर्षमय परिवर्तनशील दुनिया कुछ अजब-सी दीखती है। उन्हें लगता है कि यह सामाजिकता ही उनके व्यक्तित्व को चारों ओर से जकड़े हुए है। और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर वे सामाजिकता से ही द्रोह करने लगते हैं। समाज की कुरीतियों का विरोध, समाज से विरोध करना नहीं है—सभी महान लेखक सामाजिक कुरीतियों, अन्याय और शोषण को मान्यता प्रदान करने वाली विचारधाराओं पर आक्रमण करते आये हैं। समाज से विरोध तो उस समय व्यक्त होता है जब हर प्रकार के सामाजिक दायित्व को नकारने की चेष्टा की जाती है। जब अपने व्यक्तित्व को विशिष्ट और अभिजात सिद्ध करने के लिए अन्य मनुष्यों को हीन और निकृष्ट समझा जाता है। यह व्यक्तिवाद है, जो अधकचरे दिमाग के लोगों में पनपता है और एक कैशोर-औद्धत्य के रूप में प्रकट होता है। उसमें अच्छे-बुरे का भेद करने वाला विवेक नहीं होता। व्यक्तिवाद के मार्ग से व्यक्तित्व का विकास असम्भव है। इब्सन के 'पियर जायन्ट' को न भूलें। उसने आत्म-सिद्धि के लिए सबसे अलग, सामाजिक दायित्वों को ठोकर मारकर, बस 'स्वयं' बनकर रहने की चेष्टा की थी, लेकिन इस आत्म-केन्द्रित मार्ग से चलकर न वह 'स्वयं' बन सका, न व्यक्तित्व का विकास ही कर पाया। व्यक्तित्व का विकास आत्म-केन्द्रित, स्वार्थ-सीमित और मानवद्रोही दृष्टिकोण या कार्यों से नहीं होता, बल्कि दूसरों के प्रति सच्चे अर्थों में सहानुभूतिशील होने और दूसरों की निःस्वार्थ मंगल-साधना करने से होता है। सामाजिक दायित्वों को सहर्ष अपनाने से ही व्यक्तित्व विकास पाता है। जो अपने में ही रमा रहा, उसमें 'व्यक्तित्व' कैसा? इसलिए 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' को जिस निरपेक्ष अर्थ में व्यक्तिवादी पेश करते हैं, उस अर्थ में वह साहित्य का मूल्य नहीं बन सकता। यह एक सापेक्ष्य मूल्य है और जनवाद के अन्तर्गत ही इसका स्थान है, उससे बाहर या उसके ऊपर नहीं।

व्यष्टि और समष्टि के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या जनवाद की समस्या है, क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक जीवन का विकास

परस्पर सम्बद्ध हैं। आज यदि दोनों में सामंजस्य नहीं दीखता या यह कि व्यक्ति के जीवन में समाज का हस्तक्षेप बढ़ रहा है, जिससे व्यक्तित्व का विकास प्रायः कुंठित हो जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे साहित्यकार अपने साहित्य को ऐण्डरसन की कहानी 'बरफ़ की रानी' (स्नो क्वीन) के प्रेत द्वारा निर्मित दर्पण जैसा बना लें, जिसमें सुन्दर मनुष्य की आकृति और सुन्दर विचार भी हमेशा विकृत होकर कुत्सित और कुरूप ही दीखते थे और फिर 'व्यक्तिवाद' या 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर प्रचारित करें कि उनके चमत्कारी साहित्य में मनुष्य या उसकी भावना की शक्ल जैसी कुरूप दीखती है, वही उसका असली रूप है। व्यक्तिवादियों का साहित्य कुछ ऐसा दर्पण ही बनता जा रहा है, जिसमें मनुष्य और समाज की विकृति, कुत्सा, कुंठा, कुरूपता ही प्रतिबिम्बित होती है और जो सुन्दर है, भव्य है, पुनीत है, मंगलकारी है, वह भी वीभत्स, स्वार्थ-प्रेरित, अपवित्र और अमंगलकारी बन जाता है। लेखक के अपने या पाठकों के व्यक्तित्व के विकास में ऐसे साहित्य से कोई मदद नहीं मिलती। जनवाद के मूल्य को त्याग कर व्यक्तित्व के विकास की कल्पना एक थोथा आत्मविलास है। जनवाद के बिना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का स्वप्न शोषकवर्ग ही देख सकता है, जनसाधारण नहीं देख सकते। इसलिए व्यक्तित्व के विकास और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समस्या जनवाद के अंतर्गत मानव-सम्बन्धों के नियमन की समस्या है, लेखक के विशेषाधिकारों या आभिजात्य की समस्या नहीं है। व्यक्ति के जीवन में समाज का हस्तक्षेप किस सीमा तक हो और सामाजिक रूढ़ियों, नियमों या संस्थाओं से व्यक्ति किस सीमा तक स्वतन्त्र हो—विचार और कर्म के क्षेत्र में—जनवादी दृष्टिकोण से ही इस समस्या का समाधान पाया जा सकता है। व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता या समाज की निरपेक्ष सत्ता का कोई अर्थ नहीं है। ऐसी चीज़ कभी नहीं रही—कबीलों के संगठन में भी नहीं—भविष्य में तो और भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आज का व्यक्ति एक आत्मचेतन प्राणी है। फिर भी असामंजस्य और वैषम्य हमेशा रहा है, दोनों के अधिकारों और दायित्वों के बीच वर्ग-समाज के कारण, अभी तक सही संतुलन नहीं स्थापित हो पाया। इस कारण ही तो 'जनवाद' को अपनी जीवन-दृष्टि बनाने की आज अनिवार्यता है। व्यष्टि और समष्टि की समस्या के असंख्य रूप हैं, जीवन के हर क्षेत्र में इस समस्या का नया समाधान जरूरी है। उदाहरण के लिए आज नारी घर की चहारदीवारी को तोड़कर बाहर आ रही है, जिससे मानव-सम्बन्धों में एक महान क्रान्ति का सूत्रपात हुआ है। मजदूर किसान अपने अधिकारों के प्रति जागृत हो रहे हैं। जनवादी मूल्यों को जीवन दृष्टि के रूप में अपनाने वाला लेखक इस व्यापक जागृति और इसके फलस्वरूप मानव-सम्बन्धों में होनेवाले अभूतपूर्व परिवर्तनों को सहानुभूति पूर्वक समझ सकता है और उनमें मानव-प्रगति की झाँकी देख सकता है, किन्तु व्यक्तिवादी अपने आभिजात्य के चश्मे से इन सब युगान्तरकारी परिवर्तनों को मनुष्य की दमित वासनाओं और हिंस्र वृत्तियों के उच्छृंखल विस्फोट के रूप में ही देखने की क्षमता रखते हैं। वस्तुतः जनसाधारण की जागृति उन्हें अपने आभिजात्य पर आक्रमण-सा दीखता है। व्यक्ति-

स्वातंत्र्य की चीख-पुकार का यही रहस्य है।

नये भारत के निर्माण को दृष्टि में रखकर आजादी, जनवाद और शान्ति को जीवन के सर्वोच्च मूल्य स्वीकार करने वाले साहित्यकार उस अबुद्धिवाद को भी प्रश्रय नहीं दे सकते जो विज्ञान-विरोध के रूप में प्रकट होता है और जो वास्तव में व्यक्तिवाद का ही हमजोली है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही विज्ञान से द्रोह शुरू हो गया था, जब व्यक्तिवाद ने जोर पकड़ा। कुछ साहित्यकारों ने सोचा कि विज्ञान मनुष्य को भौतिक रूप से तो सम्पन्न बना रहा है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य विपन्न होता जा रहा है। भौतिक समृद्धि को राष्ट्रों और व्यक्तियों की बढ़ती हुई स्वार्थपरता का मूल कारण समझा गया। उन्हें भय हुआ कि विज्ञान बुद्धि का साम्राज्य बढ़ा रहा है और हृदय की सत्ता को संकुचित कर रहा है, जिससे साहित्य-कला के प्रेरणा-स्रोत ही नहीं सूखते जा रहे, बल्कि मनुष्य-मात्र में अनास्था, अनात्मीयता और असंवेदनशीलता बढ़ती जा रही है। इसलिए विज्ञानवाद के विरोध में अबुद्धिवाद ने सिर उठाया। नये भारत का निर्माण हम विज्ञान की ईजादों और सफलताओं की मदद से, वैज्ञानिक प्रणाली को अपना कर ही कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। अबुद्धिवाद और विज्ञान-विरोध के मार्ग से नये भारत का निर्माण नहीं हो सकता, इतना तो शायद अबुद्धिवादी भी समझते हैं। किन्तु फिर भी वे विज्ञान को दिन-रात कोसते रहने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

साहित्य और कला सर्जन की प्रेरणा को धक्का विज्ञान ने नहीं लगाया है, बल्कि उस वर्ग की व्यावसायिक वृत्ति ने, जिसने विज्ञान की भी सफलताओं का दुरुपयोग किया है—अणु-अस्त्रों का निर्माण करके! इसलिए विज्ञान को दोष देना व्यर्थ है। विज्ञान के इस युग में भी तो महान लेखक हुए हैं, यद्यपि यह सच है कि विज्ञान में योग्यतम पुरुष खप रहे हैं, क्योंकि विज्ञान को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कला-साहित्य के निर्माण और उसके व्यापक प्रसार के लिए उसे भी समान रूप से प्रोत्साहन देने की जरूरत है। क्योंकि अकेला विज्ञान कला और साहित्य के स्थान की पूर्ति नहीं कर सकता। मनुष्य की चेतना को बढ़ाने वाले यह दोनों कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के लक्ष्य एक ही हैं, यद्यपि साधन और माध्यम भिन्न हैं। दोनों सत्य का अनुसंधान करते हैं, और दोनों मनुष्य के जीवन और जगत सम्बन्धी अनुभव और ज्ञान में अपने-अपने ढंग से वृद्धि करके मनुष्य की क्षमताओं का विकास करते हैं और उसके भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाते हैं। अबुद्धिवादी आरोप लगाते हैं कि विज्ञान ने मनुष्य से उसकी आस्था छीन ली है, दुख-दर्द के क्षणों में सान्त्वना और धैर्य देने वाला सम्बल मनुष्य के पास नहीं रहा। लेकिन आस्था के लिए अंधविश्वास का आधेय ही क्यों जरूरी है? विज्ञान ने अंधविश्वासों का उन्मूलन किया है तो सत्य की उपलब्धि के मार्ग से मानव-प्रगति की अपरिसीमित सम्भावना का दरस भी तो दिखाया है। मानव-प्रगति में विश्वास ही विज्ञान-युग की आस्था का आधार है—प्रगति, भौतिक ही नहीं, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक सभी प्रकार की। यदि हम मानव समाज का निर्माण बुद्धि-संगत

आधार पर कर सकें, यदि शोषण और अन्याय को मिटा कर प्रत्येक व्यक्ति को विकास की समान सुविधाएँ दे सकें, यदि स्थायी शान्ति की स्थापना करके विश्व-मानव को सर्व-नाश के त्रास से मुक्ति दिला सकें तो विज्ञान, कला और साहित्य मिलकर मानव-जीवन को समृद्ध और सुखमय बना सकते हैं, इसकी कल्पना आपने की है ?

बीसवीं शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है, लेकिन इक्कीसवीं शताव्दी साहित्य और कला की शताब्दी होगी। इसे आप एक भविष्यवाणी भी समझ सकते हैं! नये भारत के निर्माण का संघर्ष हमारे सामने है, इसलिए इस शताब्दी के महत्त्व को समझिए! जब तक हम गुलाम थे, तब तक इसके पूरे महत्त्व को समझना हमारे लिए सम्भव न था, क्योंकि विज्ञान की सहायता से अन्य उन्नत देशों ने मनुष्य का जीवन-स्तर कितना ऊँचा उठा दिया है, अनेक घातक बीमारियों-महामारियों पर विजय प्राप्त करके उसकी औसत आयु में कितनी वृद्धि कर दी है, इन सब बातों का वास्तविक अर्थ हम नहीं समझ सकते थे, क्योंकि यह सब हमारे जीवन की व्यावहारिक सम्भावनाओं से बाहर की बातें थीं। लग-भग आधी शताब्दी इस तरह ही गुज़र गई। किन्तु आज़ादी के बाद से सम्भावनाओं के क्षितिज खुलने लगे हैं। रूस, अमरीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, जापान आदि देशों में जो समस्या पच्चीस वर्ष बाद उठेगी, इस शताब्दी के अन्त तक वह समस्या हमारे यहाँ भी उठेगी—अर्थात् विज्ञान के इस युग में अब हम अन्य उन्नत राष्ट्रों से पीछे नहीं रह सकते। तीन-चार पंचवर्षीय योजनाओं के बाद हमारे देश में भी वह विकास बिन्दु आयेगा, जिसके बाद निर्माण और उत्पादन का कार्य इस वेग से चल पड़ेगा कि जो उन्नति शताब्दियों में नहीं हुई थी, वह दो-चार वर्षों में ही हो सकेगी। हम इस शताब्दी के अन्त तक—भौतिक साधनों और सुविधाओं की दृष्टि से—वहाँ होंगे जहाँ हम अपने पाँच हजार वर्ष के इतिहास काल में कभी नहीं पहुँचे, क्योंकि हम आज पिछड़े होकर भी विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के वारिस हैं। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक नये भारत का निर्माण इस सीमा तक हो चुकेगा कि जहाँ आज रेगिस्तान है वहाँ हरी-भरी खेती लहराती होगी, और हम गोबर के स्थान पर ऐटम, हवा, सूरज और समुद्र के ज्वार की शक्ति का इस्ते-माल करते होंगे। तब तक हमारे देश में भी प्लेग, हैजा, मलेरिया, चेचक, तपेदिक, कैंसर और पोलियो जैसी महामारियाँ एक बीते युग की स्मृतियाँ बन जायेंगी। हर मनुष्य स्वस्थ, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होगा। हर मनुष्य को अपनी क्षमताओं के विकास के अवसर और साधन उपलब्ध होंगे। समाज-व्यवस्था में वह वर्ग वैषम्य न होगा, जिसमें शोषण और अन्याय पनपता है। यह सब कोरी कल्पनायें नहीं हैं, बल्कि विज्ञान द्वारा पैदा की हुई ऐसी सम्भावनाएँ हैं, जो व्यावहारिक और यथार्थ हैं। नये भारत का निर्माण विज्ञान की मदद से ही सम्भव है और हम सब भारतवासियों को इस शताब्दी के अन्त तक कठोर श्रम, त्याग और साधना करनी पड़ेगी। तब तक भारतीय मानस में श्रम और साधना का आत्यन्तिक महत्त्व रहेगा, और विज्ञान छत्तीस करोड़ जनता के अतुल परिश्रम का रचनात्मक कार्यों के लिए संगठन, नियमन, संचालन करेगा। वैज्ञानिक सफलताएँ

और वैज्ञानिक प्रणाली ही युग-भावना की प्रेरणा बनेगी। साहित्य को यह युग-भावना प्रत्येक व्यक्ति की चेतना और अनुभव का अंग बनानी पड़ेगी। यदि ऐसा न करके साहित्य ने विज्ञान-विरोधी अबुद्धिवाद का मार्ग पकड़ा तो वह पिछड़ जायगा, वह युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकेगा। इतना ही नहीं, इस शताब्दी के अन्त तक जो समस्या हमारे देश में पैदा होगी और जिसका समाधान करके ही इक्कीसवीं शताब्दी कला और साहित्य की शताब्दी बन सकेगी, उसका समाधात साहित्य-कला के बस में नहीं रहेगा और अगली शताब्दी में भी साहित्य ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों से ही ग्रस्त बना रहेगा। मुझे ऐसी सम्भावना नहीं दीखती, क्योंकि वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकारों के मन में विश्व में छाये हुए युद्ध के त्रास के कारण विज्ञान-विरोधी अबुद्धिवाद के प्रति चाहे आकर्षण हो, लेकिन नये भारत के निर्माण की प्रगति अगली पीढ़ी के साहित्यकारों को इस भ्रमजाल से मुक्त करने में समर्थ होगी, इसमें सन्देह नहीं है। वे अपने वर्तमान और भविष्य को अधिक आश्वस्त नेत्रों से देख सकेंगे। फिर भी वर्तमान पीढ़ी के काफी साहित्यकारों की प्रतिभा गलत रास्तों पर भटकती रहे, यह कोई अच्छी बात नहीं है। विज्ञान नये भारत के निर्माण और मनुष्य की भौतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में योग दे और साहित्य चाहे अभी कुछ काल के लिए ही सही—इस निर्माण और प्रगति के बारे में मनुष्य के अन्दर सन्देह पैदा करे, भविष्य के बारे में आशंकाएँ उत्पन्न करे और मनुष्य के मानवीय गुणों और क्षमताओं के प्रति अविश्वास जगाये तो यह अनदेखा करनेवाली स्थिति नहीं है।

विज्ञान मनुष्य का दुश्मन नहीं है और न वह मनुष्य को अधोगति की ओर ले जा रहा है। विज्ञान और उसकी प्रणाली सत्य की खोज में लगी मनुष्य की उस बौद्धिक और आध्यात्मिक चेष्टा का ही एक विशिष्ट रूप है, जिसका दूसरा विशिष्ट रूप कला और साहित्य हैं। दोनों में यदि स्पर्धा का प्रश्न उठता है तो इस बात के लिए कि देखें मनुष्य के भौतिक, आध्यात्मिक जीवन को भरापूरा बनाने में कौन अधिक योग देता है। साहित्यकार वैज्ञानिकों से ऐसी होड़ करें तो मनुष्य मात्र के लिए शुभकर बात हो सकती है, लेकिन विज्ञान का विरोध मनुष्य को गुमराह ही कर सकता है। विज्ञान की ईजादों का दुरुपयोग करने वाले लोगों और अबुद्धिवाद का प्रचार करने वाले साहित्यकारों तथा विचारकों के बावजूद विज्ञान पथभ्रष्ट नहीं हुआ, क्योंकि विज्ञान में प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ नहीं पनप सकतीं। इसलिए कुछ साहित्यकार चाहे व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद के झंडे फहराते रहें, लेकिन विज्ञान नये भारत के निर्माण में सतत् लगा रहेगा और इस शताब्दी के अन्त तक कला-साहित्य के भावी युग का सूत्रपात करने के लिए मनुष्य को हर प्रकार की भौतिक आवश्यकताओं से सम्पन्न कर देगा। आगे चलकर जिस समस्या के उठने का मैं बार-बार संकेत करता आया हूँ, वह समस्या अवकाश के सदुपयोग की समस्या होगी, जैसे इस समय नये भारत के निर्माण की समस्या परिश्रम, त्याग और साधना की समस्या है। इस परिश्रम-काल के बाद मनुष्य के जीवन में अवकाश-

काल आयेगा, सम्भवतः इस शताब्दी के अन्त तक ही, जब किसी भी मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए तीन-चार घंटों से ज्यादा काम नहीं करना पड़ेगा। आजकल अभिजात वर्ग ही अवकाशभोगी है, इस वर्ग के सदस्यों को ही अधिकतर पढ़ने-लिखने की सुविधाएँ प्राप्त हैं, जिसके कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है कि कला अभिजात वर्ग के लोग ही कला और साहित्य के निर्माता, पोषक और पारखी हो सकते हैं। अभिजात वर्ग के अन्दर यह क्षमता उसके पास पर्याप्त अवकाश होने के कारण ही उत्पन्न हो सकी है। लेकिन पचास वर्ष के अन्दर सारा समाज ही आज के अभिजात वर्ग के समान अवकाशभोगी हो जायेगा। तब अभिजात वर्ग की कला या कलाकार के आभिजात्य का कोई अर्थ नहीं रहेगा, क्योंकि तब कला-साहित्य की सर्जना या उसके सूक्ष्म सौन्दर्य को परख सकने का एकाधिकार किसी वर्ग-विशेष के पास नहीं रहेगा। हर मनुष्य तब श्रेष्ठतर कला और सूक्ष्मतर ज्ञान की माँग करेगा। तब अवकाश के सदुपयोग की समस्या मानव-सम्बन्धों के बीच एक उच्चतर सामंजस्य की समस्या के रूप में भी प्रकट होगी, ताकि मनुष्य अपने फालतू समय को सहयोग की रीति से अपने आध्यात्मिक विकास के लिए सांस्कृतिक मनोरंजन द्वारा बिता सकें।

प्राचीन काल में कर्म-जीवन के कोलाहल से दूर उपवनों में ऋषि आश्रम होते थे, जहाँ उस जमाने में मनीषी जीवन और जगत के रहस्यों की गाँठ खोलने के लिए अध्ययन-चिन्तन-परीक्षण करते थे। लेकिन अब समय आने वाला है, जब हर ग्राम और नगर एक विशाल सांस्कृतिक उपवन होगा, जिसमें अपरिग्रह और कठोर तप-साधना के मार्ग से नहीं बल्कि विज्ञान और कला-साहित्य की उपलब्धियों से प्रत्येक मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को परिपूर्ण बनाने की कोशिश करेगा। व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का विज्ञान-विरोध न हमें आज निर्माण की प्रेरणा दे सकता है, न कल हमें अपने अवकाश का रचनात्मक उपयोग करने की क्षमता दे सकेगा। इसलिए नये भारत के निर्माण के लिए आजादी, जनवाद और शान्ति को सबसे मूल्यवान मानने वाली जीवन-दृष्टि में व्यक्तिवाद और अबुद्धिवाद का कोई स्थान नहीं हो सकता।

आजादी, जनवाद और शान्ति को सबसे बड़े मूल्य मानने का यह मतलब कतई नहीं है कि लेखक कांग्रेस या कम्युनिस्ट पार्टी के प्रस्तावों को सामने रखकर साहित्य के नाम पर प्रचार-पोस्टर लिखें या पंचवर्षीय-योजना की प्रशस्तियाँ गाने वाला साहित्य तैयार करें। इसका यह मतलब भी नहीं है कि साहित्यकार रूपगत प्रयोग बन्द कर दें या यह कि रूपगत प्रयोग साहित्य के विकास के लिए अनावश्यक समझे जायें। इसका यह मतलब भी नहीं कि किन्हीं खास विषयों पर ही साहित्य रचा जाये। इन मूल्यों की स्वीकृति महान साहित्य की रचना का कोई चमत्कारी नुस्खा भी नहीं है। ऐसा कोई संकीर्ण अर्थ निकालना अनर्थकारी होगा। मैंने जो प्रश्न उठाया है, उसका सम्बन्ध लेखक के विश्व-बोध तथा उसकी जीवन-दृष्टि से है, इन ऊपरी बातों से नहीं।

हम लेखक विप्लवकारी घटनाओं और विश्व-व्यापी संघर्ष और परिवर्तन के

द्रष्टा हैं। ह्रास और प्रगति की प्रक्रियाएँ तेजी से चालू हैं। जीवन के हर क्षेत्र में मानव-सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे में आजादी, जनवाद और शान्ति यदि हमारी जीवन-दृष्टि में सबसे मूल्यवान वस्तुएँ नहीं रहीं तो हमारी सहानुभूतियाँ व्यक्तिवाद या अबुद्धिवाद के गलत मार्गों पर भटक जायेंगी और हम गलत बातों के प्रति संवेदनशील और सही बातों के प्रति असंवेदनशील हो उठेंगे—जैसा कि हमारे कतिपय प्रयोगवादी कवियों के साथ हुआ है—और हम जीवन के सत्य को वाणी देने में असमर्थ रहेंगे। जीवन में दुख-दर्द भी है और खुशी भी और दोनों को समग्र रूप में चित्रित करना साहित्यकार का दायित्व है। लेकिन ऐसा न हो कि हम जीवन का जो असत्य है उसे सत्य और चिरन्तन मान लें और सत्य को क्षणिक और सामयिक आजादी, जनवाद और शान्ति जीवन को उसकी असीम सम्भावनाओं की दृष्टि से देखने के मूल्य हैं। सत्य का आग्रह है कि हम इस युग के ऐतिहासिक परिवर्तनों को समझें और युग की भावना को नई प्रेरणा और नई दृष्टि दें। तभी हम नये भारत के निर्माण में अपने साहित्य द्वारा रचनात्मक योग दे सकेंगे।

—नवम्बर १९५५

२

साहित्य के इतिहास की समस्या

हर नई परिस्थिति में, जब पुराने समाज-सम्बन्ध और विचार समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने लगते हैं और भावी विकास की सम्भावनाएँ समाज के गर्भ में परिपक्व होकर नये जीवन-लक्ष्यों की चेतना जगाने और नये मानव-उद्योग और संघर्ष का आवाहन करने लगती हैं, उस समय मनुष्य परिस्थितियों के अन्तर्विरोध से उत्पन्न समस्याओं को समग्र रूप में समझने-सुलझाने और नई प्रेरणा और अन्तर्दृष्टि पाने के लिए मानव-इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है। यह अध्ययन कभी निरुद्देश्य नहीं होता। जो प्रगति के आकांक्षी हैं वे इस अध्ययन द्वारा सत्य का अन्वेषण करते हैं, अर्थात् इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए वे उसके विकास-नियमों और विकास-धाराओं का उद्घाटन करके एक सजीव, गत्यात्मक समाज-सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं। और जो प्रगति-विरोधी हैं वे इतिहास को असम्बद्ध, कारणहीन, स्वयं-भू घटनाओं का पुँज सिद्ध करके उसकी भावी प्रगति की दिशा पर परदा डालते हैं। इस प्रकार वर्ग-समाज के अन्तर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रति भी परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का जन्म हुआ है।

यह स्थिति साधारण इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं है बल्कि मनुष्य-रचित हर भौतिक अथवा विचारगत क्रिया-कलाप के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन-क्षेत्रों में भी है। अर्थात् नृशास्त्र, शिल्प-विज्ञान, समाज-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पुरातत्त्व, राजनीति, दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में इतिहास के अध्ययन के वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक, दोनों दृष्टिकोण प्रचलित हैं। अवैज्ञानिक दृष्टिकोण तो अनेक हैं। कुछ प्राचीन काल से ही चले आते हैं, कुछ नई-नई परिस्थितियों में प्रभु-वर्ग की स्थिति के अनुकूल विकास पाते रहे हैं।

वर्ग-समाज से पहले आदिम युग में भी मनुष्य ने इतिहास को समझने की चेष्टा की थी। उस समय की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) इस बात का प्रमाण हैं कि देवमाला और प्रलय के बाद पंचभूतों से जगत् की उत्पत्ति की कल्पना करके आदिम मनुष्य ने एक ऐसे ऐहिक सिद्धान्त की उद्भावना की थी जिसके द्वारा उसने प्रकृति को स्वयं अपनी सफलताओं की छवियों (इमेज) में अंकित करके देखा था और सामाजिक उत्पादन की अपनी प्रयोगशील चेष्टाओं में प्रकृति को भी मानवीय धातु से गढ़ डाला था। आदिम मानव की पुराण-कथाएँ (मिथ्स) चाहे कोरी कल्पनाएँ ही क्यों न हों, किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य निहित है। जीवन और जगत का जो प्रतिबिम्ब संघर्षशील आदिम मनुष्य के मानस पर

पड़ा, उसकी चेतना से उसने विश्व का एक सुसम्बद्ध, वैज्ञानिक विवरण देने का प्रथम प्रयास किया था। सभी देशों की पुराण-कथाओं मे भगवान् को ही सृष्टि का कर्ता माना गया है। लेकिन आदिम मनुष्य ने इस सृष्टि को तो है ही, स्वयं भगवान् को भी मनुष्य की छवि (इमेज) में ही ढाला है। इस प्रकार इस परिकल्पना में भगवान् तो केवल कार्य-कारण-शृंखला की प्रथम कड़ी था। किन्तु बाद में, वर्ग-समाज के पैदा होने पर, इतिहास एक भिन्न चीज बन गया। इतिहासकारों ने आदिम मानव की परिकल्पना को उलट दिया। दावा किया गया कि मनुष्य ने अपनी छवि में भगवान् को नहीं, बल्कि भगवान् ने अपनी छवि में मनुष्य को बनाया है, और इतिहास मनुष्य द्वारा भगवान् के ही आदेशों उद्देश्यों के पालन और पूर्ति का वृत्त है। अर्थात् इतिहासकार ने इतिहास की वस्तु और सामग्री में से किसी पैटर्न, व्यवस्था, नियम की खोज बन्द करके केवल अदृष्ट द्वारा आरोपित नियमों और व्यवस्थाओं को ही स्वीकार कर लिया। यह जगत् भगवान् की लीला-भूमि समझा गया और प्रत्येक महाप्रलय के बाद सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की पुनरावृत्ति होते जाना, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति के लिए कर्मानुसार चौरासी लाख योनियों में भटकना या मोक्ष प्राप्त कर लेना ही इस जीवन और जगत् का रहस्य और उद्देश्य माना गया।

किन्तु इसके भी बाद जब मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देता हुआ पूँजीवादी वर्ग उठा तो उस प्रारम्भिक उत्थान के चेतना-विकासी जागरण-युग में मनुष्य और व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की जाने लगी। फलतः इतिहास का केन्द्र स्वर्ग से उतार-कर पृथ्वी पर ले आया गया और नरेशों के अन्तःपुरों और दरबारों से हटाकर सामान्य जीवन में और समरभूमि के रक्त-सिंचित मैदान से अलग करके मनुष्य की सभ्यता के विकास-पथ के बीच स्थापित किया गया। और यह समझने के लिए कि मनुष्य आदिम युग की वहशी और बर्बर अवस्थाओं से निकलकर 'सभ्यता' के युग में कैसे आया, उस युग के सद्यःविकसित समाज-शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर इतिहास के नियामक कारणों की खोज आरम्भ हुई। किसी ने सिद्ध किया कि महान् व्यक्तियों की प्रतिभा ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, महान् व्यक्ति ही इतिहास के निर्माता हैं, अतः उनकी जीवनियों का अध्ययन ही इतिहास का अध्ययन है। किसी ने दावा किया कि मनुष्य का संचित ज्ञान ही ऐतिहासिक विकास का मूल कारण है। किसी ने वैज्ञानिकों के अन्वेषणों और शिल्पियों के शिल्पज्ञान को ही मूल कारण बताया। किसी ने भौगोलिक स्थिति, जलवायु तथा भूमि की विशेषताओं को ही इतिहास का नियामक माना। और किसी ने नये पूँजी-वादी साम्राज्यों का एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में विस्तार होते देखकर जातिगत (रेशियल) विशेषताओं और रक्त की शुद्धता को ही तमाम ऐतिहासिक विकास और मानव-जीवन की समृद्धियों का उपभोग करने का अधिकारी होने का मूल कारण ठहराया। कहने का तात्पर्य यह है कि नई पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न यान्त्रिक भौतिक-वादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इतिहास के अनेक एकांगी सिद्धान्त समय-समय पर यूरो-

पीय रिनेसाँ (सांस्कृतिक नवजागरण) के बाद सामने आए, जिन्होंने ऐतिहासिक वास्तविकता को केवल ऊपरी सतहों पर ही जाँचा-परखा। ये सिद्धान्त इतिहास की गति को समग्र रूप से देखने-समझने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि न दे पाये। अवसरानुकूल इन दृष्टिकोणों का आश्रय लेकर जहाँ विकासशील पूँजीवाद ने मानव-प्रगति में योग दिया, वहाँ अपने ह्रासकाल में उसने सारी मानव-जाति को महायुद्धों की आग में झोंकने का औचित्य भी मनवाना चाहा। आज पूँजीवादी समाज की आन्तरिक असंगतियाँ इतनी तीव्र हो गई हैं कि उसकी व्यवस्थित अव्यवस्था व्यापक अराजकता में परिणत हो चुकी है। ऐसे में इतिहास का अध्ययन सामाजिक जीवन के सत्य को जानने और उसके विकास-नियमों का उद्घाटन करने के लिए करना प्रभुवर्ग के लिए निरापद नहीं रहा। इसीलिए सब सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों को पूर्वग्रह घोषित करके यह सिद्ध करने की कोशिश हो रही है कि इतिहास में किसी पैटर्न या विकास-धारा की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि इतिहास असम्बद्ध घटनाओं और अदृष्ट कारणों का ही पुञ्ज है। या फिर वैज्ञानिकता का और सूक्ष्म उपक्रम करके यह सिद्ध किया जा रहा है कि इतिहास अनेक कारणों और तथ्यों से मिलकर बनता है। उनमें से किसी को कम या अधिक महत्त्व का कहना असम्भव है, इसलिए इतिहासकार का कार्य केवल इतना है कि वह इन तथ्यों के कार्य-कारण-सम्बन्धों का निर्धारण किये बिना ही, निरपेक्ष भाव से केवल एक के बाद दूसरे तथ्य को ज्यों-का-त्यों दर्ज करता जाय।

परन्तु मनुष्य का इतिहास कोई असम्बद्ध घटना-पुञ्ज नहीं, एक रचनात्मक प्रक्रिया (प्रोसेस) है, और इतिहास की दृष्टि में केवल उन घटनाओं, तथ्यों और कार्यों का ही महत्त्व है जो सामाजिक जीवन के लिए अर्थवान् हैं, जो सामाजिक जीवन को और इस प्रकार व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करते हैं। मनुष्य यदि वास्तविकता—जीवन और प्रकृति—के सत्य का बोध प्राप्त कर सकता है, जैसा कि विज्ञान द्वारा उसने किया है और करता जा रहा है, तो वह इतिहास द्वारा सामाजिक जीवन के सत्य का बोध भी प्राप्त कर सकता है। और मनुष्य ने ठोस ऐतिहासिक तथ्यों और विकास-धारा का अध्ययन करके इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास भी कर लिया है जो धार्मिक और यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोणों से भिन्न है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास में परिवर्तन की गति न आवृत्तिमूलक है, न भगवान् या महान् व्यक्तियों की इच्छा से संचालित है और न भौगोलिक परिस्थितियों या जातीय (रेशियल) विशेषताओं से नियमित है। वास्तव में जीवन की परिस्थितियाँ ही इतिहास की ऊर्ध्वोन्मुखी गतिविधियों का नियमन करती हैं। इनमें भौगोलिक परिस्थितियों का महत्त्व आनुषंगिक ही है, क्योंकि वे समाज के विकास में केवल सहायक या बाधक हो सकती हैं, उसका मूल कारण नहीं बन सकतीं। जीवन की परिस्थितियों में भौतिक मूल्यों को पैदा करने वाली, मनुष्य की 'उत्पादन-प्रणाली' ही ऐतिहासिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कारण है। 'उत्पादन-प्रणाली' के अन्तर्गत 'उत्पादन की शक्तियाँ' भी आती हैं और 'उत्पा-

दन-सम्बन्ध' भी, अर्थात् इसमें उत्पादन-यन्त्र और अपने अनुभव और श्रम-कौशल से इन उत्पादन-यन्त्रों को बनाने और प्रयोग में लाने वाले मनुष्य भी शामिल हैं और उत्पादन-सम्बन्ध भी, अर्थात् मनुष्य का यह सामाजिक जीवन, जिसके पारस्परिक सहयोग या वर्ग-शोषण पर आधारित समाज-सम्बन्धों में एक-दूसरे से बँधकर मनुष्य भौतिक मूल्यों के उत्पादन-कार्य में अनिवार्यत: संगठित होते हैं।

इस सतत् परिवर्तनशील उत्पादन-क्रिया और समाज-सम्बन्धों में पड़कर ही मनुष्य वास्तविकता के सत्य का बोध करने वाली ऐन्द्रिक चेतना का विकास करता है और राजनीतिक संगठनों, विचार-धाराओं, सिद्धान्तों, कलाओं, साहित्यों और संस्कृतियों को जन्म देता है। जीवन की परिस्थितियाँ ही विचारों को जन्म देती हैं, लेकिन इससे विचारों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। 'विचार' चाहे इतिहास की गतिविधि के निर्णयकारी तत्त्व न हों, किन्तु अपनी प्रचण्ड शक्ति से उसकी प्रगति में साधक या बाधक बन सकते हैं और बनते हैं। इस प्रकार समाज का इतिहास उत्पादन-प्रणाली के विकास का इतिहास है, श्रम में लगे मनुष्य या जन-समूह का इतिहास है, क्योंकि वही भौतिक मूल्यों का निर्माण करता है, और अन्त में, जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में अविराम होते आने वाले परिस्थिति-जन्य वर्ग-संघर्ष का इतिहास है जिसके माध्यम से ही अब तक इतिहास का ऊर्ध्वोन्मुखी विकास सम्भव हुआ है और उत्पादन की शक्तियों ने इतनी उन्नति कर ली है कि एक ओर यदि वर्ग-समाज के उत्पादन-सम्बन्ध और उसके पोषक विचार अब इतिहास की प्रगति के मार्ग में बाधक बन गए हैं, तो दूसरी ओर एक ऐसे वर्गहीन, शोषण-हीन समाज की स्थापना हक़ीक़त बन गई है जो मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण कर सके। मनुष्य का इतिहास अब तक मानव-मुक्ति के इस लक्ष्य की ओर ही ऊर्ध्वोन्मुखी विकास करता आया है, और कर रहा है।

साहित्य के इतिहास की समस्या के प्रसंग में इस भूमिका की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि सामान्य इतिहास-सम्बन्धी धारणाएँ और दृष्टिकोण साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों के विशिष्ट इतिहासों के अध्ययन को भी प्रभावित करते हैं। और यदि प्रचलित दृष्टिकोण एकांगी हो तो उस दृष्टि से लिखा गया साहित्य का इतिहास भी एकांगी होगा—वह न साहित्यिक आन्दोलनों और प्रवृत्तियों का ही सही विवेचन कर पायगा और न प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का वैज्ञानिक मूल्यांकन ही कर सकेगा। किन्तु साहित्य के इतिहास के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं कि ऐतिहासिक तथ्यों को किसी पूर्व-निर्धारित योजना या विचार-सूत्रों की परिधि के भीतर ठूँस-ठाँसकर भर दिया जाय। या समाज और साहित्य का सीधा सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए यह सिद्ध किया जाय कि समाज का सामान्य आर्थिक-राजनीतिक विकास जिस स्तर तक हो चुका होता है, साहित्य और कला का विकास भी उसी स्तर का होता है। या साहित्य के वर्ग-आधार को उद्घाटित करने के लिए प्राचीन

काल के या आधुनिक काल के श्रेष्ठ लेखकों को शोषक वर्गों की विचारधारा का ही प्रतिबिम्बन करने वाला सिद्ध किया जाय, या अवसर के अनुकूल उनकी साधारण जन की आर्थिक समस्याओं या विषमताओं से सम्बन्ध रखने वाली इक्की-दुक्की उक्तियों के उद्धरण देकर उन्हें प्रगतिशील और क्रान्तिकारी ठहराया जाय। इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता आज इसलिए पैदा हो गई है कि हिन्दी में अधिकतर एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ही प्रचलित हैं। शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गए, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा में एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाए जाते रहे हैं, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचारधारा से। हिन्दी के उदीयमान आलोचक श्री नामवरसिंह ने अपने निबंध 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' में हिन्दी-साहित्य के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थों की खूबियों और खामियों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और हिन्दी-साहित्य के इतिहास की समस्याओं का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से निदर्शन कराया है। हमें उनके तर्कों को दुहराने की ज़रूरत नहीं।

समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोणों के अपनाये जाने के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों ने ही अब तक इन दृष्टिकोणों को औचित्य प्रदान किया है। सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में 'भारतीय सांस्कृतिक नवनिर्माण' (रिनेसाँ) की अन्तःप्रेरणा बना है। हिन्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर भारतेन्दु के समय से ही वास्तविक रूप में शुरू हुई। तभी से नई राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप साहित्य के इतिहास की खोज और लेखन का कार्य शुरू हुआ। इतिहास की यह खोज कभी निरुद्देश्य नहीं रही। साधारण जनता को ही अपने देश की गौरवशाली तथा जीवन्त 'सांस्कृतिक विरासत' का वास्तविक उत्तराधिकारी होने की घोषणा चाहे पहले-पहल प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन ने ही की हो और इस विरासत की रक्षा करने का बीड़ा भी उठाया हो, लेकिन यदि देखा जाय तो भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी के देशभक्त लेखक अपनी-अपनी समझ-बूझ के अनुसार इस कार्य को, इतने स्पष्ट शब्दों में घोषित किये बिना ही, करते आ रहे थे। राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने तथा उसे जन-साधारण तक पहुँचाने की क्रिया अधिक व्यापक आधार खोजती गई। शिवसिंह 'सरोज' से लेकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तक हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने चाहे मध्ययुगीन (?) हिन्दी कवियों के वृत्त एकत्र किये हों, चाहे अतीत के रत्नों को खोजकर उन्हें पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों से अधिक महान् और गौरवशाली सिद्ध किया हो, चाहे साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण करके इतिहास को व्यवस्था और नियम देकर उन प्रवृत्तियों की कारणभूत सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन किया हो, चाहे 'लोक-मंगल' की कसौटी पर साहित्य

की प्रवृत्तियों और कवियों को परखा हो, या चाहे हिन्दी-साहित्य के विकास की भूमिका की खोज में वैदिक-काल से लेकर अपभ्रंश-काल तक की सम्पूर्ण भारतीय चिन्ता-धारा के विविध प्रभावों के ताने-बाने का उद्घाटन किया हो, अन्ततः इन सभी विचारकों का व्यक्त या अव्यक्त उद्देश्य सांस्कृतिक विरासत पर स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वाली जागरूक भारतीय जनता के उत्तराधिकार को प्रमाणित करना ही था। यह दूसरी बात है कि वर्ग-चेतना के अभाव में, इस विरासत में कौन-से तत्त्व प्राणवन्त और प्रगतिशील हैं और कौन-से अपनी उपयोगिता खोकर निर्जीव और प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं, उनको एक-दूसरे से विलगाने की वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि इन देशभक्त इतिहासकारों के पास नहीं रही। अतीत के भण्डार में जो-कुछ था वह सब उन्होंने सहेजकर जमा कर लेना चाहा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी इन तथ्यों से परिचित हैं कि स्वयं शुक्लजी ने भी चाहे प्राचीन लेखकों के काव्य-तत्त्व का विवेचन क्यों न किया हो, पर उनके काव्य की विचार-वस्तु को वास्तविकता की कसौटी पर नहीं परखा। इसीलिए प्राचीन लेखकों का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हुआ; केवल उनकी काव्य-शक्ति का विवेचन और अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार उनकी भक्ति-भावना की प्रभाववादी ढंग से प्रशंसा ही की गई। अधिक-से-अधिक इतना अवश्य स्वीकार किया गया कि मध्ययुग में सामन्ती वर्ग की नैतिकता और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध जन-चेतना धार्मिक आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ी थी, और भक्ति-काव्य इसी लोक-चेतना का परिणाम था।

इसीलिए, आज भी मनुष्य के सामान्य इतिहास के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास की दृष्टि से और विशेषकर अपने देश के राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित 'सांस्कृतिक नवनिर्माण' की दृष्टि से, जिसकी प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है, स्थायी विश्व-शान्ति, जनवादी समाज और मुक्त-जीवन के लिए संघर्ष करने वाले सर्वसाधारण के हित में अतीत से प्राप्त 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित करने का प्रश्न हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है, ताकि जनता इस स्फूर्तिदायी और चेतनाविकासी विरासत से वंचित न रहे। अतः सांस्कृतिक विरासत के प्रश्न को पूरी गम्भीरता से यहाँ उठाना ही हमारा उद्देश्य है, क्योंकि इस प्रश्न का समाधान करके ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। अन्य प्रश्न, जैसे काल-विभाजन की समस्या या हिन्दी में खोज-कार्य की समस्या आदि, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी गौण हैं।

अपनी पुस्तक 'A Contribution to the Critique of Political Economy' में यूनान की देवमाला या पुराण-कथाओं पर टिप्पणी देते हुए कार्लमार्क्स ने 'सांस्कृतिक विरासत' का प्रश्न उठाया था। यह बताते हुए कि कला के कई सर्वोच्च विकास-कालों का सीधा सम्बन्ध न समाज के सामान्य विकास के साथ रहा है और न उसके भौतिक आधार और ऊपरी ढाँचे के संगठन के साथ, मार्क्स ने ग्रीक (यूनानी) कला का उदाहरण दिया था। और यह स्पष्ट करते हुए कि चूँकि ग्रीक-कला की विचार-वस्तु ग्रीक-जीवन से ही ली गई थी और वह सीधी उस जीवन की ही पैदावार थी, इसलिए

पौराणिक विचारों पर आधारित कला की आवृत्ति इस औद्योगिक युग में निश्चय ही नहीं हो सकती, मार्क्स ने प्रश्न उठाया था, "इस विचार को समझने में कठिनाई नहीं है कि ग्रीक-कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के एक विशेष युग की पैदावार हैं और उसी से बँधे हैं। कठिनाई तो यह समझने में आती है कि वह आज भी हमारे अन्दर सौन्दर्य-बोध कराके आनन्द देने में क्यों समर्थ हैं और कई अर्थों में उन्होंने कला के ऐसे प्रतिमान और नमूने पेश किये हैं जिनकी श्रेष्ठता को पा लेना असम्भव है।"

यह निश्चित है कि मनुष्य के भावों की चिरन्तन सत्ता का दावा करके इस प्रश्न का वैज्ञानिक या इतिहास-संगत उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसका उत्तर पाने के लिए हमें, 'कला क्या है' इस प्रश्न को समझना होगा और सामाजिक जीवन से कला के सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालना होगा। तभी विगत युगों की श्रेष्ठ कलाकृतियों की चिरन्तन महानता का रहस्य उद्घाटित हो सकेगा और सांस्कृतिक विरासत का प्रश्न अपने सही रूप में समझा जा सकेगा। इस प्रकार यदि देखें तो साहित्य के इतिहास की समस्या बहुत-कुछ साहित्य के समीक्षा-शास्त्र की ही समस्या है।

साहित्य और कला वस्तु-चित्रों तथा मानव-चरित्रों की भाषा में जीवन के वैविध्य-पूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती हैं। जगत् और जीवन के सत्य को जिस प्रकार विज्ञान 'विचारों' के माध्यम से सिद्ध और प्रमाणित करता है, कला वास्तविकता के सत्य या अन्तर्द्वन्द्व को मर्म-छवियों (इमेज) के माध्यम से दर्शनीय बना-कर इन्द्रियगम्य बनाती है। इस प्रकार वर्ग-समाज की कला या साहित्य—और अब तक की कला और साहित्य का निर्माण वर्ग-समाजों में ही हुआ है—सत्ताधारी वर्गों की चेतना-मात्र का प्रतिबिम्बन नहीं है, जिसके कारण कला-साहित्य का वर्ग-आधार खोजने के लिए कलाकारों-साहित्यकारों को शोषक वर्गों की विचारधारा का प्रतिनिधि सिद्ध किया जाय। यह तो सभी जानते हैं कि एक वर्ग-समाज की समाज-व्यवस्था शोषक-शोषित के सम्बन्धों से नियमित होती है। फलतः शोषक-वर्ग की विचारधारा ही ऐसे समाज में नीति और न्याय-सम्मत विचारधारा होती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि शोषित वर्गों की अपनी विचारधारा होती ही नहीं। इन दोनों विचार-धाराओं के निरन्तर संघर्ष और सम्पर्क तथा विगत के संचित ज्ञान से मिलकर ही किसी वर्ग-समाज की जीवन-परिस्थितियों के अनुसार सोचने-विचारने की पद्धतियाँ बनती हैं। कलाकार या साहित्यकार को भी अन्य लोगों की ही तरह जन्म के साथ ही समाज की प्रचलित वर्ग-विचारधाराओं और अतीत के संचित ज्ञान का कोष उपलब्ध होता है। परन्तु सच्चा कलाकार या साहित्यकार अपनी वस्तुनिष्ठा और संवेदना के सहारे समाज-लब्ध वर्ग-विचारधारा और विचार-सूत्रों के ही माध्यम से सामाजिक और व्यक्ति-जीवन की वास्तविकता को अभिव्यक्ति देता है, और इस प्रकार सामाजिक सत्य का उद्घाटन

करता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास के लिए तत्कालीन समाज में प्रचलित सामन्ती दृष्टिकोण के कारण नारी चाहे 'सहज अपावन' और 'ताड़न की अधिकारी' ही क्यों न रही हो, किन्तु उन्होंने 'रामचरितमानस' में या अन्यत्र नारी के जो मूर्त्त चित्र खींचे हैं, उनमें नारी का चरित्र अपनी पूर्ण मानवीय गरिमा के साथ उभरकर सामने आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वर्ग-समाजों के बन्धनों में जकड़ी रहने पर भी श्रमिक जनता ही वास्तव में भौतिक मूल्यों का उत्पादन करती आई है और इस प्रकार अपना रक्त-स्वेद बहाकर समूचे मानव-समाज को वर्गहीन समाज के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाती लाई है, उसी प्रकार वर्ग-समाजों की परिस्थितियों से उत्पन्न विचार-शृंखलाओं या जीवन-जगत् को देखने की दृष्टि-सीमाओं से आबद्ध कलाकार और साहित्यकार भी वास्तविकता के सत्य को रूपायित करते आए हैं। नये मानव-मूल्यों की सृष्टि करते हुए मनुष्य के सांस्कृतिक अथवा कहें मानवीय आध्यात्मिक विकास को वे पग-पग आगे बढ़ाते आए हैं तथा मनुष्य के हृदय में वर्ग-समाज के शोषण-सम्बन्धों का अन्त करके मानवीय समाज-सम्बन्धों की स्थापना करने की मुक्ति-कामी आकांक्षा जगाते आए हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में मानवीय हृदय का स्पन्दन और श्वास की गरमाई है, जो सहज ही मनुष्य के भविष्य में विश्वास जगाती है और विगत और वर्तमान की समस्याओं को उनके वास्तविक रूप में समझने की अन्तर्दृष्टि देती है। उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा, ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि जाँच करके यह देखा जाय कि अपने जीवन-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवार्य विचार-सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने एक सच्चे कलाकार की सत्यान्वेषी वस्तुनिष्ठा से अपने युग-जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त्त चित्रण किया? अर्थात् उन्होंने अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निर्णयकारी सामाजिक समस्याओं को और उनके प्रति समाज के सभी वर्गों की स्थिति को खुली आँखों से देखकर कहाँ तक एक कलाकार के वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से, व्यक्ति-चित्रों के माध्यम से, समाज के सभी वर्गों के अन्तर्सम्बन्धों को चित्रित किया है? साहित्य-कला की यह कसौटी साहित्य-कला के इतिहासों, महान् साहित्यकारों-कलाकारों की श्रेष्ठ कृतियों की परम्परा से निर्धारित है। कला चूँकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सचाई वास्तविकता से तुलना करके ही जाँची जा सकती है।

इतिहास की यह वस्तुवादी दृष्टि ही सांस्कृतिक विरासत का सही मूल्यांकन कर सकती है और शोषक समाज में 'प्रगति' के सही अर्थ से हमें परिचित करा सकती है। जिस तरह प्राचीन काल के लेखक अपने जीवन-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न व्यापक सामाजिक जीवन के सत्-असत् और मंगल-अमंगल पक्षों से तटस्थ नहीं रहे, बल्कि उन्होंने अपने हृदय की पूरी करुणा और समवेदना से शोषित जनता की जीवन परिस्थितियों का चित्रण किया और सत्य और न्याय का पक्ष लिया, उसी प्रकार आज का

इतिहासकार भी समाज के ऊर्ध्वोन्मुखी विकास के प्रति तटस्थ नहीं हो सकता। तटस्थ होकर वह न प्राचीन लेखकों की महान् कृतियों का मूल्यांकन कर सकता है और न 'सांस्कृतिक विरासत' की रक्षा ही। इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि केवल भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रखकर जाँचे, जिन्होंने इन धाराओं को जन्म दिया तथा जिन्हें इन धाराओं ने प्रतिबिम्बित करके प्रभावित किया, बल्कि उसके सामने यह समस्या भी है कि वह—यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में ही रहें तो—चन्द, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द, मतिराम, भूषण आदि प्रमुख भक्त और रीतिवादी कवियों तथा राष्ट्रीय जागरण-युग के भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त आदि साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करे कि किस प्रकार वर्ग-समाज के इन प्रह्लादों ने वर्ग-समाज की विशिष्ट परिस्थितिजन्य विचार-सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या वर्तमान जीवन के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनका कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गाम्भीर्य और उदात्त मानववादी नैतिक अन्तःस्वर वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं से संघर्ष करने वाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।

—नवम्बर १९५२

३

राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या

'साहित्य के इतिहास की समस्या' का सूत्र जहाँ छोड़ा था वहाँ से फिर पकड़ें। अन्तिम वाक्य था : "हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है, और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।" 'आलोचना' के दोनों अंकों[1] में हिन्दी के लगभग चालीस कृती आलोचकों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास, साहित्य की मुख्य-मुख्य युग-धाराओं और प्रवृत्तियों, हिन्दी साहित्य पर पड़े बाह्य और आन्तरिक प्रभावों, भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों और हिन्दी साहित्य की पाँच सर्वोत्कृष्ट प्राचीन तथा आधुनिक कृतियों आदि का अपने ढंग से पुनर्निरीक्षण और मूल्यांकन किया है। इससे हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की कोई सुनिश्चित रूपरेखा बन गई है, यह तो हम दावे के साथ नहीं कहेंगे, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इस दिशा में आगे भी सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयत्न जारी रहने चाहिए, इसकी अनिवार्यता अवश्य सिद्ध हो गई है।

खोज और मूल्यांकन द्वारा अपने साहित्य की मूलतः मानववादी 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित रखने और उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का कार्य तो पहले से और भी अधिक तत्परता से जारी रहना चाहिए, क्योंकि विचारों को स्फूर्ति, कर्म की प्रेरणा, सामयिक समस्याओं की चेतना और आनन्द देने या सौन्दर्य-बोध और मानव-बोध बढ़ाने के अतिरिक्त नये साहित्य के निर्माण की दृष्टि से उसका आत्यन्तिक उपयोग इसलिए भी है कि वस्तु और रूप दोनों के लिए वर्तमान अतीत पर ही निर्भर करता है। यह ठीक है कि केवल परम्परा ही वर्तमान जीवन को अपनी ओर से प्रभावित और नियन्त्रित करती जाती है, ऐसी एकतरफा बात नहीं होती। मनुष्य अपने वर्तमान क्रियाशील जीवन की चेतना और अनुभव द्वारा परम्परा को निरन्तर बदलता भी जाता है। हर युग के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती युग के देशी-विदेशी साहित्यकारों की कृतियों से सीखते हैं, उनसे वस्तु और रूप भी उधार लेते हैं, पर साथ ही वे परम्परा से लिये माध्यमों द्वारा अपने युग-जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता और इतिहास-निर्धारित बुनियादी समस्याओं का चित्रण करके इस परम्परा की सुरक्षा ही नहीं करते, बल्कि उसका युगानुरूप नया

१. इतिहास विशेषांक और शेषांक।

संस्कार भी करते हैं, और अपनी मौलिक कृतियों से मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते जाते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के क्षेत्र में आवृत्ति या अनुकरण से परम्परा निर्जीव और अर्थहीन होती है, समृद्ध और विकसित नहीं होती। इसलिए इतिहास और परम्परा का अध्ययन-विवेचन-मूल्यांकन तभी सार्थक है जब वह वास्तविक रूप से साहित्य की रचनाशील शक्तियों को अनुप्रेरित करे और अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के मार्ग में उठने वाली वस्तु-रूप-शैली और टेकनीक आदि से सम्बन्धित समस्याओं का उपयुक्त समाधान खोजने में उन्हें नई दृष्टि दे, ताकि वे मौलिक और श्रेष्ठ कृतियों की रचना कर सकें—ऐसी कृतियों की जो अपनी आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य से अपने राष्ट्रीय जीवन की इतिहास-निर्दिष्ट समस्याओं का यथार्थ-चित्रण करते हुए भी (या कहें कि इस कारण ही) विश्वजनीन (यूनिवर्सल) और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सकें। यहीं पर राष्ट्रीय कला और साहित्य के निर्माण की समस्या उठ खड़ी होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास और भावी विकास की मुख्य दिशा को समझने के लिए इस समस्या पर विचार कर लेना ज़रूरी है।

साहित्य के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारों ने भी किया है, किन्तु संकुचित अर्थ में ही। सन् २० से ४२ के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था, उससे सम्बन्धित या उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। ऐसा साहित्य चूँकि राजनीतिक आन्दोलनों की सामयिक उत्तेजना के समय ही प्रिय लगता था और उन आन्दोलनों के मन्द पड़ते ही या समझौतावादी पथ पर अग्रसर होते ही इस साहित्य की उपयोगिता और अपील भी खत्म हो गई, इसलिए अच्छे लेखक 'राष्ट्रीय' शब्द से ही चौकन्ने हो जाते हैं। जो कवि आज भी 'राष्ट्रगीत' या राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ लिखते हैं, वे बेजान तुकबन्दियों या 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास से अधिक कुछ निर्माण नहीं कर पाते। साहित्य और कला में 'राष्ट्रीय' शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण करना सर्वथा ग़लत है। इसका तो यह मतलब हुआ कि राष्ट्रीय साहित्य कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक रचनाओं का ही नाम है; कि यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है और केवल गुलाम देशों में ही पैदा हो सकता है—जो देश स्वतन्त्र हैं वहाँ राष्ट्रीय साहित्य और कला सम्भव ही नहीं; कि आज़ादी के लिए संघर्ष करने वाले गुलाम देशों में भी राष्ट्रीय साहित्य की धारा मुख्य धारा नहीं है; कि इस प्रवृत्ति की स्फुट रचनाएँ क्षणकालिक महत्त्व की ही हो सकती हैं; कि ऐसी रचनाओं के करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या लेखक हैं, अन्य लेखक और कलाकार राष्ट्रीय नहीं हैं। राष्ट्रीय का यह संकुचित अर्थ लगाया जाता है, इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' या 'दिनकर' को तो राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, किन्तु कबीर, तुलसी, सूर, प्रसाद, पन्त, निराला आदि भक्त और छायावादी कवियों को राष्ट्रीय कवि कहने की बात कल्पना में भी नहीं उठती। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का कारण सिर्फ़ यह है कि लोग राष्ट्रीय (नेशनल) और राष्ट्र-

वादी (नेशनलिस्ट) में भेद नहीं करते।

इसीलिए राष्ट्रीय शब्द का उच्चारण होते ही लोग सतर्क हो जाते हैं। साहित्यकार या संभ्रान्त पाठक इसे निन्दा की दृष्टि से देखते हैं। दरअसल राष्ट्रीय साहित्य का विरोध तीन दिशाओं से होता है। एक तो उन रीति-ग्रन्थों की परम्परा के पुजारी अध्यापकों की ओर से जो श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य समझते हैं। दूसरी ओर साहित्य में राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना वे लोग करते हैं जो शैली और रूप में कला के तथाकथित विश्वजनीन मापदण्डों का प्रयोग करना प्रगति का लक्षण समझते हैं। 'शेखर', 'नदी के द्वीप' और हिन्दी की नई प्रयोगशील कविता में शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता इसी कारण इतनी मुखर है क्योंकि उनमें राष्ट्रीय गुणों को तिरस्कृत किया गया है। साहित्य-कला में राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरी दिशा से विरोध करने वाले वे संकीर्ण प्रगतिवादी हैं जो राष्ट्रीय शब्द को बुर्ज्वा राष्ट्रवाद का पर्याय समझकर हेय मानते हैं। वे हर कविता में वियतनाम, कोरिया, मलाया, चीन, रूस आदि का नाम गिना-गिनाकर संकेतात्मक भाषा में बात करते हैं, शैली और रूप-विधान में मायाकोवस्की और जुलियस फ्यूशिक की नक़ल करते हैं। उनकी कविताएँ भी अधिकतर बेजान तुकबन्दियाँ होती हैं या केवल अलंकारिक गर्वोक्तियाँ। कुछ दिन पहले राष्ट्रीय शब्द से उनकी चिढ़ इस सीमा तक बढ़ी थी कि देश-प्रेम की भावना को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परम्परा के प्रति भी उनका आदरभाव कृत्रिम है, क्योंकि परम्परा में वे केवल उन्हीं लेखकों को शामिल करते हैं जो अब नहीं रहे; जो हैं, वे परम्परा से बाहर, वर्ग-स्वार्थों से आक्रान्त, प्रतिक्रियावादी साहित्यकार ही उन्हें नज़र आते हैं।

ये मध्यवर्गीय भावना के प्रतिनिधि दृष्टिकोण हैं, जो राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष और राष्ट्रीय साहित्य को केवल राष्ट्रवाद और नस्लवाद के रूप में ही देखते हैं, और उसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का विरोधी समझते हैं।

हम इस भ्रान्ति का निराकरण ज़रूरी समझते हैं, क्योंकि स्वस्थ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास में ये दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियाँ बाधक हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में कोई आन्तरिक विरोध नहीं है और न राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रवादी साहित्य का पर्याय ही है। 'राष्ट्रीय' का अर्थ बहुत व्यापक है।

इसीलिए 'साहित्य के इतिहास की समस्या' में हमने लिखा था : "सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण (रिनेसां) की अन्तर्प्रेरणा बना है।" आगे चलकर हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इस सांस्कृतिक नवनिर्माण (रिनेसां) की प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है। किन्तु 'भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण' (रिनेसां) की प्रक्रिया क्या राष्ट्रीय जागरण के साथ ही शुरू हुई ? हमारी उक्त स्थापना में निश्चय ही ऐसी संकीर्णता ध्वनित है, क्योंकि इतिहास की साक्षी कुछ और है। 'आधुनिक

साहित्य' को तो जिसका आरम्भ भारतेन्दु से हुआ, राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार कहा जा सकता है, लेकिन वास्तव में यह भारतीय रिनेसां का द्वितीय उत्थान है। प्रथम उत्थान तो सम्भवत: भक्त-कवियों—कबीर से शुरू होता है। अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि भारतीय रिनेसां के प्रवर्तक कबीर हैं, भारतेन्दु नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा हिन्दी साहित्य (और इसी प्रकार देश की अन्य जातीय भाषाओं का साहित्य भी) भारतीय रिनेसां के प्रथम और द्वितीय उत्थानों की पैदावार है—यह नव-जागृति और सांस्कृतिक नव-निर्माण का राष्ट्रीय (नेशनल) साहित्य है। इन दोनों उत्थानों के बीच ह्रास और अधोगति का काल भी आया, किन्तु इस कारण ही प्रथम उत्थान को भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसके वास्तविक गौरव से वंचित करके 'मध्यकालीन' कह देना संगत नहीं दीखता।

यूरोप में राष्ट्रीयता का विचार मध्ययुग के बाद सांस्कृतिक नव-जागरण के आरम्भ में पैदा हुआ। तब तक जातीय आधार पर राष्ट्रों का निर्माण नहीं हुआ था, लेकिन व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी थी और सामन्तवाद का ह्रास हो चला था। इन नये परिवर्तनों ने सांस्कृतिक जागरण के लिए व्यापक परिस्थितियाँ तैयार कीं और यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्य और कला का निर्माण शुरू हुआ। राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जन-साधारण की भाषा, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य, पौराणिक आख्यानों और जन-श्रुतियों से गुम्फित उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है, जो एक राष्ट्र के लोगों में समान रूप से प्रचलित होता है। यह मुहावरा सामान्य विश्वासों और सामान्य मनोभूमि को प्रतिबिम्बित करता है, जिससे सहज ही प्रेषणीय होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय नहीं हुआ तब तक राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास भी नहीं हुआ। मध्यकाल में उनके विकास की सम्भावनाओं के बीज सर्वसाधारण के बीच अपने स्थानीय और अनगढ़ ग्राम्य रूपों में लोक-साहित्य और लोक-कला के माध्यम से पनपते रहे।

हमारे देश में भी राष्ट्रीय एकता की भावना मध्य-युग के अन्त में और सांस्कृतिक पुन: निर्माण के आरम्भ में पैदा हुई। मध्ययुग में वैदिक और अवैदिक धर्म-साधनाओं का विरोध बढ़ता रहा और अनेक तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना को नया रूप और संस्कार देते रहे। उन दिनों धर्म ही लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था। सामाजिक जीवन का वैषम्य, उच्च वर्णों और नीच जातियों का आन्तरिक द्वन्द्व—अर्थात् उस युग का वर्ग-संघर्ष, मनुष्य की चेतना में अनेक परस्पर-विरोधी धर्म-साधनाओं के माध्यम से लड़ा जा रहा था। इस संघर्ष में जन-साधारण की लोक चेतना के प्रतीक तान्त्रिक प्रभाव ही प्रबल सिद्ध हुए।

इस बीच उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण लगातार होने लगे थे जिससे समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन में उच्च जातियों का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा था और जब कई शताब्दियों की राजनीतिक अव्यवस्था और उलट-फेर के बाद सुलतानों का राज्य

स्थापित हुआ और दिल्ली में केन्द्रीय शासन, केन्द्रीय कानून, केन्द्रीय कर-व्यवस्था और केन्द्रीय सेना की सुरक्षा में व्यापार चलने लगा तो इन सबके परिणामस्वरूप देश की विभिन्न जातियों (नेशनेलिटीज) में अपनी जातीय चेतना उद्बुद्ध हुई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना और राष्ट्रीय साहित्य और कला का जन्म हुआ। इसी काल में कांगड़ा और राजपूताना की चित्रकलाएँ और अन्य-अन्य जातियों के नृत्य और संगीत के विभिन्न राष्ट्रीय रूप लोक-वार्ता, लोक-भाषा और लोक-कला का आधार लेकर विकसित हुए। दस्तकारियों ने भी लोक-जीवन की जातीय विशेषताओं को ग्रहण करके एक अभिनव सौष्ठव प्राप्त किया। इसलिए यह सांस्कृतिक जागरण चतुर्मुखी था। इसका आधार जातीय था। इसने देश की अलग-अलग जातियों में अपनी जातीय एकता की भावना जाग्रत की और उनमें जातीय प्रगति और आज़ादी की आकांक्षा उत्पन्न की।

इन तथ्यों की ओर हम केवल इसलिए संकेत कर रहे हैं कि साहित्य और कला में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जो संकुचित धारणा इस बीच बन गई है, वह निर्मूल हो जाय, और इस सामान्य तथ्य को हमारे इतिहास लेखक और साहित्यकार पहचानने लगें कि हर देश की कला और साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात और उसका विकास तभी होता है जब जनसाधारण अपनी भाषा, अपना मुहावरा और चरित्रिक गुणों के साथ उनमें प्रवेश करते हैं, और उनके जातीय इतिहास की स्मृतियाँ, उनके लोक-जीवन की सामान्य मनोभूमि और उनका प्रकृति-प्रेम उनकी अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगता है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करने पर ही हम इस तथ्य की स्थापना कर सकते हैं कि हिन्दी में राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण कबीर से प्रारम्भ होता है, वे ही हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रवर्तक हैं।

मध्य-युग से पहले या मध्य-युग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्य-रचना का माध्यम थी, परन्तु सन्त कवियों ने इस शास्त्रीय परम्परा को त्यागकर जन-भाषाओं का आश्रय लिया और लोक-कला और लोक-साहित्य की परम्पराओं से प्रेरित ऐसे रूप-विधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी और तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जन-जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूँकि उनकी कला का आधार लोक-साहित्य और लोक-वार्ता की परम्पराएँ हैं, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठकों के लिए प्रेषणीय हो सकीं और जातीय-भावना जगाने में समर्थ हुईं बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्त्व भी पा सकीं।

रीतिकाल के कवियों ने यद्यपि लोकवार्ता और लोक-काव्य के रूपों का सर्वथा त्याग तो नहीं किया लेकिन उन्हें शास्त्रीय-विधानों में बाँधकर रीति-बद्ध करने की कोशिश की जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि भाषा का मार्जन होता रहा लेकिन राष्ट्रीय-काव्य के वे 'एपिक' रूप उपेक्षित हो गए जिनका निर्माण करके भक्त कवियों ने अपने युग के समग्र जीवन को चित्रित कर उसके ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया था। रीति-

कालीन कवि राष्ट्रीय साहित्य की व्यापक आधारभूमि से हटकर जीवन के एकांगी चित्रों की आवृत्ति में ही रमे रहे।

भारतेन्दु के समय में एक विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य में फिर एक उन्मेष आया और राष्ट्रीय साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।

इस उत्थान में देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में राष्ट्रीय साहित्य और कलाओं का जैसा अभूतपूर्व और सर्वतोमुखी विकास हुआ, उसके इतिहास से तो सभी पाठक परिचित हैं। यह विकास कुछ वैसा ही महान् था, जैसा पुश्किन के समय से लेकर टॉलस्टॉय और गोर्की तक रूस में हुआ था और जिसने वहाँ पर राष्ट्रीय साहित्य और कला के एक नये उत्थान की भूमिका भी तैयार की। हमारे यहाँ हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि, देश की अन्यान्य भाषाओं में इस बीच अनेक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि, कथाकार और नाटककार हुए हैं जिनकी कृतियाँ देश के विभिन्न भाषा-भाषी पाठकों में ही लोकप्रिय नहीं हैं, बल्कि उनमें से जिनका अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हो सका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी पा गई हैं। इसी तरह इस बीच विभिन्न प्रदेशों के जातीय संगीत, नृत्य, चित्रकला तथा अन्य कलाएँ, जिनका विकास अवरुद्ध पड़ा था, राष्ट्रीय-जागरण का अनुकूल वातावरण पाकर पुनः विकसित हुईं और प्रत्येक क्षेत्र में महान् प्रतिभाओं का विकास हुआ। भारतेन्दु, बंकिम, रवीन्द्र, इक़बाल, जोश, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, विष्णु दिगम्बर, फ़ैयाज़ खाँ और उस्ताद इनायतअली खाँ आदि इस युग के साहित्यकार और कलाकार इसलिए महान् और अमर नहीं हैं कि उनकी कृतियों में देश-काल की परिस्थितियों और राष्ट्रीय जीवन से असंलग्न कोई ऐसी कल्पित विश्वजनीनता है या मनुष्य-मात्र के ऐसे अमूर्त गुणों का आकलन करने का प्रयत्न है, जो शाश्वत और कालातीत हैं। ऐसी अमूर्तता उनकी कृतियों में नहीं है। कवि-गुरु रवीन्द्र की उक्ति के अनुसार 'ससीम में ही असीम' को, राष्ट्रीय में ही विश्वजनीन को प्रतिबिम्बित करने की साधना उन्होंने की है। सौभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता ने इस युग में प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र में बसने वाली जनता के जातीय सांस्कृतिक जीवन में अपने अतीत इतिहास के गौरव से परिचित होने की जिज्ञासा, अपनी वर्तमान दुरवस्था के कारणों को समझने की उत्कण्ठा, आज़ादी, प्रगति और एकता की बलवती आकांक्षा, और विश्व की अन्य जातियों की संस्कृतियों में जो-कुछ सामान्य है और जो विशिष्ट है, अर्थात् मानव-प्राणिओं की मूल समानता और नाना रूपात्मक विभिन्नता को स्वीकार करने की उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग गई थी, जिससे प्रबुद्ध पाठकों और दर्शकों की माँग अधिकतर ऐसे साहित्य और कलाकृतियों के लिए ही होने लगी जो इन विषयों की गम्भीरतम चेतना जगा सकें, उन्हें नई रोशनी, नई अन्तर्दृष्टि और नई प्रेरणा दे सकें और राष्ट्रीय एकता की भावना को मजबूत कर सकें। देश के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण कला-

निर्माण के लिए अनुकूल पाकर हमारे साहित्यकार और कलाकार एक नये उत्साह से सभी क्षेत्रों में कला के राष्ट्रीय आधार खोजने की ओर उन्मुख हुए। राष्ट्रीय विरासत, राष्ट्रीय मुहावरे और राष्ट्रीय रूप-विधानों को अपनाने की कोशिश हुई। लोकवार्ता, इतिहास और पुराण-कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया गया। ये समस्याएँ नैतिक, सामाजिक और कभी-कभी धार्मिक और राजनीतिक स्तरों पर भी उठाई गईं।

किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इकबाल और प्रेमचन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी आन्तरिक असंगतियों के कारण विच्छिन्न होकर विपरीत दिशाओं में चल निकला, और दूसरी ओर इस वैषम्य के परिणामस्वरूप देश के सांस्कृतिक जीवन की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। प्रगतिवादियों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की, लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें उस समय न थी। इस व्यापक विशृंखलता के दौर में हमारे अनेक प्रतिभाशाली साहित्यकार और कलाकार भी राष्ट्रीय कला के पथ से हटकर पाश्चात्य देशों में नित्य नये-नये नामों से प्रचार पाने वाली साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी तथा मात्र रूपवादी प्रवृत्तियों को ही विश्वजनीनता और आधुनिकता की कसौटी मानकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और नाम, जगह और वेश बदलकर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करने लगे। अपनी कृतियों के लिए विश्वजनीन और सर्वकालिक महत्ता पाने की कोशिश में पाश्चात्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का अनुकरण ही उनका साधन और साध्य बन गया। परन्तु यह प्रयत्न निष्फल ही होता, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, लेकिन हम यहाँ पर एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करेंगे। गत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रदर्शनी के अवसर पर 'बाइसिकिल थीफ़' (चोर) के प्रसिद्ध इतालवी दिग्दर्शक ने भारतीय फिल्मों के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय फिल्मों में हालीवुड की नक़ल होती है। इसी कारण टैकनिकल खूबियों के होते हुए भी उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भारत के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन की झाँकी नहीं मिलती। हालीवुड की नक़ल करके भारतीय फिल्म-कला का अपना वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व नहीं रहता, कि अन्य देशों के दर्शक भारतीय जीवन का अन्तरंग परिचय पाने के लिए उन्हें देखने को उत्सुक रहा करें।

राष्ट्रीय तत्त्व का तिरस्कार करके एक थोथी विश्वजनीनता की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति फिल्म-व्यवसाय की ही विशेषता नहीं है। साहित्य-कला के अन्यान्य क्षेत्रों में भी व्यवसायी-वर्ग की ओर से ऐसी अनुकरण-वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, अर्थात् राष्ट्रीय कला और साहित्य की विचार-वस्तु और रूप-विन्यास, इन दोनों का क्षेत्र संकीर्ण और कृत्रिम बनाया जा रहा है। फलतः इस प्रतिकूल वातावरण में भारतीय सांस्कृतिक

पुनर्जागरण के तृतीय उत्थान का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में रखकर विचारें। हमारे यहाँ रचनात्मक प्रयोगों और प्रयत्नों की कमी नहीं; और प्रतिभाएँ भी विरल नहीं। हर ओर नवीनता-ही-नवीनता के दर्शन होते हैं। कविता का मुहावरा और शब्द-विन्यास, उपमाओं और प्रतीकों की योजना नवीन है; कहानियों के विषय और पात्र, घटनाएँ और समस्याएँ नवीन हैं; नाटकों की शैली और रचना-तन्त्र नवीन है; उपन्यासों की तो बात ही निराली है। उनको खोलकर पढ़ने की ज़रूरत भी नहीं। उनका बहिरंग और कलेवर तक नवीन है। जिन पाठकों ने शरत्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द, और जैनेन्द्र की दुबली-पतली कृतियाँ पढ़कर ही सिर धुना था, वे गत दस-पन्द्रह वर्षों में प्रकाशित हज़ार पृष्ठों की ड्योढ़ी पार करने में कटिबद्ध दीखते बृहदाकार हिन्दी-उपन्यासों पर नज़र पड़ते ही कुछ खो-से जाते हैं। आशा बँधती है कि भारी-भरकम डील-डौल से तॉलस्तॉय, ह्यूगो, डिकेन्स, बालज़क और रोम्याँरोलाँ की महाकृतियों को चुनौती देने वाले इन उपन्यासों में शायद इस युग के भारतीय जीवन का 'एपिक' चित्रण होगा। किन्तु पढ़कर जब ज्ञात होता है कि लेखक की विचार-पूँजी की कमी के अनुपात में ही इन उपन्यासों का विस्तार भी अधिक हुआ है और लेखक किसी के प्रति अपने निजी पूर्वग्रह, घृणा या प्रेम को व्यक्त करने के लिए ही किसी पाश्चात्य कृति की शैली और टेक्नीक की नकल करके कठपुतली पात्रों की सृष्टि कर रहा है, या उसने जो-कुछ देखा-सुना है उसे ब्यौरेवार बयान करके अपना आत्म-प्रदर्शन करने पर तुला है, तो इस सारी नवीनता के प्रति वितृष्णा ही नहीं होती, प्रतिभा के इस विराट् अपव्यय पर क्षोभ से हृदय छिदने भी लगता है। यही सामान्य स्थिति है। अपवाद भी हैं, पर अपवाद तो अपवाद ही हुए। साहित्य की विचार-वस्तु की दृष्टि से इसी कारण हमने 'यथार्थ और साहित्य'[1] का प्रश्न उठाया था, क्योंकि इन दिनों सामान्य प्रवृत्ति जीवन के यथार्थ से हटकर औसत जीवन की औसत घटनाओं के प्रकृत चित्र खींचने की ओर है। भ्रमवश केन्द्रीय विचार-वस्तु से रहित इस यथातथ्य, असम्बद्ध चित्रण को ही हमारे साहित्यकार यथार्थवाद या जीवन का यथार्थ चित्रण समझते हैं। आज हमने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रश्न भी इसी कारण उठाया है, क्योंकि एक भ्रामक विश्वजनीनता के मोह में वे साहित्य को अधिक सीमित और आत्म-केन्द्रित बनाते जा रहे हैं, और विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे हैं कि मानव-जीवन के विश्वजनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते हैं; कि कला में राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्वजनीन स्वीकृति मिलने में उतनी ही आसानी होगी।

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं: (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमें राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप

---

१. इस संग्रह में अन्यत्र प्रकाशित निबन्ध।

से विकास कर सकें, अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला-सर्जन में प्रेरक बने, बाधक नहीं। (२) विश्व की कला, और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है, सीखकर ऐसी कृतियों का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिए हैं उनको कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सकें। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं और साथ ही अन्य देशों की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक-दूसरे को अधिक निकट लाने में योग दे सकेंगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं।

राष्ट्रीय साहित्य और कला के तृतीय उत्थान के लिए यही व्यावहारिक समस्याएँ हमारे सामने हैं। आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जीवन एक व्यंग्यपूर्ण हक़ीक़त बन गया है, जिसमें उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना-फूलना सम्भव नहीं दीखता। इसलिए तृतीय उत्थान के लेखक और कलाकार को पाश्चात्य देशों की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियों का आकर्षण छोड़ यथार्थ जन-जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने वाली श्रेष्ठ कलाकृतियों का निर्माण भी करना है और अनुकूल सांस्कृतिक जीवन के लिए संघर्ष भी।

—फरवरी १९५३

४

साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा

'युगवाणी' के एक गीत में कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने माँग की है :

आज मनुज को खोज निकालो !
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो !
... ...
खंड मनुज को फिर से ढालो !

किन्तु यह एक खेदजनक स्थिति है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है—चाहे वह प्रगतिवादियों द्वारा रचा गया हो या प्रतीकवादियों, प्रयोगवादियों छायावादियों और प्रकृतिवादियों द्वारा—उसमें हमारे असंख्य अन्तर्विरोधों से ग्रस्त वर्ग-समाज के संघर्षशील मानव के समग्र व्यक्तित्व का चित्रण नहीं हो पाया है। ऊपर से यह रचनाएँ किसी भी विचारधारा से अनुप्रेरित क्यों न हों, उनके अन्तर में एक दृष्टिसाम्य तो मिलता ही है कि उनमें 'खंड मनुज को फिर से ढालने' या 'मनुज को खोज निकालने' की यथार्थवादी प्रवृत्ति का न्यूनाधिक अभाव है। उनमें ऐसे समग्र मानव को 'खोज निकालने' की प्रवृत्ति और स्पर्धा का अभाव है जो हमारी गुलामी, सामन्ती और पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धों की क्रूरता, अनैतिकता, अन्याय, साम्प्रदायिक द्वेष, अशिक्षा, भुखमरी, चोर बाज़ारी, महामारी—मनुष्य के व्यक्तित्व को भौतिक और नैतिक अन्धकार में आवेष्टित करके खण्ड-खण्ड, विकृत और विकलांग बनाने वाली वर्तमान जीवन की समस्त आधि-व्याधि, दुःख-दैन्य, अनिश्चितता और दुर्निवार कठिनाइयों—से पग-पग पर ठोकरें खाकर भी निराश और हताश नहीं है, जो संघर्षों से पराङ्मुख नहीं है, जो युग-पुरुष है, एक 'टाइप' है अर्थात् जो सम और विषम परिस्थितियों में यथार्थ और संभाव्य, व्यष्टि और समष्टि की मार्मिक समन्विति का युगानुरूप जीवन्त प्रतिनिधि है।

प्रतीकवादी या प्रयोगवादी लेखक नये प्रयोगों—नवीनता, उक्ति-वैचित्र्य और मनोवैज्ञानिकता—के नाम पर साहित्य में मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण की समस्या को तिलांजलि देकर उसे और भी एकांगी, असामाजिक और विकृत बनाने में दत्त-चित्त रहे हैं और उनमें से कुछ अनेक सत्याभासों की आड़ लेकर साहित्यिक प्रतिक्रियावाद को प्रश्रय देते रहे हैं। इसके विपरीत प्रगतिवादी और समाज का यथातथ्य, फोटो-चित्र उपस्थित करने वाले प्रकृतिवादी या तो यथार्थवाद से पथ-भ्रष्ट होकर और अपने को

प्रचार-साहित्य की संकीर्ण सीमाओं में बाँधकर सामयिक जीवन-वास्तव को अपने मनचाहे ढंग से ही देखने के आदी रहे हैं या इतिहास की सम्भावनाओं से उसका विच्छेद करके, केवल उसके वर्तमान कुत्सित रूप को ही निःसंग, निष्क्रिय दर्शक की भाँति देखते रहे हैं, अर्थात् जो उसके अन्धकार के ही चित्रकार हैं, इतिहासक्षितिज पर उगते प्रगति-सूर्य की रश्मियों के नहीं। इस प्रकार यह दोनों प्रवृत्तियाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व के एकांगी और विकृत रूप को ही पेश करती आई हैं, उसके सम्पूर्ण, सक्रिय, मूर्त्त वास्तविक रूप को नहीं। निस्सन्देह, साहित्य और संस्कृति को सर्व-जन-सुलभ बनाने वाले उत्पादन-साधनों (फिल्म, रेडियो, प्रेस) के उत्तरोत्तर विकास और हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के दबाव से, इस बीच, हमारे देश में साहित्यिक निर्माण में परिमाण-वृद्धि तो अवश्य हुई है, परन्तु महान् और स्थायी मूल्य के साहित्य की रचना अपेक्षया बहुत कम हुई है। अन्य क्षेत्रों की ही तरह कला-साहित्य-संस्कृत के क्षेत्र में भी उसके प्रचार-साधनों के संचालकों का उद्देश्य मुनाफ़ा कमाना ही है, जनता को संस्कृत बनाना नहीं, जिससे इस बीच जनता की कलारुचि विकृत और सस्ती हुई है और अपवादों को छोड़कर साहित्य का सामान्य स्तर भी नीचा हुआ है।

ऐसे सर्वव्यापी संकट के समय 'अज्ञेय' की तरह इस ह्रास और गतिरोध को, लेखकों के सरकारी नौकरियों में चले जाने या राजनीतिक पार्टियों और विचारधाराओं से सम्बद्ध हो जाने के कारण बताकर हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नहीं पा लेना चाहते। हमारे देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारी राष्ट्रीय भाषाओं के अनेक लेखक और विद्वान् सरकारी और अर्ध-सरकारी विभागों में लगेंगे ही, और जब तक भारतीय जनवादी क्रान्ति पूर्णतः सफल नहीं हो जाती, उस समय तक और उसके बाद भी, हमारे अधिकांश लेखक विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं में से किसी-न-किसी को अपनाते ही जायँगे, क्योंकि हमारे साहित्यकार 'त्रिशंकु' के वंशज नहीं हैं—सामाजिक प्राणी हैं, सामाजिक जीवन के संघर्ष और पुनर्निर्माण के कार्य से तटस्थ 'कला के लिए कला' वादी नहीं हैं और सामाजिक दायित्वों को ठुकराकर व्यक्ति की काल्पनिक 'स्वतन्त्रता' की घोषणा करने वाली अहम्मन्यता भी उनमें नहीं है। प्रतिभाएँ अगर 'मर' रही हैं या नई प्रतिभाएँ जन्म नहीं ले रहीं तो इसका कारण केवल लेखकों का 'सरकारीकरण' या राजनीति में उनकी सक्रिय रुचि नहीं है। प्रतिभाओं का गला घोंटने वाले कारणों को समझने के लिए वर्ग-समाज की क्रूर वास्तविकता की सजग जाँच करनी चाहिए, जिसमें रहकर और जिसके विरुद्ध अविराम संघर्ष करके ही प्रतिभाएँ आज तक उभरी हैं। सरकारी नौकरी में दाखिल होते ही एक ईमानदार और वस्तुनिष्ठ कलाकार के लिए इस संघर्ष का अंत नहीं हो जाता (कठिनतर चाहे हो जाय)। और राजनीतिक चेतना तो उसे कहीं भी रहकर संघर्ष के लिए नया मनोबल और प्रेरणा ही दे सकती है।

इसी प्रकार शचीरानी गुर्टू की तरह आत्म-प्रवंचना में पड़कर विश्व-साहित्य के अनेक निर्माताओं—जैसे ब्राउनिंग, शैली, राबर्ट बर्न्स, क्रिस्टिना रोज़ेटी, चेखव, मेरीडिथ आदि—का वर्तमान हिन्दी लेखकों के रूप में एक साथ और एक ही समय 'पुनर्जन्म' कराके

हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नहीं पा लेना चाहते। क्योंकि हक़ीक़त यह है कि इस समय विश्वजनीन प्रतिभाओं की बात तो दूर; पन्त, निराला, जैनेन्द्र, यशपाल, राहुल और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त हमारे साहित्य में ऐसी रचनाशील प्रतिभाएँ भी विरल ही हैं जिनका कृतित्व उर्दू, बंगाली, तामिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी––हमारे देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों और कवियों के बराबर हो––जो प्रतिभाएँ अखिल भारतीय महत्ता पा गई हों, अर्थात् जिनकी रचनाओं के अन्य भाषाओं में केवल अनुवाद ही न हुए हों, बल्कि जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरच्चन्द्र, इक़बाल और प्रेमचन्द की तरह देश की अन्यान्य भाषाओं के साहित्यों को समग्र रूप मे प्रभावित किया हो, और उनमें नई साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रतिभाओं को जगाकर उन्हें अपनी प्रान्तीय सीमाओं से बाहर निकलने की प्रेरणा दी हो।

'अज्ञेय' की तरह हम निराश नहीं हैं, न संशय और भ्रम के बीज बोने के पक्ष में हैं, और न ही लेखकों को समाज के 'त्रिशंकु' बन जाने के लिए प्रोत्साहन देने के हक़ में हैं। यह साहित्यिक प्रतिक्रिया का मार्ग है।

साथ ही, शचीरानी गुर्टू की तरह शिशु-सुलभ विस्मय-भावना से प्रत्येक लेखक को विश्व के किसी-न-किसी महान् साहित्यकार का 'अवतारी' मानकर साहित्य के वर्तमान संकट और गतिरोध से आँख मीच लेने के पक्ष में भी हम नहीं हैं। यह आत्म-प्रवंचना का मार्ग है।

हिन्दी-साहित्य में इस समय जो भी रचनाकार हैं या पैदा हो रहे हैं—वह जीविकोपार्जन के लिए चाहे जहाँ काम करते हों, और चाहे जिस जनवादी विचारधारा या साहित्यिक आदर्श को मानने वाले हों, उनकी प्रतिभा चाहे जिस कोटि की हो––वही तो हमारे साहित्य की पूँजी हैं––हमारे साहित्य की आशा हैं। मुख्यतः उन्हें ही उन तमाम अवरोधों से लड़ते जाना है जो उनकी प्रतिभा को बेड़ियाँ पहनाते हैं। और साथ ही, उन्हें ही साहित्य में जीवन के वस्तु-सत्य को मूर्त, सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने और मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का पुर्ननिर्माण करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है––तभी हमारा साहित्य अपनी वर्तमान संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर एक विपुल शक्ति बन सकेगा। एक आलोचक की हैसियत से हम अपनी भाषा के सामयिक साहित्य का सही-सही मूल्यांकन करके, उसके स्थायी और अस्थायी मूल्यों और उसके सामाजिक उपलक्ष्यों का विवेचन करने तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि हम अपने साहित्यकारों में ऐसा मुक्तिकामी और मानववादी संकल्प जगाना भी अपना कर्तव्य समझते हैं जिससे वे अपनी व्यक्तिगत अक्षमताओं और समाजगत कठिनाइयों के बावजूद उस भगीरथ प्रयत्न में ईमानदारी से लग सकें जिसका ज़िक्र हमने ऊपर किया है। इस पुनीत कार्य में हम उनके सखा और सहयोगी बनना चाहते हैं।

और इसलिए आज हम विश्व-साहित्य के अध्ययन का प्रश्न विशेष रूप से उठा रहे हैं। विश्व-साहित्य से हमारा तात्पर्य उन महान् लेखकों की महा-कृतियों (क्लासिक्स) से

है जो चाहे जिस देश और काल की पैदावार क्यों न हों, पर जो आज भी अपना मूल्य रखती हैं और जो सदा अमर रहेंगी और चिरकाल तक मनुष्य जाति को अनुप्राणित करती जायँगी।

इसमें सन्देह नहीं कि एक आलोचक की हैसियत से हमें इस सम्बन्ध में उठने वाले अनेक प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर देना है। प्रत्येक देश की जनता को विश्व के अन्यान्य देशों का प्राचीन साहित्य एक सामान्य विरासत के रूप में मिला है। ये महान् कृतियाँ उन विचारों पर आधारित हैं और उन वर्गों के प्रतिनिधियों ने उनकी सृष्टि की है जो या तो समाप्त हो गए हैं या जिन्हें हम अपने देश में समाप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनकी कृतियाँ आज भी जनता को सचेतन और जागृत बनाने के लिए क्यों मूल्यवान हैं? वे क्यों आज भी हमारे साहित्य की प्रेरणा बनती हैं? वे क्यों आज भी हमारे संकल्प को बल देती हैं, हमारी सौन्दर्य-भावना का परिष्कार करती हैं, उसे गहरा और मानवीय बनाती हैं? वे क्यों हमारी संवेदनशीलता को उभारती हैं और हमारी जिज्ञासा और विवेक को जगाती हैं? उनका साहित्य क्यों सही अर्थों में जन-साहित्य है? वे क्यों हमें आज भी आनन्द देती हैं और आगे चलकर एक वर्गहीन समाज में भी पाठकों को आनन्द देंगी?

संक्षेप में इन प्रश्नों का उत्तर देकर ही हम अपने लेखकों और पाठकों के सामने विश्व-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता का पूरा अहसास करा सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि महान् लेखकों की रचनाओं में अपने-अपने काल की सामाजिक विचार-धाराएँ व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं। लेकिन इन महान् लेखकों को किसी शोषक वर्ग के खूँटे से बाँधकर जाँचना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्तःसम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उद्घाटन हुआ है। इसी कारण उनकी रचनाओं में शोषण-दोहन की विचार-धाराओं के प्रति गहरे प्रतिवाद की मुखर ध्वनि है और आज़ादी और समानता की भावना के प्रति गहरा मोह है। महान् लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे। वस्तुतः वे अपने काल के वर्ग-समाज के विद्रोही थे। इसलिए महान् लेखक चाहे जिस काल में और चाहे जिस वर्ग में पैदा हुए हों, वे मूलतः मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होंने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानव-मात्र तक प्रसरित हुईं—विश्वजनीन बनीं। आज जब वर्ग-समाज का अभिशाप इतना बढ़ गया है कि विराट् नरमेधों के आयोजन से शोषक-वर्ग का मुनाफ़ा सौगुना बढ़ता है, जब जनता की मुसीबतों से उसकी तिजोरियाँ भरती हैं और जनता के रोदन-चीत्कार से समाज के इन कापालिकों का अट्टहास जगता है—ऐसे समय स्वयं मनुष्य का अध्ययन करना और उसके प्रति आदर-सम्मान का भाव जगाना एक महती आवश्यकता बन गया है। मनुष्य की नैतिक और शारीरिक सुन्दरता और विशिष्टता को, और अन्य लोगों के साथ परस्पर-सहयोग करके रहने की आवश्यकता को स्वीकार किये बिना आज कोई भी समाज-व्यवस्था प्रगति-

शील और जनवादी होने का दावा नहीं कर सकती। शोषण-दोहन, ऊँच-नीच और हत्या-काण्डों पर जीवित रहने वाली व्यवस्था अवश्य ही स्थायी नहीं हो सकती। साहित्य की प्राचीन महाकृतियों का यह सबसे बड़ा सन्देश है कि उनमें मानव की प्रतिष्ठा है।

और महाकृतियों के पात्रों के रूप में प्रतिष्ठित मानव खंडित व्यक्तित्व के एकांगी और विकृत मानव नहीं हैं। महाभारत के पात्रों के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं वे अपने-आप में ही पूर्ण हैं। भीष्म-जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण-जैसा गंभीर और वदान्य, द्रोण-जैसा योद्धा, बलराम-जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रोपदी-जैसी तेजोदृप्त नारियाँ, गान्धारी-जैसी पति-परायणा, श्रीकृष्ण-जैसा उपस्थित-बुद्धि और गंभीर तत्वदर्शी, युधिष्ठिर-जैसा सत्य-परायण, भीम-जैसा मस्तमौला, अर्जुन-जैसा वीर, विदुर-जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।" और आगे, "महाभारत का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू भरे अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पग-पग पर विपत्ति है, पर भय नहीं है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता; ग़लती करने वाला अपनी ग़लती पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है, महाभारत की नारी अपने नारीत्व पर अभिमान करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौंप देता है।..."[१]

यही बात अन्य भारतीय और इतर भारतीय साहित्यों की महाकृतियों से सिद्ध है कि उनके अदना-से-अदना पात्र दुर्दमनीय साहस से जीवन की विषमताओं और विफलताओं का सामना करते हैं, अविचलित रहकर जीवन के समरांगण में जूझते जाते हैं, विपत्तियों को झेलते ह, अपने बुद्धि-विवेक और बल से मार्ग की दुर्गम कठिनाइयों को पार करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। उनकी इस अक्षय जीवट और वीरत्व भावना से हमें आज के कुण्ठापूर्ण जीवन में एक नई चेतना, नया आत्म-बल और नया ढाढस मिलता है कि प्राचीन युगों में न्याय और नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए उन्हें जितने भयंकर तूफ़ानों के बीच से गुज़रना पड़ा था और जितनी वीरता दिखानी पड़ी थी, आज हमें सर्वदा के लिए शोषित-समाज की काल-रात्रि से बाहर निकलकर एक सच्चा मानवीय समाज स्थापित करने के लिए उससे कहीं ज़्यादा भयानक तूफ़ानों के बीच से गुज़रना पड़ेगा और उनसे अधिक वीरता दिखानी होगी। इसके साथ ही इन संघर्षों में मनुष्य ने जिन नैतिक आदर्शों और मानव-मूल्यों की स्थापना की है, वे जीवन की अन्ततः विजय और प्रगतिशीलता में हमारी आस्था उत्पन्न करते हैं। मानव-जाति की ज़रूरतों और हितों की उपेक्षा करके स्वार्थवश सत्ता प्राप्त करने की चेष्टाएँ सामाजिक जीवन के स्खलन और ह्रास का कारण बनती हैं। मनुष्यों

---

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका (पृष्ठ १७८)।

और देवताओं का असम्मान करने से समाजिक जीवन विच्छिन्न होता है। बड़े-बड़े साम्राज्य और फलती-फूलती सभ्यताएँ नष्ट हो जाती हैं, यदि समाज के हित का तिरस्कार किया जाता है। यही पाप होता है। विश्व-साहित्य की महाकृतियों की यह सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा है, जो मानवता को आगे बढ़ने के लिए सतत् उकसाती रहती है।

और फिर, विश्व-साहित्य की महाकृतियाँ हमारे भीतर मनुष्य-जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति जगाती ह। सीता के विलाप, भरत के क्षोभ, लक्ष्मण के क्रोध का प्रसंग पढ़कर हमारे मन में जब वैसी ही सहजानुभूति और उद्वेलन होता है, जब हमें यह प्रतीत होता है कि आज हम जो-कुछ अनुभव करते हैं, ऐसे ही अवसरों पर प्राचीन काल में अन्य लोगों ने भी अनुभव किया था, और उनका वह अनुभव विलक्षण सौन्दर्य और सूक्ष्म-भेदी सचाई के शब्दों में सर्वदा के लिए विजड़ित कर दिया गया है, तो हमें लगता है कि यह हमारी सबसे अधिक मूल्यवान सम्पत्ति है जो मनुष्य के ऐतिहासिक अतीत के साथ हमारी एकता और सम्बन्ध-सूत्रता का भाव जगाकर हमें सौन्दर्यानुभूति कराती है। विश्व हमें अपने वर्तमान गोचर जगत् से कहीं अधिक विशालतर लगने लगता है, साथ ही हम इस युगानुयुगीन विश्व के साथ अत्यधिक सामीप्य का भी अनुभव करते हैं। प्राचीन साहित्य इस प्रकार हमें अपने जीवन की क्षुद्रताओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठने में सहायक होता है, और देश-काल की सीमाओं को तोड़कर हमें मनुष्य के समूचे विकास-क्रम की व्यापक धारा का साक्षात्कार कराता है।

ये कतिपय मानव-मूल्य हैं जो हमें विश्व-साहित्य की महान् कृतियों के अध्ययन से सहज ही प्राप्त होते हैं। ये कृतियाँ आज हमारी जनता में इस विश्व-संकट के समय शान्ति, आज़ादी और जनवाद के संघर्ष में अन्ततः विजयी होने का विश्वास जगा सकती हैं, और हमारे साहित्यकारों को पूर्ण मानव-चरित्रों की सृष्टि करने में योग दे सकती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की माहान् कृतियों ने मनुष्यों के दिमाग़ों को गुलाम नहीं बनाया, उन्हें नया उत्साह और नई प्रेरणाएँ ही दी हैं, क्योंकि महान् कलाकार और उनकी कृतियाँ मूलतः क्रान्तिकारी होती हैं। विज्ञान की ही तरह कला भी मनुष्य की स्वतन्त्रता का अस्त्र है। विश्व-विख्यात मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाक्स के शब्दों में, अतीत के महान् लेखकों ने "मानवीय विकास के महान् युगों के सर्वाङ्गीण और समुचित चित्र हमें दिये हैं और साथ ही वे आज मनुष्य के अखंडित व्यक्तित्व की पुनर्स्थापना करने के विचार-संघर्ष में हमारे लिए आलोक-दीप का भी काम देते हैं।" इसलिए यदि हमारे साहित्यकार अपने युग की चेतना लेकर विश्व के महान् लेखकों की अनुपम कृतियों से सीखेंगे तो निश्चय ही वह आज के जीवन-वास्तव का अधिक व्यापक और मूर्त चित्रण कर पायँगे और आये दिन के साहित्यिक फैशनों से अभिभूत होकर पथ-भ्रष्ट न होंगे।

अगर हम अपने समय की समस्याओं को हल करने में असफल रहे तो सम्भव है कि इस बार हम ही नहीं, बल्कि महा-युद्ध की लपटों में विश्व-मानवता द्वारा अपने रक्त-स्वेद से बनाई हर चीज़ भस्म हो जायगी। महाभारत के इतिहास की विश्व-व्यापी पुनरा-

वृत्ति समग्र मानव-जीवन, सभ्यता और संस्कृति के लिए भयंकर होगी। साहित्य की प्राचीन महाकृतियाँ जहाँ हमारा मनोरंजन करती हैं, हमारी चेतना का सीमा-विस्तार करती हैं, हमारी मानवता का विकास करती हैं, वहाँ वे हमारे अन्दर केवल यह भाव ही नहीं जगातीं कि मानव-मात्र एक है और उनका इतिहास देश-काल की अनेकरूपता के होते हुए भी प्रगति-पथ पर एकोन्मुख है, बल्कि वे हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा भी जगाती हैं ताकि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़ें और समय रहते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को विश्व की शान्ति भंग करने से रोक दें, ताकि हम आप, संसार के सभी मनुष्य जीवित रह सकें, और अपनी बुद्धि और अपने श्रम से एक स्वतन्त्र, जनवादी समाज का निर्माण कर सकें। साहित्य में पूर्ण-मानव की प्रतिष्ठा का संघर्ष इस व्यापक जन-संघर्ष का ही महत्त्वपूर्ण अंग है।

—अक्तूबर १९५१

५

क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?

प्रगतिवादियों के विरुद्ध यह आरोप किया जाता है कि वे साहित्य को केवल प्रचारात्मक बना देना चाहते हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी[1] तथा उनकी ही तरह साहित्य की समस्याओं पर विचार प्रकट करनेवाले अनेक छोटे-बड़े आलोचक केवल इसी बात को लेकर प्रगतिवाद को अपने उचित-अनुचित प्रहारों का निशाना बनाते रहे हैं। साहित्य के साथ प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग करना विशषकर, जबकि साहित्य में 'अमर कलाकारों' की भरमार हो और हमारा सारा साहित्य 'विश्वजनीन' और 'शाश्वत' हो, उनकी दृष्टि में ऐसा जघन्य अपराध है जिसके लिए पाठक प्रगतिवादियों को कभी क्षमा नहीं कर सकते। यह एक 'हेरेसी' है जो सच्चे साहित्य की जड़ें खोदना चाहती है, अतः असह्य तथा दयनीय है !

प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हो सकता है, हुआ है, और आज भी होता है। प्रगतिवादियों ने जब कभी भी उसका प्रयोग किया है तब ऐसे सामान्य अर्थ में कि उससे किसी को विशेष आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहकर उन्होंने उसके उत्कृष्ट भावना-प्रधान, कल्पनाजन्य और कलात्मक गुणों की अवहेलना नहीं की, न उनका बहिष्कार ही आवश्यक समझा है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मैं साहित्य की इस व्याख्या से सहमत हूँ अथवा यह दृष्टिकोण सही है—इसका विवेचन मैं आगे करूँगा। किन्तु जोशीजी और उनकी तरह से सोचनेवाले आक्षेपकर्त्ता, खेद है, प्रगतिवादियों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश न कर उसे ऐसे भद्दे अर्थ पहना देते हैं कि वह निन्दनीय दीख उठता है। मुझे यह स्वीकार करने में ज़रा भी आपत्ति नहीं कि यदि मुझे इन लोगों के लेखों द्वारा ही प्रगतिवाद के दृष्टिकोण का परिचय मिलता, तो मैं उसे इतना वीभत्स और कुत्सित, प्रगतिविरोधी और असाहित्यिक समझता कि मुझे अनायास ही प्रगतिवाद से घृणा हो जाती। मैं समझता कि प्रगतिवाद कला और साहित्य की कलात्मकता और साहित्यिकता तथा अन्य सभी उन गुणों को जो इन्हें सजीव, मधुर और सुन्दर बनाते हैं, नष्ट कर उनके स्थान पर नीरस 'वादों' की व्याख्या, हड़ताल करने के ऐलान और मजदूर-किसान सभाएँ या अन्य पार्टियाँ संगठित करने के कार्यक्रम और प्रदर्शनों में गाने योग्य गीत और नारे भरना चाहता है। किसी भी व्यक्ति को साधारणतया यह मान्य नहीं हो सकता, मुझे भी कैसे मान्य होता ? और मैं श्री इलाचन्द्र जोशी के उपकार को

---

१. **साहित्य सर्जना**—इलाचन्द्र जोशी

मानता हुआ कि उन्होंने प्रगतिवाद के चक्कर में पड़ने से पहले ही मेरी आँखें खोल दीं, प्रगतिवादियों को 'असाहित्यिक पेशेवर प्रॉपैगैण्डिस्ट', 'गड्डलिका-प्रवाह-पन्थी', 'उच्छृङ्खलतावादी', 'धूर्त'[1] आदि दुर्वचनों से सुबह-शाम उनकी स्तुति करता रहता। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं, या हिन्दी के अधिकांश तरुण लेखक, आज इस प्रकार की रचनाओं के मिर्च-मसालेदार साहित्यिक खाद्य से मानसिक-भोजन प्राप्त कर साहित्य-क्षेत्र में नहीं आये हैं, इस कारण प्रगतिवाद के प्रति जोशीजी की घृणा के कीटाणु हमारे दिमागों में घुसकर बीमारी नहीं फैला पाते। लेकिन मुझे आश्चर्य इस बात का है कि लोग कितनी सरलतापूर्वक न्यस्त-स्वार्थ मनोवृत्ति द्वारा उत्पन्न भ्रमों का प्रचार[2] करने लगते हैं। क्योंकि इस दृष्टिकोण का उद्देश्य प्रगतिवाद द्वारा उठाई समस्याओं, उसके वक्तव्यों और उसके दृष्टिकोण को समझकर अपनी रचनात्मक आलोचना देना नहीं है, बल्कि उसपर कल्पित आरोप लगाकर ऐसे भ्रमों की सृष्टि करना है जो प्रगतिवाद को बदनाम कर दें, उसके स्वाभाविक विकास को रोक दें और वर्तमान पूंजीवादी समाज की साहित्यिक अराजकता और मानसिक विशृङ्खलता को भी ज्यों-का-त्यों क़ायम रक्खें। 'प्रचारात्मकता' के नाम पर प्रगतिवाद के विरुद्ध स्वर ऊँचा करने वाले ये महाशय अपने कथनों के अर्थारोप स्वयं नहीं समझते या जानकर भी वे अनजान बने हैं, अतः 'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है ?' प्रश्न पर विचार करते समय हम इन प्रगतिवाद-विरोधी सज्जनों के आक्षेपों और मतों पर ध्यान न देंगे क्योंकि तर्क के अभाव के कारण वे समस्या को समझने में मदद नहीं देते। इसमें सन्देह नहीं है कि अधिकांश प्रगतिवादियों का[3] यह मत रहा है कि साहित्य प्रॉपैगैण्डा है या प्रॉपैगैण्डा का साधन है, किन्तु वे प्रॉपैगैण्डा शब्द का प्रयोग किन अर्थों में करते हैं, यह स्थापना सही है या ग़लत है, इसपर हमें स्वतन्त्र रूप से विचार करना चाहिए।

१. **साहित्य-सर्जन**—इलाचन्द्र जोशी

२. **खेद है कि 'प्रचार' प्रॉपैगैण्डा का पर्याय है और जोशीजी तथा उनके सहधर्मियों द्वारा प्रतिपादित बातों को 'प्रचार' कहकर मैं उनके प्रति असम्मान प्रकट नहीं करना चाहता, तो भी किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में इस 'गर्हित-वर्जित' शब्द का आश्रय लेना पड़ रहा है।**—लेखक

३. **प्रगतिवादियों से मेरा अभिप्राय यहाँ उन लेखकों से है जो किसी-न-किसी रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार करते हैं या उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं। मार्क्सवाद को स्वीकार करना एक प्रगतिवादी के लिए आवश्यक है या नहीं, यह एक दूसरा विषय है, और यहाँ इस बहस में पड़ने से विषयान्तर होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है कि प्रचारात्मकता का आरोप विशेषकर इसी दृष्टिकोण से प्रभावित प्रगतिवादियों पर किया जाता है, अन्यथा श्री इलाचन्द्र जोशी स्वयं अपने को प्रगतिवादी समझने में अपना गौरव समझते हैं। फ्रायड और युङ्ग के मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर उन्होंने जो अधकचरे साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त (?) 'प्रतिपादित' किये हैं और इन्हीं विचारकों द्वारा एकत्र**

'समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' यह मत कैसे और किसके द्वारा प्रतिपादित किया गया और आगे चलकर किन लेखकों ने क्यों इसकी पुष्टि की, इसका क्रमबद्ध विवरण देना कठिन है और आवश्यक भी नहीं है। लेकिन मुझे जहाँ तक याद पड़ता है, रूस की क्रान्ति के अवसर पर यह नारा लगाया गया कि 'साहित्य वर्ग-युद्ध का एक हथियार है।' यह एक ग़लत नारा था। किन्हीं ख़ास परिस्थितियों में कोई नारा किस प्रकार उठाना चाहिए, यह साधारण कार्य नहीं है क्योंकि उन परिस्थितियों की तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य-संगठन करने के उद्देश्य से जन-समूह को प्रेरित करने के लिए ही केवल नारा नहीं लगाया जाता—ऐसा नारा तात्कालिक आवश्यकताओं से इतना आबद्ध रहेगा कि परिस्थितियों के बदलने पर वह एकदम बेकार हो जायगा और कदाचित् नई परिस्थितियों के विपरीत पड़कर वह उनके विकास में बाधक हो उठे। भावों और विचारों में मनुष्य के मस्तिष्क में चिपके रहने की ऐसी आदत होती है कि नई तथा विपरीत परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने पर भी उनका उन्मूलन नहीं हो पाता। अतः केवल सम-सामयिक उपयोग के नारे आगे के विकास में बाधाएँ भी डाल सकते हैं। सही नारा वही होता है जिसके आधार पर नई परिस्थितियों के अन्दर प्रयोग में लाने के लिए नई नीति का विकास किया जा सके, अर्थात् जिसमें भावी वास्तविकता की सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हों तथा जो जन-समूह में ऐसी मिथ्या आशाएँ न उत्पन्न करे, जिनकी कभी पूर्ति नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से देखने से यह नारा दोषपूर्ण ठहरता है, क्योंकि जबतक रूस में वर्ग-युद्ध था उसी समय तक उसका उपयोग भी था, यद्यपि उस अवस्था में भी उसने साहित्य और कला की समस्याओं को बहुत हल्का करके तोलने की कोशिश की थी। इस नारे को मान्य मानकर प्रत्येक लेखक के लिए यह ज़रूरी हो गया कि वह केवल पूंजीपति और मज़दूर, श्वेत सेना या लाल सेना, ज़ारशाही और बॉल्शेविक पार्टी, कुलक और किसान के सङ्घर्षों का, शोषित वर्गों की विजय-कामना प्रकट करते हुए, ज्यों-का-त्यों तथा सीधा राजनैतिक वर्णन ही करे। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि इन सङ्घर्षों का वर्णन करके उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं की जा सकती; की जा सकती है और उसके उदाहरण मौजूद हैं। परन्तु वहाँ ऐसी कृत्रिम स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि लेखक यदि मज़दूर के व्यक्तिगत जीवन के प्रेम और विरह, आशा और निराशा आदि पहलुओं का वर्णन करता था तो चूंकि उसमें सीधे रूप से शोषकवर्ग पर आक्रमण न किया जाता था, इस कारण यह समझा जाने लगा कि वह वर्ग सङ्घर्ष के हथियार को कुन्द बना रहा था। इसके अतिरिक्त इस नारे में विरासत रूप में मिले प्राचीन साहित्य के प्रति एक नकारात्मक भाव भी था जिससे सामाजिक विकास के साथ-साथ बढ़नेवाली साहित्य

किये विकृत मन के रोगियों के जीवन-चरितों को जोड़-तोड़कर जोशीजी ने अपने उपन्यासों में जिन विक्षिप्त चरित्रों का निर्माण किया है—इस सारे कृतित्व के बल पर वे अपने को 'सच्चा प्रगतिवादी' घोषित करते हैं। यह 'सच्चा प्रगतिवाद' वास्तव में कहाँ तक 'सच्चा' है इस पर भी यहाँ कुछ कहना अनुपयुक्त होगा।—लेखक

की ऐतिहासिक परम्पराओं का तिरस्कार किया गया क्योंकि वे आज की क्रान्ति में वर्ग-युद्ध का तेज़ हथियार न बन सकती थीं। इस प्रकार इस नारे ने साहित्य और कला की उपयोगिता को बहुत सीमित करके देखा। फलतः इस नारे को अपनाकर लेखकों की संस्था R. A. P. P. ने रूस के लेखकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये, जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रोलेतेरियन (श्रमजीवी) साहित्य प्रॉपैगैण्डा-प्रधान हो गया। गोर्की, स्टालिन तथा अन्य कई लेखकों ने इस ग़लत नारे के दुष्परिणामों का अनुभव किया और R. A. P. P. तोड़ दी गई और लेखकों का एक नया सङ्गठन बनाया गया जिसने 'समाजवादी यथार्थवाद' का (समाजवादी रोमैण्टिसिज़्म भी जिसके अन्तर्गत है) नारा बुलन्द किया। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य के एक विशिष्ट दृष्टिकोण और उसकी एक विशिष्ट शैली का द्योतन करता है अर्थात् वह साहित्य या कला की वस्तु और रूप-योजना दोनों को घेर लेता है। इसके अतिरिक्त उसमें प्राचीन साहित्य की सजीव परम्पराओं को ग्रहण करने, नई परिस्थितियों के अनुकूल उनका विकास करने एवं कला और साहित्य को एक ऐसा मार्ग देने की सम्भावनाएँ मौजूद हैं जिसकी अगली मंज़िलें भविष्य के गर्भ में हैं। किन्तु अबतक 'साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' का नारा विस्मृत नहीं हो सका है, और आवेश में आकर हमारे लेखक इसे दुहराते जाते हैं। यहाँ तक कि अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक जोज़ेफ़ फ़्रीमेन ने भी 'संयुक्त राष्ट्र में श्रमजीवी साहित्य' पुस्तक की भूमिका में एक स्थान पर कुछ ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने लिखा है कि 'कला का, जो वर्ग-युद्ध का एक साधन-यन्त्र है, मज़दूर-वर्ग को अपने एक हथियार के रूप में विकास करना चाहिए।' उनका कहना है कि कला 'अनुभव का विनिमय' करती है। लेकिन 'अनुभव' शब्द के अन्दर उसकी पकड़ छिपी है। पूंजीजीवी विचारक या आलोचक मज़दूर वर्ग के जीवन की अभिव्यञ्जना को अनुभव के अन्तर्गत नहीं मानते, बल्कि किसी स्त्री के उरोजों की उपमाओं से भरे वाक्य-चमत्कारों को ही 'अनुभव' मानते हैं। फ़्रीमेन के पूरे लेख को पढ़ने से यह धारणा तो निर्मूल हो जाती है कि वे इस नारे के अर्थ में साहित्य को वर्ग-युद्ध का हथियार मानते हैं। फ़्रीमेन का केवल यह कहना है कि साहित्य का प्रयोग चूँकि पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के निमित्त कर रहा है, ऐसी दशा में श्रमजीवी वर्ग को भी उसका उपयोग अपने हितों की रक्षा और संघर्ष के विकास में करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि समूचा साहित्य मात्र वर्ग-युद्ध का हथियार है अथवा उसे होना चाहिए। तो भी ऐसे वाक्यों का प्रयोग यदि सावधानी से किया जाय तो अच्छा है यद्यपि इससे, खेद है, हमारे बहुत से पूंजीजीवी आलोचकों की मौक़े-बेमौक़े फ़तवा देने की रोज़ी छिन जायगी।

चूँकि योरॅप के अन्य देशों में वर्ग-युद्ध ने एक सफल क्रान्ति का रूप धारण न कर पाया अतः वहाँ साहित्य को वर्ग-युद्ध का हथियार घोषित करने की उतनी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई जितनी प्रचार का साधन बनाने की, जिससे मज़दूर वर्ग का सङ्गठन किया जा सके, उसके अन्दर समाजवाद और क्रान्ति की चेतना फैलायी जा सके। शायद इसीलिए वहाँ किसी ने यह नारा ईजाद किया कि समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है या होता है। पाठकों

ने सम्भव है, अमेरिका के प्रसिद्ध समाजवादी उपन्यासकार अप्टन सिन्क्लेयर की पुस्तक 'Mammonart' पढ़ी हो। आलोचना-साहित्य की दृष्टि से पुस्तक साधारण कोटि की है और वह प्रगतिवाद के समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। लेकिन उसमें प्रारम्भ से लेकर रूस की समाजवादी क्रान्ति तक के योरॅप और अमेरिका के सभी महान् लेखकों और कलाकारों की कृतियों का मूल्याङ्कन इस दृष्टिकोण को सामने रखकर ही किया गया है कि वे अपने समय के किसी-न-किसी वर्ग की भावनाओं का प्रॉपैगैण्डा करती थीं। अप्टन सिन्क्लेयर के अनुसार समस्त साहित्य प्रॉपैगैण्डा है, सार्वभौम तथा अनिवार्य रूप से, कभी अज्ञात रूप से, अन्यथा अधिकतर ज्ञात रूप से। कला जीवन की अभिव्यक्ति है जो कलाकार के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है और उसका उद्देश्य अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करना और उन्हें भाव, विश्वास और कार्य-परिवर्तन के लिए प्रेरित करना होता है। महान् कला का जन्म तभी होता है जब जीवन्त तथा महत्त्वपूर्ण प्रॉपैगैण्डा कलात्मक नैपुण्य के साथ किसी कला-विशेष के माध्यम द्वारा किया जाता है। सिन्क्लेयर का कहना केवल इतना है कि यह दावा करना कि कला में प्रॉपैगैण्डा को स्थान नहीं है तथा कला का स्वतन्त्रता और न्याय की भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, एक प्रवञ्चना है, एक ऐसा भ्रम है जिसे न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों ने फैला रखा है। इसके विपरीत उनके अनुसार कला में प्रॉपैगैण्डा ही प्रधान प्रेरणा है। क्योंकि साहित्य और कला की प्रत्येक रचना किसी-न-किसी भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, और चूंकि अब तक समाज दो या दो से अधिक परस्पर-विरोधी वर्गों में बंटा रहा है, इस कारण यह भाव, विचार, विश्वास या दृष्टिकोण किसी-न-किसी वर्ग के अनुकूल या प्रतिकूल अवश्य रहते हैं और जब तक मनुष्य वर्गहीन समाज नहीं बना लेता तब तक कला-साहित्य का प्रधान गुण प्रॉपैगैण्डा ही रहेगा। यदि सिन्क्लेयर की प्रॉपैगैण्डा की इतनी व्यापक व्याख्या स्वीकार करली जाय तो प्रॉपैगैण्डा कला और साहित्य का एक सीमा तक सामान्य गुण कहा जा सकता है। पर केवल एक सीमा तक ही।

सामान्यत: जो लोग आजकल प्रगतिवादियों पर प्रॉपैगैण्डा के नाम से दोष मढ़ते हैं वे प्रॉपैगैण्डा के इतने ही व्यापक अर्थ समझते हैं यद्यपि उसका जो पहलू प्राचीन साहित्य और पूंजीवादी साहित्य पर लागू होता है उसे मानने को तैयार नहीं होते। इन व्यापक अर्थों में प्रॉपैगैण्डा शब्द से शायद पुराने लेखक और कलाकार इतना न चिढ़ते, वे शायद इसे स्वीकार भी कर लेते।

वीरगाथा-काल के कवियों को यह स्वीकार करने में क्या संकोच होता कि वे अपने शासक या नरेश के वैभव और पराक्रम की गाथाएँ लिखकर उनका प्रभाव बढ़ाना चाहते है, और क्या यह प्रॉपैगैण्डा न हुआ ? आल्हा, पृथ्वीराज रासो तथा तत्कालीन काव्य-ग्रन्थों में क्या प्रॉपैगैण्डा नहीं है ? और यह बात भी नहीं है कि चन्दबरदाई को निम्नकोटि का कवि समझा जाता हो। इसी प्रकार भक्ति-कालीन कवियों ने वैष्णव तथा सूफ़ी मतों का प्रचार किया था। तुलसीदास जी की रामायण में ऐसे कितने स्थल नहीं हैं जहाँ उन्होंने पाठकों को राम की भक्ति और उपासना करने के लिए प्रेरित किया है और राम से विमुख जानेवालों

के लिए रौरव नरक की भीषण यातनाओं की तसवीर खींची है ?[१]

मीरा और सूरदास के पदों में भी प्रचार की मात्रा कम नहीं है। फिर भूषण तो, जिन्हें हमारे आलोचक महाकवि स्वीकार करते हैं, यद्यपि यह विवादास्पद है, अपनी रचनाओं द्वारा खुलेआम महाराज शिवाजी का प्रॉपैगैण्डा करते थे। उनकी शिवा-बावनी आदि से अन्त तक प्रॉपैगैण्डा-प्रधान है। इसी प्रकार आधुनिक लेखकों की रचनाओं में किसी वर्ग या सम्प्रदाय का प्रॉपैगैण्डा साबित किया जा सकता है। प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, टैगौर और इक़बाल की कृतियों में भी, जो इस युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हुए हैं, प्रॉपैगैण्डा की कमी न मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि इस दृष्टिकोण से देखने से कला और साहित्य की सभी कृतियों में प्रॉपैगैण्डा दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। पुराने ज़माने के लेखक इसे स्वीकार करने से कभी इन्कार न करते, क्योंकि वे इस बात से इन्कार न कर सकते थे कि साहित्य और समाज में अविच्छिन्न सम्बन्ध है या कि साहित्य-समाज का एक अङ्ग है और वह जीवन की अभिव्यञ्जना करता है—यद्यपि साहित्य के उपयोग और उद्देश्य के बारे में किसी सामाजिक दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्य आँकने की भाषा से वे अवगत न थे। किन्तु आज के लेखक अक्सर इसे स्वीकार नहीं करते। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि कलाकार समाज की क्रियाशीलता से इतना दूर होगया है कि उसके मस्तिष्क में 'कला कला के लिए' की भ्रामक पूँजीवादी धारणा ने स्थान जमा लिया है। दूसरा यह कि आज वर्ग-संघर्ष इतना तीव्र हो गया है कि इसे स्वीकार करने के अर्थ हैं कि या तो लेखक यह मान ले कि वह पूँजीपति वर्ग का प्रॉपैगैण्डा करता है, जो कि एक श्रेष्ठ लेखक कभी कहना मंजूर न करेगा, क्योंकि पूँजीपति वर्ग ने उसका भी शोषण कर रखा है, या फिर वह यह स्वीकार करले कि वह श्रमजीवी वर्ग का प्रॉपैगैण्डा करता है, जो कि कहना उसके लिए अनेक कष्टों और यातनाओं और अभिजात वर्ग की उपेक्षा और निन्दा का कारण हो सकता है। अतः आज लेखक 'संघर्ष से परे रहने' या तटस्थ रहने का उपक्रम करता है, यद्यपि वह ऐसा कर नहीं पाता। विगत युगों के लेखक इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी अवस्थाओं से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व से बचे रहते थे। उन युगों में वर्गों का संघर्ष अपने ऐतिहासिक विकास की उस प्रारम्भिक अथवा मध्य अवस्था में था जब लेखक या कलाकार के सामने दो में से एक वर्ग का दामन पकड़ना अनिवार्य न हो गया था। अतः प्रगतिवादियों ने यदि कभी साहित्य को प्रॉपैगैण्डा माना है तो इसी अर्थ में, किसी दूसरे अर्थ में नहीं। यहाँ यह बात विचारणीय है कि हमारे ये कतिपय आलोचक चन्दबरदाई या भूषण की कविता में अथवा अपनी रचनाओं में व्यक्त उद्गारों में किसी वर्ग का प्रॉपैगैण्डा नहीं देखते। यदि कोई राजकुमारों

---

१. तुलसीदास जी के इस वर्णन को प्रॉपैगैण्डा न मानकर यदि 'शाश्वत सत्य' मान लिया जाय तो मुझे भय है कि आजकल के भौतिकवादी युग में रौरव-नरक के बन्दियों की संख्या इतनी बढ़ गयी होगी कि यमराज को ब्रिटिश सरकार की तरह 'डिटेन्शन कैम्प' खुलवाने पड़ रहे होंगे! —लेखक

और राजकुमारियों, कोमलाङ्गियों और सूट-बूटधारी पुरुषों के विषय में लिखता है तो वह उनकी दृष्टि में प्रॉपैगैण्डा नहीं है किन्तु यदि कोई किसान, मज़दूर या मुफ़लिसों की बस्तियों के बारे में लिखता है तो वह प्रॉपैगैण्डा है।[1] अतः यदि कुछ आलोचक प्रगतिवादियों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे समीक्षा-सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि देकर प्राचीन-साहित्य अथवा आधुनिक-साहित्य के अन्दर शासक-वर्गों की भावनाओं की अभिव्यक्ति ढूंढ़ कर उसे प्रॉपैगैण्डा कहते हैं तो प्रगतिवादी भी न्यायपूर्वक उनपर आरोप लगा सकते हैं कि वे प्रगतिवादी साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहते हैं। और खेद इस बात का है कि साहित्य-समीक्षा की प्रणाली की अवहेलना पर रोष प्रकट करने वाले ये आलोचक ही उस प्रणाली का तिरस्कार करने का सबसे पहला अपराध करते हैं। प्रगतिवादी यदि पूंजीपति वर्ग के प्रॉपैगैण्डा का आरोप करते हैं तो आलोचक मज़दूर वर्ग केप्र ॉपैगैण्डा का। प्रगतिवादियों में कम-से-कम इतनी ईमानदारी तो अवश्य है कि समस्त साहित्य को प्रॉपैगैण्डा कहकर वे समस्त साहित्य की राशि में शामिल अपने साहित्य को भी प्रॉपैगैण्डा स्वीकार करत हैं, तथा प्रॉपैगैण्डा को अपने में एक बुरी चाज़ नहीं मानते। बुरा मानते हैं तो केवल शोषक वर्गों के प्रॉपैगैण्डा को, क्योंकि वह शोषण के क़ायम रखने का साधन बनता है। इसके विपरीत प्रगतिवादियों के विरोधी प्रापैगैण्डा को हेय मानते हैं, लेकिन पूंजीपति वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति को प्रॉपैगैण्डा नहीं मानते; उन्हें मनुष्य की शाश्वत भावनाएँ मानते हैं, और मज़दूर वर्ग की भावनाओं को प्रॉपैगैण्डा* कहते हैं अर्थात् उसे हेय समझते हैं। लेकिन यह तो एक विवाद की बात हुई। वास्तव में क्या सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है? यदि सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है तो निश्चय ही पूंजीपति वर्ग की अपेक्षा मज़दूर वर्ग का प्रॉपैगैण्डा ज़्यादा अच्छा है।

अमेरिका के एक दूसरे प्रसिद्ध आलोचक-उपन्यासकार जेम्स० टी० फ़रेल ने, जो समाजवादी हैं, अपनी पुस्तक 'A Note on Literary Criticism' में इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि हमें सबसे पहले प्रॉपैगैण्डा शब्द की व्याख्या निश्चित कर लेनी चाहिए। लेनिन की पुस्तक 'What Is To Be Done?' से एक उद्धरण देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रॉपैगैण्डा किन्हीं सिद्धान्तों, योजनाओं तथा विचारों का प्रचार होता है ताकि किसी कार्यक्रम के अनुसार शीघ्र ही अमल किया जा

---

१. **किसान, मज़दूरों या मुफ़लिसों की बस्तियों के बारे में लिखना वे वर्जित नहीं बताते और यदि इस वर्णन में किसी मज़दूर से मिल-मालिक की लड़की की या ज़मींदार के बेटे से किसान की बेटी की शादी करके 'लोक-कल्याण' की भावना का पोषक, गांधी जी की भाषा में 'हृदय परिवर्तन', कर दिया जाता है तो ये आलोचक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते भी नहीं थकते। प्रॉपैगैण्डा का लेबिल तभी चिपकाया जाता है जब इस वर्णन में अन्त तक वर्ग-संघर्ष का निर्वाह रहता है, जैसे विद्युत-यन्त्रों के आस-पास 'ख़तरा है' की नोटिस टाँग दी जाती है। इस प्रकार तह में घुसने पर प्रॉपैगैण्डा के प्रश्न के नीचे दृष्टिकोण का प्रश्न छिपा हुआ है।**—लेखक

सके। फ़रेल का कथन है कि यदि इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो साहित्य को प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मार्क्स का 'कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो' प्रॉपैगैण्डा की चीज़ होकर भी न केवल विचार-परिपाक का सुन्दर नमूना है बल्कि एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना भी है; इसके विपरीत आन्द्रे मालरो का उपन्यास 'Man's Fate' यद्यपि एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है, तथापि प्रॉपैगैण्डा की दृष्टि मे उसके विचार विवादास्पद हैं। अतः साहित्य और प्रॉपैगैण्डा दो भिन्न चीजें हैं, यद्यपि दोनों का किसी भी रचना में सम्मिश्रण भी होता रहता है। फ़रेल ने इससे यह सिद्ध किया है कि साहित्य के अपने अलग नियम होते हैं जिनसे उसकी उत्कृष्टता का अन्दाज़ा लगाया जाता है। साहित्य में केवल सामयिक तत्व ही नहीं होते, बल्कि कुछ ऐसे भी तत्व होते हैं जो उसे सापेक्ष्य स्थायित्व का गुण प्रदान करते हैं। अतः फ़रेल की राय है कि 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' इस नारे को त्याग देना चाहिए और उसके स्थान पर 'साहित्य सामाजिक-प्रभाव का अस्त्र है' रखना चाहिए।

जेम्स टी० फ़ेरेल से मैं कहाँ तक सहमत हूँ, यह ज़्यादा महत्त्व की बात नहीं है, यद्यपि यह स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि मैं फ़रेल द्वारा की गयी प्रॉपैगैण्डा की व्याख्या से सहमत हूँ। महत्त्व की बात यह प्रश्न है कि साहित्य की ऐसी समाजशास्त्रीय व्याख्याओं की आवश्यकता क्यों पड़ती है और ये व्याख्याएँ चाहे जितनी सर्वमान्य क्यों न हों, कहाँ तक साहित्य की परिभाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं, अर्थात् कहाँ तक वे हमें साहित्य का मूल्याङ्कन करने में सहायता देती हैं, अतः हमारे समीक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित की जा सकती हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'पल्लव' की भूमिका का यह वाक्य कि 'हम व्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्द हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है' विचारणीय है। इस वाक्य की शैली चाहे आज कितनी ही अलंकृत और पुरानी क्यों न लगे—या अनुपयुक्त भी कह सकते हैं—लेकिन यह समीक्षा-प्रणाली के एक नये विकास की ओर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश करता है। पहले जब सामन्ती काल में कविता मनोरञ्जन या आनन्द प्रदान करने के लिए लिखी जाती थी, तब कविता का 'उद्देश्य' केवल रस का उद्रेक करना था। और समाज का सङ्गठन ऐसा था कि कविता या साहित्य के 'उपयोग' का कभी प्रश्न ही नहीं उठता था। 'उद्देश्य' के अन्दर ही 'उपयोग' शामिल था, अर्थात् दोनों को एक ही मान लिया गया था। और इस 'उद्देश्य' या उसमें शामिल 'उपयोग' की सीमाएँ बहुत संकीर्ण थीं। इस कारण इस 'उद्देश्य' की प्राप्ति के लिए इसी सीमित परिधि के अन्दर प्रयोग किये जाते थे और इन प्रयोगों को सफल बनाने के प्रधान अस्त्र थे: अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्तियाँ, वक्रोक्ति, गुण आदि। जहाँ तक समाजशास्त्र, दर्शन या मनोविज्ञान का सम्बन्ध था, उनके अपने अलग बाड़े थे, और यह आवश्यक न समझा जाता था कि इन सब बाड़ों में यातायात की आवश्यकता है। यह रीतिकाल की बात है। उसके पहले भी भक्तिकाल में जब काव्य की आत्मा के स्थान पर धर्म और नैतिकता विराजमान थे, आलोचना-पद्धति

किसी सामाजिक दृष्टिकोण का अवलम्बन लेकर काव्य का मूल्यांकन नहीं करती थी। छन्द-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र, ये ही काव्य-समीक्षा रथ के दो पहिये थे; और रसवाद का सिद्धान्त उसके लक्ष्य या उद्देश्य की ओर एक अस्पष्ट इशारा-मात्र करता था। भाव या रूप के 'सौन्दर्य' का कुछ नियमों के अनुसार निरूपण करना ही शास्त्रीय समीक्षा का उद्देश्य था। काल-स्थित समाज में काव्य या साहित्य का क्या उपयोग है, और उसके अनुकूल उसका क्या उद्देश्य है, अर्थात् उसका संविधायक पहलू क्या है, इस ओर किसी का ध्यान न जाता था मानो ये प्रश्न साहित्य या कला के मूल्यांकन में असङ्गत हों; और न कविता या साहित्य की सृष्टि के मानसिक उद्गम तक पहुँचने की कोशिश होती थी, अर्थात् मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की आवश्यकता न समझी जाती थी—सत्य तो यह है कि यह शास्त्र उस समय न हमारे यहाँ था और न योरॅप में ही। अतः कुछ मनस्थितियों या मनोविकारों के वर्णन तक ही समीक्षा सीमित थी, जिसमें शृंगार या वात्सल्य, वीर या रौद्र, अद्भुत या वीभत्स, करुण या हास्य रसों के, जो मनस्थितियों का द्योतन करते हैं, परिपाक को दिखाकर विश्रान्ति ले ली जाती थी। इस प्रकार हमारी प्राचीन समीक्षा-प्रणाली का क्षेत्र इतना संकीर्ण था कि समाजशास्त्र और मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण शास्त्र के विकास के साथ—यद्यपि इन दोनों शास्त्रों का विकास योरॅप में हुआ—उसकी संकीर्ण सीमाओं का टूटना आवश्यक हो गया, और कविता या साहित्य जो अब तक प्राचीन समीक्षाशास्त्र की शृङ्खलाओ में जकड़ा था, उसको भी नये ज्ञान के साथ अपना सीमा-विस्तार करने की आवश्यकता पड़ी। यदि इन बातों को ध्यान में रखकर पन्तजी के उद्धरण को देखें तो उसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। ब्रज-काव्य-प्रणाली की 'संकीर्ण कारा में बन्द हो' 'वायु की न्यूनता' मे 'आत्मा का सिसक उठना' और 'शरीर का विकास रुक जाना' इस अनुभूति का द्योतक है कि काव्य और साहित्य का विकास तब तक रुका रहेगा जब तक उनका सीमा-विस्तार नहीं किया जाता; और यह सीमा-विस्तार समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के नये दृष्टिकोण का भी सूचक है, कि समीक्षाशास्त्र को भी 'छींट की चोली' का रङ्ग-बिरङ्गापन ही नहीं देखना चाहिए बल्कि यह भी देखना चाहिए कि 'वायु की न्यूनता' से आत्मा और शरीर का विकास तो नहीं रुकता। इस सांकेतिक शब्दावली को हटा दें तो इसका अर्थ है कि काव्य और साहित्य के उद्देश्य और उपयोग को हमें फिर से जाँचना चाहिए और उनके जाँचने के लिए हमें सामाजशास्त्र और मनोविज्ञान के मापदण्डों का भी प्रयोग करना चाहिए। तो कहने का तात्पर्य यह कि समाजशास्त्र के मापदण्डों से मूल्यांकन करने की प्रथा का श्रीगणेश प्रगतिवादियों के पहले ही शुरू हो गया था। साहित्य के संविधायक पहलू पर विचार किया जाने लगा था। और 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है', साहित्य के इसी संविधायक दृष्टिकोण का एक एकांगी और यान्त्रिक उत्तर है। लेकिन यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रॉपगैण्डा या सामाजिक-प्रभाव का अस्त्र कहकर आज के समाज में उसके एक महत्त्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है, और केवल इस दृष्टि से खरी उतरने वाली कोई रचना अपने में श्रेष्ठ रचना नहीं हो

जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप-योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी उसे कसना आवश्यक है, और प्रगतिवादी इन सब कसौटियों पर किसी भी काव्य या साहित्य-कृति का कसना आवश्यक समझते हैं, उनके महत्त्व को जानत हैं, यद्यपि आज के संक्रमण-काल में वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि में रखकर उनका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते रहे हैं। इसके अनेक कारण हैं। पहला तो यह कि आज के समाज में कला-साहित्य का उपयोग अनेक राजनीतिक और आर्थिक हितों को दृष्टि में रखकर किया जा रहा है, और जो समाज-व्यवस्था को बदलने में संलग्न शक्तियाँ हैं वे कला-साहित्य के प्रभाव को समझ कर भी उन्हें इस विश्वव्यापी संघर्ष में प्रगतिशील शक्तियों के शक्ति-वर्धन का साधन न बनायें यह उनकी बुद्धिमत्ता का प्रमाण न होगा—यह भाव कला या साहित्य के प्रति अवज्ञा या उपेक्षा का सूचक नहीं, वरन् उनके महत्त्व और उनकी शक्ति के प्रति स्वीकृति का द्योतक है; न यह भाव इस बात का सूचक है कि प्रगतिवादी कला और साहित्य के सौन्दर्यगत मूल्य की क़द्र नहीं समझते; और न इसका यह अर्थ है कि प्रगतिवादी साहित्य के संविधायक पहलू पर ज़ोर देकर लेखकों से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि कलात्मक दृष्टि से उनकी रचनाएँ चाहे न कुछ हों लेकिन आज की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर उनके वक्तव्य चौकस होने चाहिएँ। दूसरा यह कि प्रगतिवादी यह जानते हैं कि केवल रचना-कौशल के कारण ही, और वाक्य-विन्यास या शैली और कला के कारण ही कोई रचना श्रेष्ठ नहीं वन सकती, न पहले कभी बनी—चाहे तब समीक्षक इस पहलू से अवगत न हों, या उसे आवश्यक न समझते हों—न आज बन सकती है, और उसका मूल्याङ्कन करने के लिए उसमें व्यक्त विचार-वस्तु और सामाजिक दृष्टिकोण को जाँचना भी आवश्यक है, अर्थात् कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोग से अलग नहीं किया जा सकता, ये दोनों उसके आवश्यक अङ्ग हैं। प्रगतिवादियों पर यदि किसी बात का न्यायोचित आरोप किया जा सकता है तो केवल इस बात का कि वे कला और साहित्य के सामाजिक दृष्टिकोण अर्थात् उसके उद्देश्य और उपयोग को ठीक-ठीक स्पष्ट रूप से आंक लेना चाहते हैं और कोरी वायवी, या काल्पनिक, या आदर्शवादी, भावुकता-प्रधान स्थापनाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं। साहित्य को इतने विस्तृत चौखटे के अन्दर रखकर देखने का प्रयत्न तो अभी शुरू ही हुआ है, अतः प्रगतिवादी इस नये दृष्टिकोण को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने की ओर प्रयत्नशील हैं, अभी या कभी वे अन्तिम निर्णय पर पहुँच जायेंगे, ऐसा कोई भ्रम उन्हें नहीं है। लेकिन सत्य को अधिकाधिक प्राप्त करने का एकमात्र यही तो तरीक़ा है कि हम नित्य नये अनुभव से अपनी स्थापनाओं को समृद्ध बनाते जायें।

इन विचारों की दृष्टि में यदि हम पुनः 'क्या साहित्य प्रॉपैगैण्डा है?' प्रश्न को जाँचें तो हमें उस पर नयी रोशनी पड़ती दिखायी देगी। 'सारा साहित्य प्रॉपैगैण्डा है' की स्थापना को अब हम आसानी से अस्वीकृत कर सकते हैं, क्योंकि इस स्थापना में प्रॉपैगैण्डा की

व्याख्या के अनुसार प्रॉपैगण्डा और अभिव्यक्ति को पर्याय मान लिया गया है। लेकिन योजना पर अमल करने या अमल कराने के लिए जनसमूह या उसके किसी अङ्ग को प्रेरित करना एक चीज है और व्यक्ति या समूह के विचारों या भावनाओं की अभिव्यक्ति करना एक दूसरी चीज है। पहला प्रॉपैगैण्डा है, दूसरा प्रॉपैगैण्डा नहीं है। यदि साहित्य में अनिवार्यतः विचारों या भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है तो उसे प्रॉपैगैण्डा नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि सामाजिक क्रियाशीलता की अभिव्यंजना का साहित्य पाठक को भी उसकी अनुभूति कराता है पर इससे वह प्रॉपैगैण्डा का पर्याय नहीं बन जाता। लेकिन फ़रेल की यह स्थापना भी उपयुक्त नहीं है कि 'साहित्य सामाजिक प्रभाव का अस्त्र है।' यह एक स्वयं-सिद्ध है, उसी तरह की कि आदमी बुद्धि-धारी जानवर होता है, और 'अस्त्र' जोड़ देने से वह स्वयं-सिद्धि न तीव्र हो जाती है न प्रभावपूर्ण। उसके स्थान पर 'साधन', 'चीज़', आदि भी उपयुक्त रहते। इसके अतिरिक्त 'सामाजिक प्रभाव' बड़ा कमज़ोर वाक्यांश है, क्योंकि 'प्रभाव' शब्द को सीधे तौर पर सामाजिक प्रगति की अपेक्षा में मापना कठिन है और सामाजिक प्रगति में इस प्रभाव की क्या सक्रिय भूमिका रहती है इसका बहुत क्षीण आभास इस शब्द से मिलता है। जिस क्रान्तिकारी युग में हम रहते हैं, उसकी वास्तविकता के मुकाबले में यह अभिव्यक्ति अत्यन्त लचर है। फिर साहित्य केवल सामाजिक प्रभाव का ही अस्त्र नहीं है वह सामाजिक परिवर्तन का भी अस्त्र है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्य वह भाव-प्रधान चेतना-शक्ति उत्पन्न करता है जो मनुष्य के भाव-जगत को परिवर्तित कर इतना विस्तृत बना देती है कि वह हमारे अन्दर देखने और अनुभव करने की क्षमता पैदा कर हमें विगत तथा पुरातन के विकसित-परिवर्तित रूप आगत तथा नवीन को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करती है। चेतना और भाव-जगत का यह परिवर्तन भौतिक जीवन की आवश्यकताओं से प्रभावित होता है और पुनः वह भौतिक जीवन को बदलकर एक उच्च धरातल पर सङ्गठित करने की शक्ति प्रदान करता है। यह भाव-जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जीवन-क्रिया का एक अनिवार्य अङ्ग है। श्रेष्ठ साहित्य इस क्रिया में सहायक होता है, सहायक ही नहीं उसका साधन भी बनता है। श्रेष्ठ कला या साहित्य का यह गुण है। अतः यदि हमें साहित्य की कोई संविधायक स्थापना करनी ही है, और यह कहना मुश्किल है कि आज की संघर्षपूर्ण परिस्थिति में उसकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है, तो हमें स्वर्गीय कॉडवेल की स्थापना स्वीकार करनी चाहिए कि 'साहित्य या कला मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन है।' इसमें 'स्वतन्त्रता' शब्द विवादास्पद है अवश्य, और उसका उत्तर विज्ञान और दर्शन देने का प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन उसमें अन्य स्थापनाओं के दोष नहीं हैं, और उत्कृष्ट कला या साहित्य के प्रति तो असीम श्रद्धा का भाव है।[1]

—**अक्तूबर १९४१**

१. 'मनुष्य की स्वतन्त्रता' हमारी प्राचीन 'लोक कल्याण' की धारणा से अधिक मूर्त और सक्रिय धारणा है, अतः अधिक अर्थगर्भित है। वह आधुनिक विज्ञान और दर्शन के जीवन-व्यापी दृष्टिकोण से सम्पर्कित है और मनुष्य की आकांक्षाओं को साकार रूप भी देती है।—लेखक

६

प्रगतिशील साहित्य

प्रारम्भ में ही इस साधारण, पर अब तक अनदेखे भेद को समझ लेना लाभप्रद होगा कि प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद ये दोनों एकार्थक नहीं हैं, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही जरूरी है। पक्ष और विपक्ष से दिये गए तर्कों में अब तक इनको अक्सर एक ही समझने की भ्रान्ति रही है।

एक प्रगतिवादी आलोचक ने अपने दृष्टिकोण के दक्षिणपन्थी दौर में समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा था—"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।"[1] अपने उग्रपन्थी दौर में इस विद्वान आलोचक ने प्रगतिशील साहित्य की क्या व्याख्या की, इसका उल्लेख हम नहीं करेंगे, क्योंकि इस दौर की गलतियों और संकीर्णताओं का निराकरण करने के लिए उग्रपन्थियों ने दौड़कर नई स्थापनाएँ कर डाली हैं। इस आलोचक ने भी ऐसा किया है; इसलिए उनकी नई स्थापना को ही लें। उनके अनुसार अब "प्रगतिशील साहित्य भारतीय जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है।" यह एक विचित्र सूत्र है और मार्क्सवादियों के उस औचित्यपूर्ण दावे का स्मरण दिलाता है जो वह एक वर्गमुक्त समाज (सोवियत समाज) की 'साम्यवादी संस्कृति, कला-साहित्य' और दर्शन, समाजशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में स्वयं 'मार्क्सवाद' की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के बारे में पेश करते हैं। किन्तु भारत या किसी अन्य पूँजीवादी, अर्ध-पूँजीवादी देश के प्रगतिशील साहित्य पर ऐसा दावा थोपना एक संकीर्ण मतवादी प्रवंचना को जन्म देना ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार के और भी सूत्र इस निबन्ध में हैं, जिनके लम्बे-लम्बे भाष्य करके लेखक ने आदेशात्मक शैली में प्रगतिशील लेखकों के कर्तव्य गिनाये हैं। "प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता, शान्ति और जनतन्त्र का साहित्य है।"... "प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद की संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता है।" आदि स्थापनाओं से स्पष्ट है कि लेखक ने प्रगतिशील साहित्य का अर्थ अपनी नई परिभाषा में संकुचित करके उसे हमारे देशकाल की विशिष्ट सामयिक परिस्थितियों से ही नहीं, बल्कि एक विशेष राजनीति, पार्टी और प्रोग्राम के साथ भी बाँध दिया है। इससे यह निष्कर्ष अनिवार्यतः निकलता है कि 'आज' जो इस प्रोग्राम, राजनीति और आदेश को पूरी तरह मानने को तैयार

१. डॉ० रामविलास शर्मा 'प्रगति और परम्परा' पृ० ४६।

नहीं हैं, वे प्रगतिशील लेखक नहीं हो सकते। प्राचीन लखकों का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनके सामने ये विशिष्ट प्रोग्राम और राजनीतिक समस्याएँ न थीं जिन पर लिखना ही इस संकुचित दृष्टि से प्रगतिशीलता का मूल-मन्त्र और कसौटी है। फिर किसी संगत तर्क से न प्राचीनों को, न आधुनिक साहित्य के निर्माताओं को——भारतेन्दु, बंकिम, रवीन्द्र, शरत्, इक़बाल, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द आदि को और न पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर, राहुल, जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, अश्क आदि जीवित सक्रिय प्रतिभाओं को ही——हम प्रगतिशील कह सकते हैं। इन सब को ख़ारिज करके इस कसौटी पर खरा उतरने वाला 'भारतीय जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' रूपी वह प्रगतिशील साहित्य कहाँ है, और कौन उसके निर्माता हैं?——यह बात निश्चय ही सारे पाठक जानने को उत्सुक होंगे, क्योंकि स्थापनाएँ उसके ही आधार पर की जाती हैं जो मौजूद है, न कि कल्पित सम्भावनाओं के आधार पर।

इस तरह का संकीर्ण मतवाद चाहे जिस छद्मवेश में प्रकट हो, चाहे जिस पदावली का प्रयोग करे, घातक ही होगा, इतना तो सहज ही अनुमेय है। सम्भवतः भविष्य में ऐसी भ्रान्तियाँ पैदा हो जाने के डर से ही अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, " 'प्रगतिशील लेखक संघ', यह नाम ही मेरे विचार से ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार मेरे विचार से स्वभावतः प्रगतिशील होता है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द का आशय सच्चे और ईमानदार लेखक और कलाकार से था; वस्तु-सत्य के प्रतिबिम्ब को विकृत करके प्राणहीन, फ़रमाइशी साहित्य (?) तैयार करने वाले से नहीं। किन्तु फिर भी साहित्य और लेखक के आगे 'प्रगतिशील' शब्द का प्रयोग बदस्तूर जारी रखा गया। आज भी ज़रूरी है, और प्रगतिवादी विशेषरूप से इसका प्रचार और प्रयोग करते आये हैं, क्योंकि राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष की सफलता और फ़ासिज़्म और युद्ध की बर्बरता से विश्वशान्ति और मानव-संस्कृति की रक्षा के लिए अपनी जनता के भावी योग-क्षेम की दृष्टि से उस समय हमें यह अभीष्ट था, और आज भी है कि जाति-द्वेष, भाग्यवाद, निराशावाद, अनैतिकता और शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से उस श्रेष्ठ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का अलगाव ज़ाहिर करें जो मनुष्य में मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध, कर्म-चेतना और तर्क-बुद्धि जगाता है, आशा का संचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर हमें उदात्त और नैतिक मानव बनाता है। हमें अभीष्ट था कि श्रेष्ठ साहित्य की इस प्रगतिशील परम्परा को अपनी नई कृतियों से और समृद्ध करें और सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता की रुचि का इतना परिष्कार करें कि प्रतिक्रियावादी साहित्य का प्रचलन बन्द हो जाय। परन्तु जब प्रगतिवादी ही इस व्यापक उद्देश्य को छोड़कर संकीर्ण मतवादी बन गए तो उनके इस भ्रान्त दृष्टिकोण का विरोध करने वाले साहित्य के अन्य गम्भीर विचारकों की शंकाओं का निवारण कौन करता?

इसलिए इस तथ्य को कुछ ज़ोर देकर कहने की ज़रूरत है कि प्रगतिशील साहित्य

'प्रोलेतेरियन' या 'सोवियत-साहित्य' का पर्याय नहीं है, वह कोई 'आज' की, किसी विशेष 'युग', 'वर्ग' या 'देश' की चीज़ नहीं है, किसी विशेष सिद्धान्त या पार्टी-नीति के अनुसार लिखा गया साहित्य नहीं है; वह 'सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास' नहीं, बल्कि स्वयं सांस्कृतिक विरासत है—चिरजीवी प्राणवान् साहित्य की। यह विरासत प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में योग दिया है, दे रही है। और इस युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहराई और कलात्मक सचाई से प्रतिविम्बित करता है, वह प्रगतिशील है, चाहे उसकी रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी।

प्रगतिवाद की दृष्टि से कला या साहित्य (जिसका तात्पर्य हमेशा श्रेष्ठ कला या साहित्य ही होता है) और प्रगतिशील कला या प्रगतिशील साहित्य की दो भिन्न परिभाषाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वस्तुतः दोनों एक हैं। उनमें किसी अन्तर्विरोध या भेद का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कला और साहित्य के आगे 'प्रगतिशील' विशेषण लगाने का उपयोग केवल तब है जब हम कला या साहित्य के आनन्ददायी मूल्यों का नहीं बल्कि विशेषरूप से चेतना-विकासी नैतिक मूल्यों का ही निर्देश करना चाहें, अन्यथा इस विशेषण को जोड़े बिना भी काम चल सकता है। अन्य देशों के प्रगतिवादी भी किसी विशेष सन्दर्भ में बात करते समय ही 'प्रोग्रेसिव' शब्द का प्रयोग करते हैं अन्यथा साधारणतया यह स्वीकार किया जाता है कि प्रगतिशीलता भी सच्चे साहित्य का सामान्य गुण है। वहाँ विशेष सन्दर्भों में ही 'बुर्जुआ', 'प्रोलेतेरियन' या 'सोवियत्' आदि विशेषणों को कला-साहित्य के साथ जोड़ा जाता है—तभी जब यह निर्देश करना हो कि वह 'बुर्जुआ' या 'सोवियत्' समाजों में रचे जाने के कारण बुर्जुआ अथवा सोवियत् समाज के यथार्थों को प्रतिविम्बित करता है। ये विशेषण मूल्य-निरूपक नहीं हैं।

—जुलाई १९५२

७

प्रगतिवाद

साहित्य के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के लिए 'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ने किया यह तो निश्चित याद नहीं, लेकिन अब इसका इतना प्रचलन हो गया है कि किसी भी तात्त्विक मीमांसा से इस शब्द की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता सिद्ध करना व्यर्थ है। इसे एक रूढ़ प्रयोग मान लेना ही उचित है, जिस तरह रोमाण्टिक काव्य-धारा के लिए हिन्दी में 'छायावाद' जैसा अनुपयुक्त शब्द भी प्रचलित होकर रूढ़ हो गया।

प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है; जैसे रस-सिद्धान्त साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। अतः 'प्रगतिवाद' को सौन्दर्यशास्त्र (ईस्थेटिक्स)-सम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए। हम निश्चित रूप से यह नहीं बता सकते कि भारत की अन्य भाषाओं में मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र के लिए मूल-शब्द का ही प्रयोग किया जाता है या 'प्रगतिवाद' का। हिन्दी में इस अर्थ में इस शब्द के व्यापक प्रचलन से यह परिणाम निकाल लेना भूल होगी कि मार्क्सीय दृष्टिकोण से हमारे साहित्य में किसी सर्वाङ्गीण सौन्दर्य-सिद्धान्त का विकास हो गया है, या साहित्यालोचन के वैज्ञानिक मान-मूल्य निर्धारित किये जा चुके हैं। ऐसा सम्भवतः विश्व की किसी भी भाषा में अभी पूरी तरह नहीं हो पाया है। कला-साहित्य-सम्बन्धी अनेक स्थापनाएँ अभी तक विवादग्रस्त हैं। परन्तु फिर भी भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला-साहित्य-विषयक व्यापक समस्याओं और उनके इतिहास का अध्ययन किस वैज्ञानिक रीति से करना चाहिए, इसकी मर्यादाएँ बहुत-कुछ निश्चित हो चुकी हैं।

कला और साहित्य क्या है? वह मानव-समाज और प्रकृति से समन्वित सतत् परिवर्तनशील पदार्थ जगत् से उद्भूत मनुष्य की चेतना का विशिष्ट रूप है और उसके ही सत्य को प्रतिबिम्बित करता है, या समाज से बाहर भी उसका अस्तित्व है और वह केवल शाश्वत आध्यात्मिक सत्यों को प्रतिबिम्बित करता है? यह 'प्रतिबिम्ब' वस्तु-चित्रों या मर्म-छवियों की भाषा में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर-विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ का उसके गर्भ में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त्त, सक्रिय, सर्वाङ्गीण और सामञ्जस्यपूर्ण चित्रण करने से 'कलात्मक' बनता है, जिसमें विषय-वस्तु और उसका रूपायन एक विशेष द्वन्द्वात्मक समन्विति में अन्योन्याश्रित हों, या केवल बाह्य रूप-शिल्प, रीति और अलंकारों की सहायता से विषय-वस्तु के यथातथ्य, अमूर्त्त, एकांगी चित्रण से भी 'कलात्मक' बन सकता है? किसी रचना की महानता या श्रेष्ठता नापने का पैमाना क्या

है—उसमें प्रतिबिम्बित जीवन-यथार्थ की कलात्मक मूर्त्तता, व्यापकता, गहराई, सर्वाङ्गीणता और सत्यता या केवल उसमें व्यक्त अमूर्त्त विचारों की अच्छाई-बुराई? बिना प्रतिभा के, केवल वैज्ञानिक विचारों की चेतना और अभिव्यक्ति से ही कला का निर्माण क्या सम्भव है? यदि नहीं, तो कलाकार या साहित्यकार की प्रतिभा की कसौटी क्या है? कला और साहित्य का कोई स्पष्ट सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन होता है या जीवन का यथार्थ और मूर्त्त चित्रण होने के कारण ही कला में प्रगतिशील राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य, प्रभाव और प्रयोजन निहित होते हैं, क्योंकि ये वस्तुएँ भी यथार्थ जीवन में ही उद्भूत हैं जिसे कला समग्र रूप में प्रतिबिम्बित करती है? सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय कला में कैसे होता है? कला में साधारणीकरण और प्रेषण की समस्या क्या है और विशेष कैसे सामान्य और सामान्य कैसे विशेष बनता है?—इन अनेक बुनियादी प्रश्नों के साथ-साथ, कला और साहित्य के ऐतिहासिक विकास से उत्पन्न अनेक समस्याओं—जैसे साहित्य और कला की परम्परा के मूल्यांकन के मानदण्ड क्या हों, कला के विभिन्न रूपों का विकास कैसे हुआ; और युग-विशेष के भौतिक शिल्प-ज्ञान और दर्शक-पाठक-श्रोतावर्ग ने इस विकास को कैसे प्रभावित किया; कला में रूढ़ि, लोकपरम्परा, राष्ट्रीय और सार्वभौम तत्त्वों का समन्वय कैसे होता है और इन्होंने एक-दूसरे को कैसे प्रभावित किया है; कला-निर्माण की शैलियाँ, युग-धाराएँ और रुचियाँ किन सामाजिक कारणों और स्वयं अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं से प्रभावित होकर बदलती रही हैं—आदि प्रश्नों का अध्ययन अनेक गम्भीर मार्क्सवादी विद्वानों ने सोवियत रूस और दूसरे पश्चात्य देशों में किया है। इन सारी गवेषणाओं, विश्लेषणों और सिद्धान्त-निरूपणों के परिणामस्वरूप एक सांगोपांग भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र की मोटी रूप-रेखा तो बन गई है, लेकिन अभी इसे सम्पूर्ण शास्त्र कहना उचित न होगा। रूस के गोर्की और लीफ़-शित्स, हंगरी के जार्ज लूकाक्स, इंगलिस्तान के कॉडवेल, रेल्फ फॉक्स, जार्ज थॉम्पसन, अमरीका के सिडनी फिन्केस्टीन और लुई हैरप आदि अनेक प्रतिभावान मार्क्सवादी आलोचकों ने इस शास्त्र के विकास में योग दिया है। लेकिन विज्ञान-क्षेत्र के न्यूटन और आइन्स्टीन, दर्शन-समाजशास्त्र-अर्थविज्ञान आदि क्षेत्रों के कपिल, कणादि, शंकराचार्य, अरस्तू, हीगल, डार्विन, मार्क्स और काव्य-शास्त्र (या Aesthetics) क्षेत्र के अरस्तू, भरत मुनि आदि जैसी किसी युग-प्रवर्त्तक प्रतिभा की अभी प्रतीक्षा है, जो ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से अपने में सम्पूर्ण एक वैज्ञानिक सौन्दर्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर सके। किन्तु तब तक विभिन्न देशों के विभिन्न मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तकों द्वारा अपनी जातीय कला और साहित्य के इतिहास और सौन्दर्य-सिद्धान्तों के गहन अध्ययन और मूल्यांकन का विशेष मूल्य और उपयोग है, क्योंकि कोई भी सम्पूर्ण सौन्दर्य-शास्त्र विश्व के विभिन्न जातीय साहित्यों और कलाओं के विशिष्ट और सामान्य तथ्यनिरूपणों के आधार पर ही रचा जा सकेगा।

हमारे देश में, विशेषकर हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने, इन पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों से प्रेरणा तो ली है, लेकिन अपने देश के साहित्य और सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर उन्होंने अब तक इस दिशा में मौलिक खोज का कार्य नहीं के बराबर ही किया

है। दुर्भाग्य से मार्क्सीय सौन्दर्य-सिद्धान्तों और भारतीय परम्परा का उनका ज्ञान इतना एकांगी और सतही रहा है कि वे चन्द गढ़े-गढ़ाये सूत्रों को ही दुहराते आए हैं और उन्हें अपने साहित्य की पम्परा पर ज्यों-का-त्यों आरोपित करते रहे हैं। अक्सर ऐसा हुआ है कि प्रारम्भिक दौर की जिन कुत्सित समाजशास्त्रीय मान्यताओं को सोवियत रूस और दूसरे देशों के मार्क्सवादी आलोचक अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक सिद्ध करके तिरस्कृत कर चुके हैं, उनको हमारे आलोचकों ने और भी अधिक दुराग्रह से अपनाया है, जिससे आम तौर पर प्रबुद्ध पाठकों और उदारचेता विचारकों में यह धारणा बन गई है कि प्रगतिवादी दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं बल्कि संकीर्ण और एकांगी है, और प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ है। अर्थात् किसी कृति के अच्छे या बुरे होने की पहचान करने की उसकी कसौटी इतनी साम्प्रदायिक है कि केवल प्रगतिवादियों की लिखी रचनाएँ ही उसे 'अच्छी' लगती हैं, चाहे वह कितनी भी कुघड़ और भोंडी क्यों न हों। एक प्रगतिवादी हर रचना में अपने प्रिय राजनीतिक सिद्धान्तों का अविकल प्रतिपादन ही पसन्द करता है और यदि वह कभी-कभी भारतीय परम्परा, सूर, तुलसी, वाल्मीकि, कालिदास का गुणगान करने लगता है तो केवल अपने तात्कालिक राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए अवसरवादी ढंग से इन मनीषियों पर अपनी मन्यताएँ थोपकर ही, उनकी कृतियों को मर्मज्ञ की तरह समझकर नहीं। अपने प्रगतिवादियों के वक्तव्यों और आचरण को यदि ध्यान में रखें तो ये शंकाएँ और भ्रान्तियाँ अकारण और निराधर नहीं लगेंगी। पर इस अवाञ्छित स्थिति को ही ठीक मान लेना किसी भी जन-प्रेमी लेखक और विचारक के विवेक को शोभा नहीं देता। प्रगतिवादी सौन्दर्य-सिद्धान्तों का सर्वांगीण विकास और निर्धारण हमारे देश में साहित्यिक प्रगति की नई सम्भावनाओं के द्वार ही खोलेगा, ऐसा हमारा मत है। क्योंकि साहित्यालोचन की जो शास्त्रीय परम्परा हमारे देश में प्रचलित है, वह अपने में सम्पूर्ण और महान होते हुए भी अब सीमित उपयोग की ही वस्तु रह गई है। केवल इतना ही नहीं कि उस पर आध्यात्मिक दर्शनों का प्रभाव है, और उसका सौन्दर्य-दर्शन शाश्वत् आध्यात्मिक सत्यों पर निर्भर करता है और इस प्रकार वह अवैज्ञानिक है, और उसके स्थान पर एक वैज्ञानिक, भौतिकवादी सौन्दर्यदर्शन का विकास अपेक्षित है, बल्कि इसलिए कि प्राचीन तथा सामयिक साहित्य का सही-सही मूल्यांकन करने की सामर्थ्य भी अब उसमें नहीं रही। प्रश्न है कि क्या प्रगतिवादी प्रगतिवाद को सचमुच प्रगतिवाद बनाने का दायित्व संभालेंगे और संकीर्ण, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण त्यागकर ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनायेंगे ?

क्या आज भी यह दुहराने की जरूरत है कि मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण समाज-शास्त्रीय नहीं बल्कि ऐतिहासिक भौतिकवादी है ? समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहा है। उसने अक्सर ऐसी एकांगी कसौटियाँ गढ़ी हैं, जिनसे प्रगतिवादी विचारधारा को हानि ही पहुँची है। प्राचीन

कलाकारों की सच्ची महत्ता और आधुनिक साहित्य और कला की श्रेष्ठ कृतियों की श्रेष्ठता पहचानने की क्षमता इस संकीर्ण दृष्टिकोण में नहीं है। फिर प्रगतिवाद से समाजशास्त्रीयता का गठबन्धन कराने की कुत्सित चेष्टाएँ क्यों ?

—जुलाई १९५२

८

प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण

बंधुवर महेन्द्रजी,

आपके दो पत्र मिले, किन्तु कुछ अपनी व्यस्तताओं के कारण तो कुछ आपके आदेश की गुरुता के कारण, न उत्तर दे सका और न आदेश का पालन ही कर सका।

आपने साहित्य-सन्देश के 'आधुनिक काव्यांक' के लिए 'प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ' पर लिखने को कहा है। यों तो किसी भी शीर्षक के अन्तर्गत बहुत कुछ लिखा जा सकता है—और जो न लिख सके वह लेखक ही क्या?—लेकिन शीर्षक का चयन इतना अचिन्तनीय विषय नहीं है। विद्वानों का कहना है कि क्या और कमे और ? का चिह्न लगा कर कोई भी प्रश्न गढ़ लेना तो बहुत आसान है, लेकिन क्या हर प्रश्न वास्तव में सही प्रश्न है, यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। कोई प्रश्न तभी सही अर्थों में प्रश्न बनता है, जब उसके द्वारा वस्तुओं, घटनाओं आदि के वास्तविक सम्बन्ध या रिश्ते के बारे में जिज्ञासा प्रकट की जाये या परीक्षण-प्रयोग-उद्घाटन किया जाये। इसलिए प्रश्न भी अपने मौलिक रूप में सही या ग़लत, वास्तविक या काल्पनिक हो सकते हैं। जिस तरह जिज्ञासु को—और हम में से कौन जिज्ञासु नहीं है—अपने अनुभव और अध्ययन-मनन से सही प्रश्न पूछने की शिक्षा मिलनी चाहिए, उसी तरह उत्तर देने या शङ्का-समाधान करने वाले व्यक्ति में भी इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह गलत प्रश्न को तुरन्त ताड़ सके और या तो प्रश्न को सही रूप में प्रस्तुत करके बताये या उसकी आधारभूत ग़लती को समझाए। यह सब इसलिए कि ग़लत प्रश्न का हमेशा गलत उत्तर ही दिया जा सकता है, सही नहीं। उदाहरण के लिए यदि कोई पूछे कि भगवान ने इस संसार की कब सृष्टि की, तो अनेक धार्मिक साम्प्रदायों में प्राचीन काल से प्रचलित अन्ध-विश्वासों के अनुसार यह उत्तर देना सही नहीं है कि जल-प्रलय के बाद भगवान ने सृष्टि रचना की। मैं आस्तिकों की श्रद्धा पर चोट नहीं करना चाहता, लेकिन इस प्रश्न के मूल में एक भूल छिपी हुई है, वह यह कि भगवान के अस्तित्व की इसमें अन्ध-स्वीकृति है। इसलिए इस प्रश्न की सचाई ही सन्दिग्ध है, और इस प्रश्न में छिपी मान्यताओं को मान लेने के बाद तो अटकलबाज़ी से चाहे जितने उत्तर दिये जा सकते हैं, जैसा कि प्राचीन काल से होता आया है, लेकिन कोई तर्क-सिद्ध, प्रयोग-सिद्ध वैज्ञानिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए सही उत्तर पाने के लिए प्रश्न को सही बनाना अनिवार्य होता है।

"प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" का इस प्रश्न और उत्तर के झमेले से

क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध बहुत सीधा है। आपने जो इस विषय पर लिखने को कहा है तो एक प्रश्न ही तो पूछा है कि "प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" क्या हैं ? इस प्रश्न के मूल में एक मान्यता है जो निराधार और भ्रामक है। वह मान्यता यह है कि अतर्क्य रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'प्रगतिवाद' हिन्दी काव्य की किसी विशेष प्रवृत्ति का नाम है, जब कि सत्य यह है कि प्रगतिवाद एक विशेष जीवनदर्शन (मार्क्सवाद) या दृष्टिकोण का नाम है। इस जीवनदर्शन या दृष्टिकोण को मानने-अपनाने वाले अनेक लेखक, कवि, कथाकार, नाटककार और आलोचक हैं लेकिन उनकी रचनाओं में न्यूनाधिक दृष्टि-साम्य पाकर ही उनकी कविता को 'प्रगतिवाद' की कविता कहना भ्रामक होगा। यदि लेखकों या कवियों की व्यक्तिगत आस्थाओं और जीवन-दर्शनों के आधार पर ही आँख मूँद कर काव्य या साहित्य की धाराओं का निरूपण किया जा सकता तो इसमें आलोचक का काम चाहे आसान हो जाता, लेकिन साहित्य और कला का अपना कोई सुसम्बद्ध इतिहास न होता। फिर तो धर्म और सम्प्रदाय, विचारदर्शन और पद्धति, कहने का अर्थ यह कि मनुष्य विभिन्न देशों में जितने फिरकों में बँटा रहा है और बँटा हुआ है, उन सबके आगे 'वाद' को जोड़कर काव्य और साहित्य की धाराओं का निरूपण कर लिया जाता—शायद तब दार्शनिक और समाजशास्त्री ही सच्चे आलोचक होते। लेकिन यह संकीर्ण दृष्टिकोण है। हम धर्मों के आधार पर ईसाई, हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम काव्य का नाम नहीं लेते, अद्वैतवाद, द्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद के नाम पर, इन साधनाओं के अनुयायी कवियों के काव्य की परिगणना नहीं करते। आज भी हमारे देश में मार्क्सवाद या प्रगतिवाद की अपेक्षा गाँधीवाद या गाँधी जीवन-दर्शन से प्रभावित कवियों की संख्या अधिक है, लेकिन साहित्य की गोष्ठियों में, जहाँ उन कवियों की कविता का विवेचन अभिप्रेत हो, हम 'गाँधीवाद की प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ" पर बहस नहीं करते। आप इस शीर्षक से किसी गोष्ठी में चर्चा कर देखें। अधिकतर लोगों के वक्तव्य सत्य और अहिंसा की ऊहापोह करते दिखाई देंगे, कोई वक्ता आधुनिक हिन्दी काव्य की उस प्रवृत्ति का सम्भवतः उल्लेख भी न करेगा, जिसे आप ग़लती से 'गाँधीवाद' की संज्ञा दे बैठे हैं। आप सोचेंगे कि न जाने क्या माजरा है कि सभी वक्ता विषय से हटकर बोल रहे हैं, यद्यपि सच यह है कि वक्ता अपने विषय की निर्दिष्ट सीमा का कहीं अतिक्रमण न कर रहे होंगे। तो मूल ग़लती प्रश्न में है, उत्तर में नहीं। यही ग़लती 'प्रगतिवाद' को आधुनिक हिन्दी काव्य की एक प्रवृत्ति मान लेने में है।

कैसी व्यङ्ग्यपूर्ण स्थिति है ? ज़रा सोचिए, कोई गाँधीवादी (अर्थात् ऐसा कवि जिसका जीवन-दर्शन गाँधीवाद है, न कि जिसकी कविता 'गाँधीवादी' है) घोर प्रकृतवादी है—उसकी कविताओं में केवल नीरस चित्रण ही चित्रण रहता है, कोई यथार्थवादी है, कोई प्रतीकवादी है, कोई छायावादी, तो कोई मात्र रुचिवैचित्र्यवादी—कोई प्रेम-गीत लिखता है, कोई अतीत के गौरवमय इतिहास से प्रसंग चुनकर आख्यान-काव्य लिखता है, कोई धार्मिक और पौराणिक कथाओं से सामग्री चुनकर महाकाव्य रचता है तो कोई राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं पर उद्‌बोधनात्मक तुकबन्दियाँ गढ़ता है। अब आप क्या

कहेंगे, कि 'गाँधीवाद' में प्रकृतवाद, प्रतीकवाद, छायावाद, रुचिवैचित्र्यवाद आदि प्रवृत्तियाँ हैं और गाँधीवाद की प्रेरणाओं के स्रोत स्वच्छन्द प्रेम की भावना, असामाजिक व्यक्तिवाद, इतिहास की गौरवमयी कल्पना, धर्म की आस्था और राष्ट्रीय जन-आन्दोलन है ? यह प्रश्न इसलिए संगत है कि 'प्रगतिवाद' (काव्य-धारा के अर्थ में) की भी ऐसी ही सन्दिग्ध स्थिति है । प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) को जीवन-दर्शन के रूप में मानने वाले ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी कविताएँ शैली, शिल्प और वस्तु की दृष्टि से छायावाद, प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, यथार्थवाद आदि सभी प्रवृत्तियों में बाँटी जा सकती हैं, उनमें व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति मिलती है । तब क्या कहेंगे ? प्रगतिवाद की प्रेरणाएँ व्यक्तिवाद और साम्यवाद हैं और प्रवृत्तियाँ छायावाद, और प्रकृतवाद हैं । स्पष्ट है कि यह उत्तर हास्यास्पद नहीं तो बेतुका और अप्रत्याशित तो लगता ही है ।

मैं यह नहीं कहता कि गाँधीवादी या प्रगतिवादी काव्य हो ही नहीं सकता, या हिन्दी में उसकी रचना नहीं हुई । मगर इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा । जैन-काव्य, बौद्ध-काव्य और सिद्ध-काव्य की चर्चा हमने साहित्य के इतिहास में सुनी है । तो गाँधीवादी या प्रगतिवादी काव्य भी हो ही सकता है । लेकिन जैन-काव्य या सिद्ध-काव्य को 'काव्य' नहीं माना जाता । किसी विचार-दर्शन को पद्य-बद्ध कर देने वाली कविता कविता नहीं पद्य-रचना ही होती है । केवल इतने से ही उसे ललित 'काव्य' की श्रेणी में नहीं बिठाया जा सकता । यह बात निर्विवाद है, क्योंकि उसमें सृष्टि नहीं, मात्र अनुकृति होती है । इस तरह गाँधीवाद या मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों को पद्य-बद्ध करके गांधीवादी या मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) कविता तो तैयार की जा सकती है, लेकिन तब उसे न काव्य की संज्ञा दी जा सकती है, न साहित्य के इतिहास में कोई अलग स्थान ही । साहित्य के ह्रास और विकास पर ऐसी साम्प्रदायिक पद्य-रचना (या तुकबन्दी) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । बात साफ़ है कि ऐसी रचनाओं को लेकर 'प्रवृत्तियों' की बहस तो चल ही नहीं सकती, क्योंकि भिन्न प्रवृत्तियाँ तो मौलिक रचना में ही हो सकती हैं, अनुकृति या अनुवाद में नहीं । उनकी सफलता तो मूल-वस्तु, विचार-दर्शन को अविकल रूप में, बिना तोड़े-मरोड़े, काटे-छाँटे या जोड़े ज्यों-का-त्यों, केवल आलङ्कारिक भाषा में उपस्थित कर देने मात्र में है । इसलिये काव्य की कसौटी उन पर नहीं लागू होती । पद्यकार ऐसे में स्वतन्त्र कब होता है ? वह अपने अनुभव, अपने चिन्तन, अपनी कल्पना और अपनी विषयीगत प्रतिक्रियाओं के माध्यम से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित कब करता है कि उसकी रचना सृष्टि बन जाय और विश्वबोध में संवृद्धि करे ? वह तो बस जो है, उसे ही पद्य-बद्ध करने को बाधित है, नहीं तो मूल दर्शन की तर्जुमानी नहीं हो सकती । ऐसे पद्यकार को न हम व्यक्तिवादी कह सकते हैं, न साम्यवादी, न आशावादी न निराशावादी, न स्वस्थ और न अस्वस्थ । ये सब गुण-अवगुण उसके अपने नहीं होते, बल्कि उस जीवन-दर्शन के होते हैं• जिसको वह पद्यबद्ध करता है । एक शब्द में, ऐसा पद्यकार स्रष्टा और कवि नहीं माना जा

सकता।

इन बातों का यह अर्थ कदापि नहीं कि वास्तविक काव्य के रचने वाले कवि का अपना जीवन-दर्शन या दृष्टिकोण नहीं होता और उसकी रचना उस दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं होती। आधुनिक हिन्दी-काव्य में पड़े गाँधीवाद और मार्क्सवाद के प्रभाव को साहित्य का कोई साधारण विद्यार्थी भी खोजकर बता सकता है। केवल इनका ही नहीं, अनेकानेक दृष्टिकोणों के प्रभाव एक ही कवि की कृतियों में ढूंढ़े जा सकते हैं। इससे खोज करने वाले विद्यार्थी अपनी-अपनी दृष्टि से कवि को इस विचार या उस विचार का मानने वाला सिद्ध करने की कभी सार्थक तो अधिकतर निरर्थक ऐंचातानी कर सकते हैं, लेकिन उसकी कृतियों का मूल-स्वर क्या है उसको नहीं पकड़ सकते। यानी उसके काव्य की आत्मा तक नहीं पहुँच सकते। स्पष्ट है कि अनुसन्धानकर्त्ता की दृष्टि और आलोचक की दृष्टि सदा एक ही नहीं होती।

मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) यदि एक जीवन-दर्शन है और काव्य की धारा के रूप में उसका निरूपण ग़लत है, तो साहित्य के सम्बन्ध में प्रगतिवाद का कोई विशिष्ट दृष्टिकोण नहीं हो सकता। दुर्बुद्धि से ही ऐसा परिणाम निकाला जा सकता है। मार्क्सवाद यदि एक जीवन-दर्शन है और अपने में सम्पूर्ण है तो सौन्दर्यशास्त्र की समस्याओं, साहित्य और कला की सृजन-प्रक्रिया, विवेचन, मूल्याङ्कन और प्रयोजन के सम्बन्ध में उसका मौन होना ही वास्तव में आश्चर्य की बात हो सकती है। ख़ैरियत है कि इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मार्क्सवाद मौन नहीं है, बल्कि एक सुसम्बद्ध और सुसङ्गत वस्तुवादी सौन्दर्य-सिद्धान्त के विकास में उसने प्रेरणा दी है। इसे ही प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है। प्रगतिवाद शब्द मार्क्सवाद का पर्यायवाची तो नहीं है, लेकिन हमारी भाषा में मार्क्सवादी सौन्दर्य-दृष्टि या साहित्य-कला-परक वस्तुवादी सिद्धान्तों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस अर्थ में प्रगतिवाद की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों का निरूपण-विवेचन भी किया जा सकता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं भी। कुछ प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-कला के शैली, रूप विधान और सौन्दर्य-पक्ष पर अधिक ज़ोर देते हैं, कुछ उसकी विषय-वस्तु और तात्कालिक प्रयोजनीयता पर। और काफ़ी कुछ ऐसे भी हैं जो अत्यन्त सङ्कीर्ण मनोवृत्ति से प्रगतिवाद को अवसरवादी बनाने पर तुले हैं और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को कुत्सित समाज-शास्त्री बनाने के निमित्त ही अपनी लौह-लेखनी उठाते हैं। किन्तु इन सब प्रवृत्तियों का विवेचन काव्य की किसी धारा का विवेचन न होगा, बल्कि एक विशेष साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना-पद्धति की प्रवृत्तियों का विवेचन होगा। किन्तु ऐसा करना यहाँ विषयान्तर होगा, क्योंकि आप तो काव्य की चर्चा ही चाहते हैं।

सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि हमारे कई प्रगतिवादी आलोचक 'प्रगतिवाद' को काव्य की धारा के रूप में मनवाना ही अधिक पसन्द करते हैं। यह सारा भ्रम तो इस कारण भी कुछ अधिक फैल गया है। किन्तु ऐसा 'प्रगतिवादी काव्य' कहाँ है, मैं नहीं जानता। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्तजी ने अवश्य 'श्रमिक-वर्ग', 'मध्यवर्ग', 'पूँजीपति

वर्ग' और 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के नाम से कुछ कविताओं की रचना की है, जिनमें उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को पद्य-बद्ध किया है। इसे 'प्रगतिवादी काव्य' चाहें तो वे खुशी से पुकार सकते हैं। लेकिन ये रचनाएँ प्रगतिवादी ही हैं, काव्य नहीं। शङ्कर शैलेन्द्र, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और गोरा-बादल या अन्य छद्म नामों से रामविलास शर्मा ने कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति को यथावसर पद्य-बद्ध करने की जो चेष्टाएँ की हैं, उन्हें भी 'काव्य' के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, यद्यपि वहाँ छन्दों का प्रयोग भी है और व्यङ्गों और कटूक्तियों की भरमार भी। इन्हें नारेबाज़ी की कविताएँ ही कह सकते हैं। इन कवियों ने साहित्यिक अर्थ में भी कविताएँ लिखी हैं, लेकिन वे प्रवृत्ति और प्रेरणा की दृष्टि से अलग से विवेच्य चाहें हों, प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं आतीं।

आप कहेंगे कि प्रगतिवाद न सही, प्रगतिशील कहकर सही, इन लोगों की कविताओं का प्रवृत्यात्मक विवेचन तो कीजिए, नाम में क्या धरा है? लेकिन वास्तव में यहाँ नाम ही महत्त्वपूर्ण है, नहीं तो हम कहीं-के-कहीं जा पहुँचते हैं। प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भेद है, यह स्पष्ट होना ही चाहिए, अन्यथा ग़लत शब्दों का प्रचलन जारी रहेगा; आप कहेंगे कुछ और लोग समझेंगे कुछ।

प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिक 'वाद' की मान्यता का आग्रह नहीं किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गाँधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणाएँ देता है, मनोविकृतियों को और उभार कर व्यक्ति को असामाजिक और मानव-द्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा, व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील ही तो है। फिर प्रगतिशील हिन्दी-कविता का विवेचन केवल नागार्जुन, शङ्करशैलेन्द्र, केदारनाथ अग्रवाल, और गोरा-बादल नामधारी रामविलास शर्मा या इस तरह के दो-चार छोटे-मोटे कवियों की एक विशेष प्रकार की पद्य-रचनाओं और तुकबन्दियों तक ही कैसे सीमित रखा जा सकता है? संभव ही नहीं, निश्चित है कि हिन्दी कविता के विकास में ऐसी कोरी नारेबाज़ी की रचनाओं का मूल्य नगण्य है। इसलिए केवल उनको लेकर प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं की चर्चा करने बैठ जाना निरर्थक है। प्रचार-साहित्य की दृष्टि से उनका प्रचुर मूल्य हो सकता है, लेकिन साहित्य में किसी कवि की कीर्ति केवल उनके सहारे एक क्षण को भी नहीं ठहर सकती। यह बात मैं पहले भी कई बार कह चुका हूँ, इसलिए नहीं कि प्रचार-साहित्य या नारेबाज़ी के साहित्य की महती आवश्यकता नहीं समझता, बल्कि इसलिए कि ऐसी रचनाओं के लिए साहित्य की बहसों में सर्वोच्च जगह माँगने का दावा पेश किया जाता है, जो ग़लत है।

ख़ैर, प्रगतिवाद का प्रवृत्ति-निरूपण न सही, इस पत्र से यदि कुछ भ्रम-निवारण ही हो जाय तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा। —जनवरी १९५४

६

यथार्थ और साहित्य

यथार्थ और साहित्य के प्रश्न को एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। कारण, हम एक ऐसे संक्रान्ति-युग की पैदावार हैं जिसके यथार्थ की ह्रासोन्मुखी और विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अपनी चरम अवस्था में पहुँच गया है। एक ओर संकट और ह्रास है तो दूसरी ओर अभिनव विकास है, एक ओर पुराने वर्ग-समाज का ढाँचा चरमराकर टूट रहा है तो दूसरी ओर एक नये वर्ग-मुक्त मानव-समाज का निर्माण हो रहा है। एक ओर वर्ग-समाज की अनैतिकता, हिंसा, अनाचार, अन्याय और शोषण-दोहन की यातनाओं से पीड़ित, संत्रस्त, कुण्ठित मानवों की चीत्कार और आह-कराह है तो दूसरी ओर नये मानव-समाज के निर्माण का उल्लास और उत्साह है या विश्व-शान्ति, समता, आज़ादी और जनवाद के सिद्धान्तों पर आधारित नये मानव-समाज के लिए संघर्ष करने वालों के दुःख-दर्द, त्याग, बलिदान और जीवनकांक्षा से भरे हौसले और अरमान हैं; एक ओर वर्ग-मान्यताएँ और वर्ग-नैतिकता हिंसा, शोषण और युद्धों का समर्थन करने वाली बर्बरता को गौरवान्वित करके मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्डित कर रही हैं तो दूसरी ओर नये समाज के लिए संघर्ष करके, या जहाँ नया समाज बन चुका है वहाँ के मुक्त वातावरण में पलकर एक ऐसे 'मनुष्य' का संस्कार हो रहा है जिसकी नैतिकता, आशावाद, जीवनासक्ति, मानव-प्रेम, न्याय, समता और शान्ति पर आधारित है और जो केवल जीवन के प्रति सक्रिय आस्था ही नहीं उत्पन्न करती बल्कि मनुष्य को उसकी सच्ची महत्ता और गौरव प्रदान करके सही अर्थों में पूर्ण मानव बनने की निर्बाध प्रेरणा भी देती है। संक्षेप में, एक ओर वर्ग-समाज का अन्तिम युग (पूँजीवाद) इतिहास-पट पर अपनी अन्तिम लीला समाप्त करते समय कुछ देर और टिके रहने के लिए यदि अपनी अन्तिम रण-चेष्टाएँ कर रहा है तो दूसरी ओर इस समस्त पीड़ा, वेदना, आशा, निराशा और दुःख-दर्द के बीच एक नये मानव-युग (समाजवाद) का उद्भव हो रहा है।

यही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। इस वास्तविकता को इतिहास और जीवन की मूर्त्त भाषा में, उसके समस्त वैविध्य और गम्भीर वेदन के साथ साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित करने की समस्या इस युग के साहित्यकार की सबसे बुनियादी समस्या है। मूलतः इस बाह्य वास्तविकता के साथ लेखक और कलाकार का सम्बन्ध क्या और कैसा है, यह इस तथ्य का निर्णय करने की समस्या है। यथार्थ और साहित्य का प्रश्न इसीलिए प्रासंगिक है कि उसका समाधान प्राप्त करके ही हमारे प्रतिभासम्पन्न लेखक युगानु-

रूप महान् साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं और इस युग के दायित्वों को निभा सकते हैं। चूंकि ऐसा नहीं हो पा रहा है, और चूंकि इस बीच देश की प्रतिकूल परिस्थितियों और ह्रासकालीन पाश्चात्य तथा अमरीकी साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुकरण करने के कारण हमारे लेखक अक्सर अपनी राजनीतिक चेतना के बावजूद यथार्थवाद से हटकर काव्य में प्रतीकवाद और कथा-साहित्य में प्रकृतवाद तथा फ्रायडवाद-जैसी आत्मनिष्ठ, कुण्ठाग्रस्त रूपवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों और फैशनों की ओर उन्मुख रहे हैं, इसलिए यथार्थ और साहित्य के प्रश्न का आज और भी गम्भीर महत्त्व है।

इस प्रसंग में यह दुहराने की ज़रूरत है कि वर्ग-समाज का आधार ही एक वैषम्य पर टिका हुआ है, जिसमे जीवन के हर क्षेत्र, हर स्तर और हर व्यापार में वैषम्य का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। जिस तरह प्रत्येक वर्ग-समाज के व्यापक ढाँचे में दो विरोधी संस्कृतियों, दो विरोधी दर्शनों, दो विरोधी साहित्य और कला की परम्पराओं और दो विरोधी नैतिकताओं में परस्पर द्वन्द्वात्मक संघर्ष चलता आया है, उसी तरह वर्ग-समाज के वैषम्य ने साहित्य और कला के प्रति भी दो विरोधी दृष्टिकोण पैदा किए हैं। वस्तुतः वर्ग-समाज की देन ही यह है कि उसने मनुष्य के व्यक्तित्व और जीवन को खण्डित कर डाला है, जिससे विशेष का साधारण से, व्यक्ति का समष्टि से, कलाकार और लेखक का जन-समाज से, सौन्दर्य का सत्य से, रूप का वस्तु से, राजनीति का वर्ग-सम्बन्धों से, नैतिकता का जन-हित से सम्बन्ध या तो विच्छिन्न हो गया है या इस सम्बन्ध पर परदा डालने के लिए एक ऐसे कृत्रिम द्वैत और कृत्रिम विरोध की कल्पना को प्रचारित किया गया है, कि यदि कोई वस्तुओं के प्रत्यक्ष और तात्कालिक रूपों को ही देख पाने की क्षमता रखता है, तो उसे इनमें कोई द्वन्द्वात्मक समन्विति और निर्भरता संभव ही नहीं लगती। इसका ही परिणाम है कि वर्ग-समाजों द्वारा प्रसारित संस्कृतियों में साहित्य और कला के रूप (फॉर्म) से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियों को ही निरंतर सराहा गया है और उनकी विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) को गौण महत्त्व दिया गया है। कला-साहित्य के विषय में जितने भी नये-पुराने सौन्दर्य-सिद्धान्त और मान-दण्ड हैं, वे भी अधिकतर उनके रूप पर ही ज़ोर देते हैं, विषय-वस्तु, साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर नहीं। रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार आदि हमारे प्राचीन सिद्धान्त और शास्त्र मुख्यतः साहित्य के रूप से ही सम्बन्ध रखते हैं। रोमाण्टिसिज़्म, प्रतीकवाद, चित्र-कल्पनावाद, अतियथार्थवाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रकृतवाद या फ्रायडी मनोविज्ञानवाद आदि पाश्चात्य सिद्धान्त और साहित्य-कला की प्रवृत्तियाँ साहित्य के रूप से ही मुख्यतः सम्बन्धित हैं। इतना ही क्यों, यथार्थवाद को भी, जो महान् कला और साहित्य की एक-मात्र कसौटी है—क्योंकि वह महान् कला और साहित्य की मूल प्रकृति और गुण है—बूर्ज्वा सौन्दर्य-शास्त्री कला का एक विशेष रूप या एक शैली ही कहकर प्रचारित करते आए हैं, और इस प्रकार यथार्थवाद ही नहीं बल्कि सत्य, यथार्थ और साहित्य को समझने की एकांगी कसौटियाँ ही गढ़ते आए हैं।

इसीलिए इस तथ्य को रेखांकित करना ज़रूरी है कि महान् साहित्य और कला

सदा, निर्विकल्प रूप से, जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है, अतः उसकी एक-मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद ही है। केवल किसी एक या अनेक रसों की सृष्टि ही, या व्यंग्य और वक्रोक्तियों की भरमार ही, या अलंकारी रूप-सज्जा ही, या ध्वनियों का सामंजस्य ही, या उपचेतन-अवचेतन मनोदशाओं की मनगढ़ंत दृष्टान्त-कल्पना ही, या घटनाओं का यथातथ्य, यांत्रिक, अतिसाधारण अथवा औसत चित्रण ही—इनमें से किसी एक या सबको मिलाकर गढ़े गए मानदण्डों से महान् कला या साहित्य का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध कला के रूप से है, उसके मौलिक सत्य, विषय-वस्तु से नहीं। इन विविध दृष्टियों से जो मूल्यांकन किये जाते हैं वे एकपक्षीय और एकांगी तो होते ही हैं, साहित्य की विषय-वस्तु को केवल आनुषंगिक महत्त्व देकर, या नितान्त महत्त्वहीन समझकर, साहित्यकार को भी विषय-वस्तु के प्रति अर्थात् जीवन-सत्य या वास्तविकता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरणा देते हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यथार्थवाद के लिए अभिव्यक्ति, टेकनीक और शैली का कोई महत्त्व ही नहीं है, या यह कि वास्तविकता को जान-समझ लेना ही पर्याप्त है, और शैली, अभिव्यक्ति और टेकनीक चाहे बचकानी, भोंडी और व्यंग्य और गर्वोक्तियों की बैसाखियों पर चलने वाली लंगड़ी ही क्यों न हो। यथार्थवाद कलाहीन, मानव अनुभूतियों से शून्य, नीरस, साहित्य की रचना नहीं है, न राजनीतिक इश्तहारबाजी का नाम ही यथार्थवाद है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यथार्थवादी साहित्य महान्, दिग्गज प्रतिभाओं की ही सृष्टि है, प्रतिभा के बिना वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण, मूर्त्त और सारवान् कलात्मक चित्रण असम्भव है; ऐसे पात्रों की सृष्टि करना असम्भव है जो अपने युग के प्रतिनिधि हों और उनके जीवन-व्यापारों से ऐसी नैतिकता को जन्म देना असम्भव है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग की प्रगतिशील मानवता के मंगल की साधक हो, बाधक नहीं। देश-काल की परिस्थितियों और प्राप्त सुविधाओं के अनुरूप या कलाकार-विशेष की रुचि के अनुसार साहित्यकारों और कलाकारों की शैलियाँ सदा भिन्न रही हैं, उनकी कृतियों का टेकनीक भिन्न रहा है, रचना-तन्त्र और रूप-विधान भी भिन्न रहे हैं, लेकिन यथार्थवादी प्रणाली के अतिरिक्त कला-सृष्टि की कोई अन्य प्रणाली कभी नहीं रही। कलाकारों ने सदा वास्तविकता के असम्बद्ध, असमन्वित उपकरणों में से ही चयन करके उसके सार-तत्त्व का समन्वित और परिमार्जित रूप उपस्थित किया है। कला इसी कारण वास्तविकता के सामयिक तत्त्वों से अधिक स्थायी महत्त्व की होती है, और मनुष्य को सत्य की अनुभूति कराने का माध्यम बनती है। सच्चा और ईमानदार कलाकार स्वयं सत्यान्वेषी होता है।

वास्तविकता एकांगी कभी नहीं होती। यदि एकांगी होती तो वह एक जड़ और स्थिर अवस्था होती। वास्तविकता परिवर्तनशील है। जो कल था, वह आज नहीं रहा, जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। यह परिवर्तन निरन्तर और अविराम है। परिवर्तन ही शाश्वत सत्य है। अतः जीवन-वास्तव का सत्य भी परिवर्तनशील और युग-सापेक्ष्य होता है। प्रत्येक

महान् कलाकार इसी युग-सत्य का अन्वेषी होता है। यह सत्य क्या है? हिंसा और बल-पूर्वक अपने को स्थायी और चिरन्तन बनाये रखने के बर्बर प्रयत्नों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मंच पर अपनी भूमिका समाप्त करके विलीन हो रही हैं, वे जीवन-वास्तव के असत्य की प्रतिनिधि होती हैं, और भीषण दमन, संघर्ष और अवरोधों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मंच पर नये युग की भूमिका का आरम्भ करती हुई आगे बढ़ती आती हैं, वे ही युग-सत्य की प्रतिनिधि हैं; क्योंकि जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है और जो उभर रहा है वही सत्य है। सत्य की यही सरलतम व्याख्या और कसौटी है। नैतिकता की भी यही कसौटी है, क्योंकि नैतिकता के मानदंड सत्य से ही बनते हैं। विश्व के महान् कलाकार इसी कारण सत्य के अन्वेषी रहे हैं, और इसी कारण प्रत्येक महान् कलाकृति में तत्कालीन वर्ग-समाज की मान्यताओं और नैतिकता के प्रति गहरा प्रतिवाद मिलता है और अपने-अपने युग की विकास-सम्भावनाओं की सीमा में एक नई मानवीय नैतिकता के निर्माण के प्रति गहरा मोह प्रकट होता है। साहित्य और कला इसीलिए नैतिक होती हैं। कोई भी लेखक असत्य और अनैतिकता के गारे से महान् कला की इमारत खड़ी नहीं कर सकता। आज जो लेखक तात्कालिक प्रलोभनों में फँसकर युद्ध, साम्राज्यवाद और प्रतिक्रिया के समर्थक हो गए हैं, वे रचना-चातुर्य के बावजूद अपनी कृतियों में प्राण नहीं फूंक पाते, क्योंकि उन्होंने असत्य और अनैतिकता को वरण करके अपनी कला का स्वयं गला घोंट दिया है।

सच तो यह है कि वास्तविकता के सत्य की कलात्मक अनुभूति सरल कार्य नहीं है, क्योंकि यह सत्य कोरा राजनीतिक या विचारगत नहीं है, बल्कि उतना ही वैविध्यपूर्ण और नाना रूपात्मक है जितना कि मनुष्य का जीवन। मनुष्य के अन्तर और बाह्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर में यह सत्य उभरने के लिए असत्य से द्वन्द्वात्मक संघर्ष में गुँथा हुआ है। वास्तविकता का मूर्त्त और सम्पूर्ण चित्रण मनुष्य के अन्तर और बाह्य-जीवन के प्रत्येक व्यापार को घेर लेता है। यह सम्पूर्ण चित्रण नैतिक धरातल पर भी हो सकता है और सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर भी। और चूँकि जीवन-वास्तव का चित्रण मनुष्य के जीवन और संघर्ष से ही सम्बन्धित होता है, इस कारण यह चित्रण व्यक्तियों के माध्यम से ही सम्भव है। इसीलिए ऐसे पात्रों की सृष्टि का प्रश्न यथार्थ और साहित्य की समस्या का प्रमुख प्रश्न है, जो प्रतिनिधि (टाइप) हों, जिनके व्यक्तित्व में विशेष और साधारण का गत्यात्मक समन्वय हो, जिनका जीवन समाज के जीवन से आंगिक रूप से सम्बद्ध हो, जिनकी भाव-भूमि और मनोभूमि समाज की चरमस्थितियों को उद्घाटित करती हो, जो लेखक की कल्पना में जन्म लेकर उसकी कृति में प्रस्तुत की गई परिस्थितियों से क्रिया-प्रतिक्रिया-त्मक रूप से सम्बद्ध हों, अर्थात् स्वयं अपना सक्रिय अस्तित्व रखते हों, न कि लेखक के हाथ की कठपुतली हों।

जीवन-वास्तव का सम्पूर्ण, यथार्थ और मूर्त्त चित्र अंकित करने के लिए यह ज़रूरी है कि हमारे साहित्यकार जन-जीवन के साथ और गहरा सक्रिय संपर्क स्थापित करें, केवल

उसके तटस्थ, निरपेक्ष द्रष्टा ही न बने रहें। यह सच है कि जन-जीवन से सक्रिय सम्बन्ध स्थापित कर पाना केवल लेखक की अपनी इच्छा पर ही निर्भर नहीं करता। कभी-कभी युग की परिस्थितियाँ ऐसी प्रतिकूल होती हैं कि साहित्यकार अपनी सजग दृष्टि और इतिहास और राजनीति की चेतना के बावजूद जन-जीवन से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक उत्थान में बंकिमचन्द्र, रवीन्द्र, इक़बाल, शरत् और प्रेमचन्द जैसी प्रतिभाएँ पनप सकीं। ये साहित्यकार सहज ही समग्र भारतीय जनता के रागतन्तुओं को छू सके, और उनकी रचनाएँ सबके लिए प्रेषणीय बन सकीं। इसका मुख्य कारण यह है कि अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण के बावजूद वे अपने युग की समस्याओं और अपने युग के यथार्थ के तटस्थ दर्शक नहीं थे। इन सबकी सहानुभूति ह्रासोन्मुखी सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के प्रति न होकर जनता के व्यापक संघर्ष, पीड़ा और वेदना के प्रति थी। उनके यथार्थवाद की सीमाएँ हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग का चित्रण न कर पाए, न भूत और भविष्य के व्यापक सत्य को, जिसका उस समय तक समाज के गर्भ में प्रारम्भिक रूप ही निखर पाया था, वे वर्तमान के सत्य से संबद्ध कर पाए। फिर भी जो सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्य के गौरव का हनन कर रही थीं, उसकी महत्ता को कलुषित कर रही थीं और मनुष्य के रूप को खण्डित कर रही थीं, उन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण उन्होंने किया और राष्ट्रीय चेतना और जन-संघर्ष के फलस्वरूप मुक्ति पाने की और विकास की जो सम्भावनाएँ आकांक्षा बनकर जनता का हृदय आलोड़ित कर रही थीं, उनसे उत्पन्न आशावाद और जीवनासक्ति उनके साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। आज वह परिस्थितियाँ नहीं हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन का विघटन हो चुका है। अनेक कारणों से जनवादी शक्तियों में ही फूट पड़ गई है, जिससे जनपक्ष की शक्तियाँ अभी तक संयुक्त होकर पुनः एक ऐसे विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दे पाई हैं जो देश के समूचे वातावरण को ही बदल दे। जब तक यह वातावरण नहीं बदलता, उस समय तक किसी भी लेखक के लिए जनता से गहरा सम्बन्ध स्थापित करना कठिनतर कार्य बना रहेगा ऐसा सम्पर्क, जो लेखक को जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को चित्रित करने की प्रेरणा दे सके। इसलिए आज लेखक का दायित्व और भी बढ़ गया है। उसे यथार्थ को चित्रित करने की कला-सम्बन्धी समस्याओं से ही नहीं उलझना है, बल्कि जन-पक्ष की बिखरी हुई शक्तियों को एकजुट करने में भी सहायक होना है, ताकि हमारे राष्ट्र-संघर्ष में एक नया जनवादी उभार आए और देश में वह अनुकूल वातावरण पैदा हो सके, जिसमें लेखक को समूची जनता के रागतन्तु छूने में कठिनाई न हो, ताकि लेखक सहज ही इतिहास की उभरती हुई शक्तियों को देख सके और ऐसे पात्रों की सृष्टि कर सके जो युग की वास्तविकता के सच्चे प्रतिनिधि हों, ताकि लेखक साहित्य में एक नई उदात्त मानववादी नैतिकता का स्वर भर सके। लेखक के सामने यथार्थ और साहित्य की आज यही समस्या है।

—अप्रैल १९५२

१०

प्रतीकवाद : त्रिशंकुओं का साहित्य ?

'अज्ञेय' के नये उपन्यास 'नदी के द्वीप' को पढ़कर जैनन्द्रजी ने मुझे पत्र लिखा है, वह इतना मार्मिक और प्रस्तुत प्रसंग के लिए संगत है कि उसे ज्यों-का-त्यों उद्धृत करना आवश्यक हो गया है :

भाई शिवदान जी,

यह 'नदी के द्वीप' की आपकी प्रति आपको आती है। अभी पढ़कर चुका हूँ। सोच में हूँ कि क्या समझूँ? बड़ी उसमें बारीकी है, बड़ी ज्ञानवत्ता। और भी बड़ी-बड़ी दक्षताएँ होंगी। क्योंकि लेखक बड़े हैं। लेकिन मैं क्या सोचूँ, समझ नहीं आ रहा है। अपने को खाली हाथ पाता हूँ। सोचता हूँ, पढ़ते हुए कहीं मैं भीगा क्यों नहीं? डूबा क्यों नहीं? लेकिन यह शिकायत किससे? आखिर यह शिकायत मेरी मुझ पर ही लौट आती है। क्योंकि लेखक ने साढ़े चार सौ पन्नों में अपना मर्म-ही-मर्म देना चाहा दीखता है। इससे लगता है मैं ही अभागा हूँ। पढ़ते समय मुझे दीखता रहा है कि किताब का 'भुवन' बहुत ही ख़ास है, 'रेखा' और 'गौरा' प्रियाएँ उसी की हो सकती हैं। उनका प्रेम सबका नहीं है, सब जैसा नहीं है, साधारणगत (साधारणीकृत ?) होने के लिए नहीं है। वह कुछ इतना 'दो-के-बीच-का निजीय' है कि अपनी अतिशयता में ही उसे बन्द माना जाय। अतः वह गोपनीय है। मानो उन-दो में (मिथुन में) ही उसकी चरितार्थता है। मैथुन कहाँ दुर्लभ है? कौन उसके भोग का साधन नहीं हुआ? पर प्रत्येक मैथुन मिथुन से बाहर व्याप्ति नहीं पाता। उस (विशिष्ट) मिथुन को समाकर और उसमें आप समकर ही रह जाता है। बाहर किसी को वह छू नहीं पाता। शायद इसी से उक्ति बनी—'आहार निद्रा भय मैथुनं च···।' एक के खाने से दूसरे के पेट का सम्बन्ध असम्भव होता है। इससे यह चीजें सबके पास होकर भी सबको अलग रखती हैं। किसी के पास इनमें से किसी दिशा का नैपुण्य एवं कौशल विशेष हो, यह निस्सन्देह सशरीर के लिए स्पृहा और ईर्ष्या का विषय है। किन्तु उससे आगे वह क्या है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

लेकिन छोड़िए। इन वाक्यों को अनलिखा समझिए। वे अनधिकृत हैं। किन्तु उनमें आलोचना नहीं, याचना ही है।

कृपया पुस्तक की पहुँच स्वीकार कीजिए और इस सामयिक दान के लिए मेरी परम कृतज्ञता।

ऋषि-भवन,
१३-१-५२,

स्नेहाधीन आपका
जैनेन्द्रकुमार

'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने प्रतीकवाद की प्रयोगात्मकता से प्रभावित कवियों के समर्थन में लिखा है कि "सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है, जो प्रयोग को सार्थक करती है।" और एक स्थान पर, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि प्रयोगशील कवि साधारणीकरण के सिद्धान्त को नहीं मानता, उन्होंने लिखा है : "उसे अभी कुछ कहना है, जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं।"

जैनेन्द्र जी कोई 'साधारण' पाठक नहीं हैं। वे स्वयं बड़े लेखक और उपन्यासकार हैं। अज्ञेय कम-से-कम जैनेन्द्रजी जैसे संवेदनशील और भावुक पाठक तक तो पहुँच ही जाना चाहेंगे, जिन्हें अपनी बात समझा सकें। आश्चर्य है कि फिर भी जैनेन्द्रजी को 'नदी के द्वीप' को पढ़कर कोई 'उपलब्धि' नहीं हो पाई, और न अज्ञेय उन्हें वह 'महत्त्वपूर्ण' बात ही समझा पाए, जिसे सबल और चमत्कारिक ढंग से कह पाने के लिए उन्होंने दस-पन्द्रह वर्ष से काव्य और उपन्यास में प्रतीकवादी शैली के प्रयोग किये हैं।

जैनेन्द्रजी की 'याचना' अन्ततः हिन्दी के निन्यानवे प्रतिशत पाठकों की 'याचना' है, जिनको 'छोड़कर' प्रतीकवादी कवि और उपन्यासकार केवल एक प्रतिशत तक ही पहुँच सकना चाहकर साधारणीकरण की समस्या का हल खोजता है। इस कारण ही, 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' के नाम पर 'प्रतीकवाद' (सिम्बोलिज़्म) और 'बिम्बवाद' (इमेजिज़्म)[१] की जो मिली-जुली प्रवृत्ति, विशेषकर इन दिनों, हिन्दी-काव्य की एक विशेष धारा बनती जा रही है, एक आलोचक की हैसियत से उसकी जाँच-परख करने का दायित्व हम पर है।

देवराज उपाध्याय ने 'दूसरा सप्तक' में प्रकाशित अज्ञेय के वक्तव्य को 'सारगर्भित' कहा है। लेकिन उसका 'सार' अर्ध-सत्यों से निर्मित हुआ है, जिससे वह एकांगी है, और साहित्य में नये 'प्रयोगों' की मूल समस्याओं को अंशतः उठाकर भी अन्ततः उनसे कतरा जाता है। इन अर्ध-सत्यों को मनवाने के लिए अज्ञेय ने एक तर्क-प्रणाली अपनाई है जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो उनकी 'सरल' और 'सीधी' बात से इन्कार करना चाहे तो उसे अपने को 'दुराग्रही', 'परम्परा की दुहाई' देने वाला, 'आरोपित पूर्वग्रहों की मैली ओट' से देखने वाला समझकर ही ऐसा करने का दुस्साहस करता होगा। इसलिए साहित्य या कला में 'प्रयोग' के प्रश्न पर सबसे पहले अपना दृष्टिकोण उपस्थित करना अपेक्षित है।

अज्ञेय के इस कथन से हम सहमत हैं कि 'प्रयोग निरन्तर होते आए हैं और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है।" कि

---

१. 'प्रगतिवाद' नाम की पुस्तक में प्रकाशित निबंध 'कविता की आधुनिक व्याख्या' में 'इमेजिज़्म' के लिए मैंने 'चित्र-कल्पनावाद' शब्द का प्रयोग किया था। हिन्दी में अभी तक 'इमेजिज़्म' के लिए कोई एक शब्द रूढ़ नहीं हुआ, इसलिए सुविधानुसार दोनों का प्रयोग होता चल रहा है।—लेखक

"···केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती।" "पारखी मोती परखता है, गोताख़ोर के असफल उद्योग नहीं।" फिर, गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, दिनकर आदि की पीढ़ी के बाद के तरुण कवियों की कविता को ही 'प्रयोगशील' कहने की आवश्यकता क्यों पड़ गई ? क्या इसलिए कि ये नये कवि "यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।" (**तार-सप्तक की भूमिका, पृष्ठ ५**) और उनमें 'भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफ़ाई' अपेक्षया कम है और उन सबकी कविता में 'अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में' पाई जाती है ? या इसलिए कि इन कवियों से पहले के कवि 'प्रयोग' नहीं करते थे, या 'प्रयोग' पर इतना कम ध्यान देते थे कि वह नहीं के बराबर होता था, जिससे उनकी 'कविता' कविता न होती थी, उसमें 'कला' नहीं, 'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' ही होता था, जिससे वह कविता (छायावादी) अपने समय की 'वास्तविकता', अपने समय के 'जीवित-सत्य' को उतनी सबल, कलात्मक अभिव्यक्ति न दे पाई, जितनी सबल और कलात्मक अभिव्यक्ति नई प्रयोगशील कविता 'आज की वास्तविकता' और आज के 'जीवित सत्य' को दे रही है ?—'भले ही अटपटे शब्दों में।' या फिर यह सारा शब्द-जाल इसलिए बिछाया गया है कि उसमें फँसकर पाठक यह मान लें कि एक विशेष प्रकार की कविता ही, एक विशेष प्रवृत्ति भाव-धारा और विचार-कोण ही, एक विशेष शैली और गठन ही 'प्रयोगशील' होती है—मेरा तात्पर्य प्रतीकवादी कविता और साहित्य से है। प्रयोगशीलता की ओट में अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचारधारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि 'तार-सप्तक' की भूमिका में उन्होंने यह कहने के बाद कि अन्वेषी का दृष्टिकोण सातों कवियों को समानता के सूत्र में बाँधता है, लिखा था : "इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाक़ी सब घास छीलने वाले हैं।" उन्होंने 'प्रयोगशीलता के नमूने' के रूप में किसी विशेष कविता का हवाला नहीं दिया है, इसलिए मैं उनकी कविताओं को ही ऐसा नमूना मानने के लिए बाध्य हूँ; और उनकी कविता प्रतीकवादी है।

अज्ञेय का यह कहना सर्वथा सही है कि "प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है।" साधन किसका ? सत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देने का, 'सत्य को जानने' का नहीं, जैसा कि उनका दावा है। प्रयोग को सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का साधन मानकर वे साहित्य में सत्य से आँख-मिचौनी ही खेल सकते हैं, वस्तुतः खेलते आए हैं। प्रतीकवाद उसका परिणाम है, यद्यपि वादों से ऊपर सिद्ध करने के लिए वे अपने को 'प्रयोगशील', किसी मंज़िल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्मवेष में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा, बल्कि उसे तिरस्कृत कहने का साधन बनता गया है और उनकी

देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियों के लिए भी वह पाठकों तक पहुँचने के मार्ग में एक बाधा बन गया है।

प्रयोग निरन्तर होते आए हैं, होते जायँगे। प्रत्येक युग में, नई ऐतिहासिक परिस्थितियों में कला के युगानुरूप रूपों का जन्म होता है या प्रचलित रूपों में ही विकास होता है जिससे वह उस युग के समाज-सम्बन्धों—वस्तुसत्य को समग्र रूप से प्रतिबिम्बित करने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार मनुष्य की भौतिक परिस्थियाँ ही शिल्प और रूप-सम्बंधी विकास के मार्ग खोलती हैं। कला या साहित्य की जब कोई विशेष परम्परा अपने माध्यम से समाज के जीवन-सत्य को पूरी तरह अभिव्यक्ति देने के योग्य नहीं रह जाती तो उस समय के प्रमुख क्रियाशील प्रतिभाएँ नई टेकनीक, नई शैली और नये रूपों का विकास करके उनका उपयोग करती हैं। सामाजिक जीवन के समान ही साहित्य की परम्पराएँ भी बदलती हैं। "उनके विकास और परिवर्तन की गति समान रूपसे एक-सी नहीं होती; सामाजिक परिवर्तनों की प्रतिक्रिया के रूप में उनका क्रमिक विकास भी होता है और विप्लवी परिवर्तन भी। परम्पर के भीतर जो संघर्ष चलता है, प्रयोग उसका तात्कालिक साधन बनता है। समाज के क्रान्तिकारी युगों में प्रयोगशीलता कला और साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी संकट के लिए मार्ग भी प्रशस्त करती है और उस संकट को तीव्रतर बनाकर निकट भी लाती है। यह स्थिति उस समय तक रहती है जब तक कि प्रयोग कला या साहित्य की स्वीकृत परम्परा नहीं बन जाते, जिस प्रकार कि सामाजिक परिवर्तन स्वयं समाज की प्रस्तुत और सामान्य स्थिति नहीं बन जाता।" (**सोशल रूट्स ऑफ द आर्ट्स, पृ० सं० ६८**)। ऐसे समय कलाकार या लेखक रूढ़िवादियों के विरोधों के बावजूद जनता के साथ सम्पर्कित होता है। किन्तु साथ ही कभी-कभी ऐसा भी होता है जबकि कला और साहित्य के रूपों में शैलीगत या टेकनीक-सम्बंधी परिवर्तन समाज के क्रान्तिकारी युगों मे उत्प्रेरित होकर नहीं होते, बल्कि सामाजिक जीवन में उत्पन्न हो गए संक्रामक रोगों की निशानी होते हैं। ऐसे समय समाज मे कलाकार या लेखक का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। और 'प्रयोग' समाज के नये सत्यों, नये सम्बन्धों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए नहीं, बल्कि उनको नकारने और कलाकार के रोगी मानस की झाँकी देने के निमित्त ही किए जाते हैं। 'प्रतीकवाद' ऐसे ही रोग की निशानी है।

साहित्य का इतिहास इन दोनों प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है। किसी समय कला का कोई रूप ही क्यों विकसित होता है या किसी विशेष शैली को ही क्यों माँजा-निखारा जाता है और शैलीगत या शिल्पगत विकास की अन्य सम्भावनाओं का उपयोग क्यों नहीं होता, इसका रहस्य शिल्प या टेकनीक की आन्तरिक सम्भावनाओं को स्वयं-विकसित होने वाली मानकर नहीं जाना जा सकता, बल्कि उन मूलभूत भौतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करके ही समझा जा सकता है जो इस विकास का कारण बनती हैं। इससे यह भी सिद्ध है कि विषय-वस्तु और रूप-विधान का अन्तरंग सम्बन्ध है, कि नई विषय-वस्तु को अभि-

व्यक्ति देने के लिए ही नए कला-रूपों का जन्म होता है या पुराने माध्यमों में नये प्रयोग होते हैं। कला मनुष्य-जीवन और मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को देश-काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच प्रतिबिम्बित करती है। कला का कोई एक रूप या शैली अपने आप में किसी दूसरे रूप या शैली से अधिक मूल्यवान या उपयोगी नहीं होती; क्योंकि उसकी उपयोगिता इस पर ही निर्भर करती है कि वह अपने समय की आवश्यकताओं की किस सीमा तक पूर्ति कर सकती है। किसी रूप या शैली के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसमें अधिक बन्धन हैं या वह अधिक रूढ़ि-ग्रस्त है, क्योंकि इसकी कसौटी भी यही है कि वह किस सीमा तक अपने समय की आवश्यकताओं और पाठकों या दर्शकों से सम्बद्ध है। वस्तुतः किसी समाज में कलाकार और दर्शक या पाठक के परस्पर आदान-प्रदान के लिए जो क्षेत्र और मार्ग खुलते हैं, उनके द्वारा ही कला के नये रूपों का जन्म होता है। इस युग में ही उपन्यास और फिल्म के कला-माध्यमों या 'छायावादी' और बाद में प्रगतिवाद से प्रभावित कविता और शैलियों का विकास इसका प्रमाण है। एक कवि या कलाकार इन कला-रूपों और शैलियों में प्रयोग करते हुए किस सीमा तक निपुणता या सिद्धि प्राप्त करता है, अर्थात् इन रूपों को सरलता और सामञ्जस्य देने की उसमें कितनी क्षमता है, यह तो इस बात पर ही निर्भर है कि उसके पाठक या दर्शक जिन ऐतिहासिक संघर्षों में बरबस जूझ रहे हैं और इससे उनके अपने जीवन में जो नैतिक और सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं—इस जीवन-सत्य की किस सीमा तक कलात्मक अनुभूति करके वह अधिक-से-अधिक लोगों के लिए उसे प्रेष्य बना सकता है। इसलिए कला के सामने या प्रयोगशील कवियों के सामने यह प्रश्न नहीं होना चाहिए कि उनकी कविताएँ रूढ़ि और परम्परा से कितनी 'अछूती' हैं, बल्कि यह कि नये प्रयोग कवि और पाठक के बीच भाव-विचारों को स्वच्छन्द रूप से प्रेषित करने के और भी नये तथा व्यापक मार्ग खोलें। इसलिए कविता या किसी कला-रूप के माध्यम में सार्थक प्रयोगों की एकमात्र कसौटी यह है कि वह अपने प्रयोजन की पूर्ति करने में समर्थ हों। "अगर कोई कलाकार समाज और मानव-प्राणियों के बारे में सत्यों का उद्‌घाटन करना चाहता है तो वह आवश्यकतावश कला के ऐसे रूपों और शैलियों को ही अपनाना चाहेगा जो उसके अभीष्ट को पूरा करने में सहायक हों, जिस पाठक या दर्शक-वर्ग तक वह पहुँचना चाहता है, उसे यथासम्भव निकट लायँ और उसे अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने की अधिकाधिक स्वतन्त्रता दें। अपने लिए किसी कला-रूप या शैली को चुनते समय कलाकार के लिए यह बात ही निर्णयकारी होती है, न कि किसी कला-रूप का 'प्रकृत' या रूढ़ियों से मुक्त नज़र आने वाला गुण।" (**आर्ट एण्ड सोसाइटी—ले० सिडनी फिन्केलस्टीन, पृष्ठ १०६**)।

इसी प्रकार नये प्रयोग क्या जीवित सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं—इसके लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिए कि जीवन के किसी अनुभव की पुनः सृष्टि करने में वे कितने सक्षम हैं, बल्कि यह कि उस अनुभव की मानवी वस्तु कैसी है, उस कला में किस प्रकार का अनुभव व्यक्त हुआ है। अर्थात् अपने समय के समग्र सामाजिक जीवन की अपेक्षा में

वह अनुभव कितना सारवान और संगत है, उसमें व्यक्त भावनाएँ और विचार कितने मानवीय हैं, किस प्रकार के मनुष्यों को कला में प्रविष्ट किया गया है। और अन्त में हमें देखना चाहिए कि नये प्रयोग जीवन का जो आकलन करते हैं, वह कैसा है; अर्थात् समाज के भीतर मानव-सम्बन्धों के बारे में लेखक या कलाकार का दृष्टिकोण क्या है। ये कतिपय कसौटियाँ हैं, जिन पर किसी भी नये प्रयोग को परखना आवश्यक है। इन प्रश्नों को बिना उठाये, केवल प्रयोग को आत्यन्तिक महत्त्व देना—चूँकि प्रयोग निरन्तर होते आए हैं—परम्परा से ही विच्छेद करना नहीं है, बल्कि पाठकों से भी विच्छेद कर लेना है, और प्रयोगों को भी निरर्थक बना देना है।

ज्ञान के 'विशेषीकरण' को बहाना बनाकर अज्ञेय ने एक कृत्रिम अन्तर्विरोध की कल्पना की है और इस प्रकार साधारणीकरण के प्रश्न से कतराकर प्रयोगशील कविता और साहित्य की दुर्बोधता और दुरूहता को समाज के 'विभाजित सत्य को समूचा' देख सकने के लिए अनिवार्य और स्पृहणीय बताया है। ('दूसरा सप्तक' के अधिकांश कवि उनके इस मत से सहमत नहीं दीखते।) इस सम्बन्ध में इतना कहना ही अलम् होगा कि नये समाज-सम्बन्धों और नई परिस्थितियों (बाह्य वास्तविकता) के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके उसका साधारणीकरण करने की समस्या आदि काल से लेकर आज तक प्रत्येक युग के कलाकारों के सामने रही है। इस समस्या से जूझकर और इसका कलात्मक समाधान खोजकर ही उन्होंने महान् कला की सृष्टि की है। इसके लिए उन्होंने स्थापित समाज की अवहेलना और उपेक्षा भी सहन की है और अकथ यातनाएँ और कठिनाइयाँ भी झेली हैं। प्राचीन काल में अनेक कलाकार प्रसिद्धि नहीं पा सके, उनका घोर विरोध भी हुआ और वे ग़रीबी और मुफ़लिसी का जीवन बिताते हुए मरे। लेकिन उनकी रचनाएँ अपने समय के पाठक या दर्शक-वर्ग (अथवा आम जनता) के लिए दुर्बोध और अगम्य रही हों, इतिहास इसका साक्षी नहीं है। अज्ञेय के दुराग्रह को सिद्ध करने के लिए हमें इतिहास के तथ्तों को अनदेखा करके एक आत्म-प्रवंचक की तरह सोच लना होगा कि मिल्टन और ग़ालिब की कविता, शेक्सपियर और इब्सन के नाटक, तालस्तॉय औरडिकेन्स उपन्यास,बीथोविन और मोज़ार्ट का संगीत, रेम्ब्राँ और बानगोग के चित्र अपने समय के सर्वसाधारण द्वारा नहीं समझे जाते थे, या यह कि ये सही अर्थों में 'प्रयोगशील' कलाकार न थे, केवस घास छीलने वाले थे और उनकी कला में 'कला' नहीं केवल,'शिल्प' और 'हस्त-लाघव' था। वस्तुतः प्राचीन युगों के महान् कलाकारों की रचनाएँ,उनके नये प्रयोग सर्वसाधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे। उनके नये प्रयोगों या उनकी नई शैलियों का विरोध हुआ तो केवल इस कारण कि वे कलाकार तात्कालिक रूढ़ियों और मान्यताओं से विच्छेद करके चले थे, न कि इसलिए कि उनकी बातें दुर्बोध थीं। दरअसल सत्ताधारी वर्गों या न्यस्त स्वार्थों के लोगों की ओर से उन पर आक्रमण होता ही इस कारण था कि उनके विप्लवकारी विचार सर्वसाधारण को बोधगम्य और ग्राह्य होते थे, और यह उन्हें प्रिय न हो सकता था।

अपने युग की श्रेष्ठ कला को इने-गिने लोग ही समझ सकते हैं, और सच्चा कलाकार

अपने समय में नहीं समझा जाता, इसीलिए वह भावी सन्तति के लिए ही कला सृष्टि करता है, "क्योंकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो" जाती है—यह धारणा तो पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में ही—अनेक सामाजिक-ऐतहाहिसक कारणों के संयोग से—योरॅप (फ्रांस) में पैदा हुई, और इसके पीछे छिपी कलाकार की नक्कूशाही (फिलिस्टीन) अहम्मन्यता और बौद्धिक आभिजात्य से उत्पन्न दयनीय निस्सहायता सर्वसाधारण (पाठक और दर्शक) से उसके सम्बन्ध-विच्छेद की सूचना देती है और इस बात की सूचना देती है कि पूँजीवाद के ह्रास-काल में एक व्यक्तिनिष्ठ और सामाजिक जीवन से तटस्थ कलाकार किस प्रकार अपना सच्चा आत्म-गौरव खोकर एक असामाजिक प्राणी—त्रिशंकु बन जाता है।

अज्ञेय ने अपने वक्तव्य में परम्परा का प्रश्न भी उठाया है और परम्परा का कवि के लिए तभी कोई अर्थ माना है जब वह उसे 'आत्मसात्' करके अपना 'गहरा संस्कार' बना ले। ऐसी 'संस्कार देने वाली परम्परा' ही उनकी दृष्टि में 'कवि की परम्परा' हो सकती है। इससे हम असहमत नहीं हैं। और अज्ञेय की कविता और साहित्य की जड़ें किसी पूर्व-परम्परा में न हों, ऐसा भी नहीं है। फ्रांस के प्रतीकवादियों, टी० एस० इलियट और ऐसी ही अधुनातन असामाजिक प्रवृत्तियों और लेखकों की परम्परा से वे सम्बद्ध हैं, वस्तुतः हिन्दी साहित्य में वे उनकी ही तर्जुमानी करते हैं। उनकी रचनाओं में विचित्रता, अनबूझता और नयापन (मुक्तदायी ताजगी और मानवीय भवनाओं और विचारों की व्यापकता और बुलन्दी नहीं) जो पाठकों को दिखता है, वह पाश्चात्य साहित्य के अध्येता के लिए उतना मौलिक और नया नहीं है। तो अज्ञेय परम्परा की बात तो उठाते हैं, और एक सीमा तक सही ढंग से भी, लेकिन एक प्रयोगशील कवि के लिए परम्परा का वास्तविक महत्त्व क्या है, इस प्रश्न से वे उसी तरह कतरा जाते हैं जिस तरह साधारणीकरण के प्रश्न से। इसलिए नये प्रयोग करने वाले कवि या कलाकार के लिए परम्परा का क्या महत्त्व है, इसे समझ लेना जरूरी है। वर्तमान को वस्तु और रूप के लिए विगत पर ही निर्भर करना होता है। ये वस्तुएँ या उपकरण और रूप-विधान वर्तमान की जीवित सामाजिक परिस्थितियों के मध्य परिवर्तित और विकसित होते जाते हैं और साथ ही उन सामाजिक परिस्थितियों को भी प्रभावित करते जाते हैं। कलाकार के लिए परम्परा से अवगत होने का अर्थ उस पुँजीभूत शिल्प और टेकनीक का पूरा-पूरा ज्ञान और नैपुण्य प्राप्त कर लना है, जो विगत युगों में कला-क्षेत्र में विकसित हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कलाकार विगत का अनुकरण करे। कोई भी सच्चा कलाकार अपने को सीखी-जानी टेकनीक की सीमाओं में ही बाँधकर नहीं रखता। वह इस शिल्प-ज्ञान और टेकनीक को अपने समय की विषय-वस्तु को अभिव्यक्ति देने योग्य बनाने के लिए तोड़ता-मरोड़ता और बदलता है। इस प्रकार पुरानी टेकनीक नये सत्य की अभिव्यक्ति करते समय स्वयं ही नहीं बदल जाती बल्कि बदल कर नये सत्य को युगानुरूप नया रूप-विधान भी प्रदान करती है। "कोई भी कवि या कलाकार जब अपनी सामग्री को कलात्मक रूप देने की चेष्टा करता है तो वह सर्वथा नई

वस्तु नहीं पैदा करता । वह प्रचीन से, अपने अनुभव से, समाज के पुञ्जीभूत अनुभव से प्राप्त सामग्री का उपयोग करता है लेकिन उसके हाथ में पड़कर वह समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों के साथ एक नये सम्बन्ध में गठित हो जाता है, और यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो परिणामतः एक मौलिक कलाकृति की सृष्टि होती है, अतः परम्परा की आधार-शिला पर (जिसका निर्माण मनुष्य-जाति शताब्दियों में करती है) पाँव जमाकर ही एक कलाकार अपने जीवन के लघु वर्षों में भी एक महान् सृष्टा की बुलन्दी तक ऊपर उठ जाता है।" (**सोशल रूट्स ऑफ द आर्ट्स—पृ० ६६**) परम्परा के अन्तर्गत कल और आज की परम्पराएँ भी शामिल हैं और गत शताब्दी या आदिकाल से लेकर अब तक के किसी भी देश और काल की परम्पराएं भी। साहित्य या कला को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य की महानता और व्यापकता देने के लिए विगत की कौनसी परम्परा को नई कला या साहित्य में आत्मसान् करना चाहिए, इसका निर्णय तो प्रत्येक कलाकार या लेखक सामाजिक जीवन और संघर्षों की अपनी चेतना के अनुसार स्वयं करता है। प्रेमचन्द ने तॉल्स्ताय, गोर्की, डिकेन्स आदि यथार्थवादी लेखकों से प्रेरणा ली। अज्ञेय की प्रेरणा के स्रोत बोदलेयर, मलार्मे, प्रूस्त, टी० एस० इलियट, अल्डूस हक्सले, इजरा पाउण्ड, जां पाल सार्त्र आदि प्रतीकवादी, बिम्बवादी और अस्तित्वादी कवि और उपन्यासकार ही बने, जो ह्रासकालीन पूँजीवाद की विशृङ्खलता, अराजकता और जन-विरोधी व्यक्तिनिष्ठा के प्रतिनिधि हैं।

तो अज्ञेय की 'प्रयोगशीलता' का नक़ाब उतारकर हमें उसके असली 'प्रतीकवादी' रूप को समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस विशेष प्रकार की 'प्रयोगशील्लता' के पीछे कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक आदि के माध्यम से हमारी समूची जनता और क़ौम की विरासत और सामूहिक जीवन को, उसके समस्त वैविध्य और अन्तर्विरोधों के साथ कलात्मक रीति से प्रतिबिम्बित करने का आग्रह नहीं है। प्राचीन काल के कलाकारों की तरह नई परिस्थितियों से प्राप्त नई विषय-वस्तु को मूर्त, सक्रिय और सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने के निमित्त प्रयोग करना छोड़कर केवल रूप-विधान और शैली को जान-बूझकर अधिकाधिक निजीय, जटिल और दुरूह बनाने की चेष्टा ही नई प्रयोगशील कविता की विशेषता है, क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, यह प्रवृत्ति 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' से प्रभावित है। और जब अज्ञेय कहते हैं कि "प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने" नहीं हैं तो प्रच्छन्न रूप में कवियों से (जो अधिकतर प्रगतिशील जनवादी दृष्टिकोण के हैं) उनका यही आग्रह होता है कि 'आपकी कविता में अभी प्रेषणीयता के गुण वर्तमान हैं, अभी तक आपने "चेष्टा-पूर्वक ध्यान रखकर" अपनी शैली को इतना प्रतीकात्मक नहीं बना पाया कि उसमें व्यक्त भाव-विचारों के संकेत केवल आपके लिए ही सार्थक हों, अन्य के लिए वे अगम्य हों—अर्थात् आप अभी तक अन्य मनुष्यों के साथ कवि के रूप में संपर्क स्थापित किए हुए हैं, पूरे त्रिशंकु नहीं बने ! पूरे त्रिशंकु बन जाने पर आप किस राजनीतिक दल या विचारधारा का समर्थन करते हैं, यह हमारे लिए चिन्ता का विषय नहीं होगा!'

हमें प्रयोगशीलता-बनाम-'प्रतीकवाद' से इसी बात पर आपत्ति है, इस पर नहीं कि प्रतीकवादी 'प्रतीकों' का प्रयोग करते हैं—क्योंकि भाव और विचारों से गुम्फित अनुभव को प्रक्षेपित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग तो कवि आदि काल से करते आये हैं। इस प्रसंग में हमने जो नुक्ते उठाये हैं, हिन्दी-आलोचकों का कर्तव्य है कि उनको दृष्टि में रखकर वे इस नई धारा की समूची कविता, उपन्यास और कहानियों का सही-सही मूल्यांकन करें और 'प्रयोगशीलता' के नाम से भ्रान्ति में पड़कर 'प्रतीकवाद' और 'बिम्बवाद' की शैलियों को अपनाने वाले कवि और लेखकों का कर्तव्य है कि वे एक कलाकार की ईमानदारी से सोचें कि वे अपनी जनवादी विचारधारा के बावजूद कलाकार के रूप में कहीं जन-समाज के त्रिशंकु तो नहीं बनते जा रहे ?

—२० जनवरी, १९५२

११

कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' की समस्या

हिन्दी कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' शब्दों का इस्तेमाल लगभग दस-पन्द्रह वर्षों से होता आ रहा है—प्रायः इस रूप में जैसे ये दोनों सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। हमारी साहित्यिक विचारणा में इन शब्दों को इतनी धूमधाम से प्रवेश कराने वाले चिन्तकों और रचनाकारों के अपने-अपने आग्रहों-दुराग्राहों और उनको लेकर चलने वाली निरंतर की तनातनी के परिणामस्वरूप पाठकों में यह व्यापक धारणा बन गई है कि 'प्रगति' का सम्बन्ध कविता की वस्तु (कन्टेंट) से है और 'प्रयोग' का सम्बन्ध कविता के बाह्य रूपाकार (फार्म) से है।

किसी गहरी अनुभूति की कलात्मक अभिव्यंजना के बिना भी, कविता में यदि 'सही' मानववादी दृष्टिकोण या 'सही' वामपक्षीय राजनीतिक विचार पद्यबद्ध हैं, तो उन हल्की-फुल्की तुकबन्दियों को 'नये युग' की कविता घोषित करने में हमारे कतिपय प्रगतिवादी आलोचक संकोच नहीं करते, और समझते हैं कि कोरे साधारणीकृत विचारों, सिद्धान्तों और वक्तव्यों में 'आगे बढ़ते जाने' या 'लड़ते जाने' के गर्वोक्तिपूर्ण उद्‌गारों और 'अँधेरा-सबेरा' की टकसाली चित्र-कल्पनाओं को यांत्रिक ढंग से जोड़कर तुकों की बन्दिश में बाँध देने या मुक्त-छन्द के रूप में लिख देने भर से ही कविता में 'प्रगति-तत्व' पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में काव्य की किसी भी सौन्दर्य-परक कसौटी पर इन पद्यात्मक रचनाओं को परखने का प्रश्न नहीं रहा, क्योंकि अमूर्त्त विचार-वस्तु की शुष्क और यथातथ्य नीरस व्यंजना भी उनकी दृष्टि में स्पृहणीय दिखाई देती है। 'सही' सिद्धान्त-कथन ही इन रचनाओं का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षों में प्रगतिवादी कवियों की कविताओं के अनेक संग्रह छपे हैं। उनमें कुछ श्रेष्ठ और सशक्त कविताएँ भी हैं, किन्तु अधिकतर ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कवियों ने काव्य के रूपाकार (फार्म) को विकृत और सतही बनाने में जैसे एक दूसरे से होड़ लगा रखी है।

प्रयोगवादी, इसके विपरीत, 'प्रयोग' का सम्बन्ध केवल कविता के रूपाकार (फार्म) तक ही सीमित रखने पर ज़ोर देते आये हैं। यह सच है कि रूपगत प्रयोगों को ही वे 'साध्य' घोषित नहीं करते, किन्तु ये प्रयोग किस विशेष 'वस्तु-सत्य' की अभिव्यक्ति के 'साधन' हैं, इसे वे कभी खुलकर बताते भी नहीं और न 'वस्तु' और 'रूप' के अंगांगि सम्बंध पर ज़ोर ही देते। वे अपने को 'राहों का अन्वेषी' तो कहते हैं, लेकिन राजनीतिक विश्वासों की भिन्नता के आधार पर कम्युनिस्ट से लेकर अमरीकी साम्राज्यवाद तक के हिमायती इन प्रयोगवादी

कवियों की विभिन्न 'राहें' उन्हें कहाँ, किस ओर ले जाती हैं, उनका गन्तव्य क्या है, यह गन्तव्य उनके काव्य के रूपगत प्रयोगों से निर्णीत होगा या काव्य-वस्तु से, इन सभी संगत प्रश्नों पर वे अपनी व्याख्याओं में मौन ही रहते आये हैं। अपने पन्द्रह-वर्षों के 'प्रयोगों' और 'राहों के अन्वेषणों' के फलस्वरूप उन्होंने आज तक साहस करके यह नहीं कहा कि उनकी कविता में 'युग-सत्य' की अभिव्यक्ति होने लगी है। लगता है जैसे वे समझते हैं कि काव्य-वस्तु की ओर से उदासीन रहकर भी, केवल नये शब्द-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, चित्रों और ध्वनियों की अभिनव योजना के सहारे ही कविता में 'प्रयोग' को सार्थक बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य और सौन्दर्य की किसी भी वस्तु-परक कसौटी पर इन 'प्रयोगों' को परखने का प्रश्न नहीं रहा, क्योंकि अभिव्यक्ति में किसी भी प्रकार की सार्थक अथवा निरर्थक नवीनता ही उनकी दृष्टि में स्पृहणीय दिखायी देती है; साहित्य के श्रेय-प्रेय से परे की यह रूपगत नवीनता ही इन कविताओं का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षों में प्रयोगवादी (?) कविताओं के जो कतिपय संग्रह छपे हैं, उनमें कुछ कविताएँ सार्थक और सफल भी हैं, किन्तु अधिकतर ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर पाठकों की यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कवियों ने काव्य-परम्परा से विच्छेद करने के साथ ही काव्य-वस्तु (कन्टेन्ट) को विकृत और सतही बनाने में एक-दूसरे से होड़ लगा रखी है।

हिन्दी कविता, इस प्रकार, दोनों दिशाओं से एकांगी बनती जा रही है। 'प्रगति' और 'प्रयोग' के समर्थकों की काव्य-दृष्टियों में और भी अनेक मौलिक भद हैं, किन्तु यहाँ केवल इतना सूचित कर देना ही हमें अभीष्ट है कि 'प्रगति' या 'प्रयोग' के नारे उठाकर हमारे तरुण कवियों ने कविता के साथ गत वर्षों में जैसा खिलवाड़ किया है, वह हिन्दी-पाठकों को दायित्वहीन और एक सीमा तक उछृंखल भी लगा है। इन कविताओं में उन्हें न रस मिलता है, न कोई गहरा व्यापक अनुभव ही, जो उनकी मूक भावनाओं और वस्तु-सत्य की अरूप अनुभूतियों को वाणी और रूप देकर प्रकाशित कर दे। यहाँ कविता की सरलता और दुरूहता का प्रश्न नहीं है, न कवि के समष्टिवादी या व्यष्टिवादी दृष्टिकोण का, न पुरानी या नयी पद्धति का और न बहुसंख्यक पाठकों में रुचि की गिरावट या समान-धर्मा अभिजात वर्गीय पाठकों की अल्प संख्या का हो। यह सब प्रश्न तभी उठते हैं जब कविता वास्तव में 'कविता' हो—अमूर्त्त विचारों की तुक-बन्दी या कोरा वाग्वैचित्र्य न हो।

इस युग में कविता का स्तर गिर गया है और पाठक उससे विमुख हो गये हैं। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (इंगिलिस्तान) ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ी के पाठकों ने जैसे सर्वसम्मति से कटिबद्ध होकर आधुनिक कविता से (जो इज़रा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट और उनसे प्रभावित कवियों की प्रयोगवादी कविता है) पीठ फर ली है। कविता अब बिकती ही नहीं। अमरीका के बारे में भी लुई अन्टरमियर की ऐसी ही रिपोर्ट है। दक्षिणी अमरीका के बारे में चिली के नोबल पुरस्कार-विजेता कवि ग्रैबीता मिस्त्राल का कहना है कि वहाँ भी कविता ह्रास-ग्रस्त है क्योंकि कोई महान प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हो रहा, और कविता का स्तर दिनोंदिन गिरता जा रहा है। सोवियत

रूस में भी मायाकोव्स्की के बाद अभी तक कोई बड़ी प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ। हमारे यहाँ भी, प्रसाद, पंत, निराला के बाद, 'प्रयोग' या 'प्रगति' की समस्याओं से जूझने वाले नये कवियों की पीढ़ी में कोई वास्तविक प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ। यह गिरावट सार्वत्रिक है। और विचित्र बात तो यह है कि इस गिरावट का कारण दोनों विचार-कोणों के समर्थक केवल बाह्य ही बताते हैं; वह भी जो समष्टिवादी हैं और वह भी जो व्यष्टिवादी हैं। दोनों ही इस गिरावट की ज़िम्मेदारी समाज के कन्धों पर डालकर अपनी अक्षमताओं के लिए औचित्य ढूँढ़ लेते हैं।

'प्रगति' के समर्थक, जो अधिकांशतः साम्यवादी हैं; समाज-विज्ञान के अध्येता हैं, जिन्होंने व्यक्ति और समाज तथा कला और समाज के पारस्परिक सम्बंध की सारी गुत्थियों को वैज्ञानिक रीति से सुलझाकर ऐसे सटीक फार्मूले तैयार कर लिए हैं कि कोई बात उन की चेतना में अस्पष्ट या व्याख्यापेक्षित नहीं रही, उनका कहना है—और अपनी जगह पर सही कहना है—कि वर्तमान पूँजीवादी समाज के वैषम्यपूर्ण वर्ग-संबन्धों की आधार-शिला मनुष्य द्वारा मनुष्य का श्रम-शोषण करके मुनाफ़ा कमाना है। वर्तमान समाज की चरम-सीमा पर पहुँची हुई इस व्यवसायिक वृत्ति के कारण ही कविता और कलाओं में ह्रास हो रहा है। विज्ञान-युग के सांस्कृतिक साधनों (रेडियो, फिल्म, प्रेस) पर पूँजीपतियों की इजारेदारी है, जो अपने मुनाफ़े के लिए और अपने वर्ग का अस्तित्व क़ायम रखने के लिए इन साधनों के द्वारा जैसा साहित्य और जैसी कला को प्रोत्साहन दे रहे हैं, वह जनता की वस्तु-सत्य की चेतना को कुंठित करती है, उसकी कला-रुचि को विकृत और अश्लील बनाती है, उसके मनमें बुर्जुआ-भ्रमों की जड़ें पक्की करती है। लेखक और कलाकार भी इस 'बाज़ार' के ही आश्रित हैं और ऐसी कृतियों की रचना करने के लिए विवश हैं, जो इन साधनों के स्वामियों को अधिक-से-अधिक लाभ दिला सकें। ऐसी स्थिति में कला का स्तर गिर जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, लेखक और कलाकार स्वयं पूँजीवादी भ्रमों और मनोवृत्तियों से मुक्त नहीं हुए हैं, और वे वर्तमान समाज की कलाघाती व्यवसायिक वृत्ति और वर्ग-वैषम्य के प्रति पूरी तरह सचेत भी नहीं हैं, अर्थात् समाजवाद के लिए संघर्ष करने वाली जनता के साथ नहीं हैं।

किन्तु कविता की जिन धाराओं की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं—प्रगति और प्रयोग की धाराएँ—उन पर यह वैज्ञानिक विवेचन पूरी तरह लागू नहीं होता। सबसे पहले, 'प्रगति' के समर्थक तो सचेतन कवि और लेखक हैं, वर्ग-समाज के वैषम्य की जाँच-पड़ताल में ही उनका अधिकांश समय बीतता है, और उन्हें इस बात पर गर्व भी कम नहीं है कि वे पूँजीवादी भ्रमों और मनोवृत्तियों से अपने को मुक्त करके जनता के साथ एकजुट होकर समाजवाद के लिए संघर्ष कर रहे हैं। किन्तु फिर भी, उनकी कविता—केवल भारत में ही नहीं, बल्कि वहाँ भी जहाँ मनुष्य पूँजीवाद के वर्ग-सम्बन्धों को मिटाकर नये समाज का निर्माण कर रहा है—एक बड़ी सीमा तक रसहीन और रूपहीन है, सो क्यों? कम-से-कम उनकी कविता को तो पूँजीवादी व्यवसायिकता से उत्पन्न ह्रासोन्मुखता का अपवाद होना

चाहिए था। दूसरी बात यह कि, 'प्रयोग' के समर्थक कवियों ने, वे चाहे जिस शैली के हों—प्रतीकवादी, रूपचित्रवादी या अभिव्यंजनावादी—वे सब पूँजीवादी मनोवृत्ति और दृष्टि-कोण से चाहे जितने आक्रान्त हों, उन्होंने व्यवसायिक लाभ के लिए क्वचित ही कभी लिखा है। उनकी कविता 'पॉपुलर' नहीं है, जिस तरह सनसनीखेज़ उपन्यास होते हैं। बल्कि सच तो यह है कि फ्रांस, इंग्लैण्ड या स्वयं हमारे देश में भी, व्यवसायिक लाभ की दृष्टि से रचे गये 'पॉपुलर साहित्य और कला' की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में ही 'कला-कला के लिए' का नारा उठाया गया था, जो आगे चलकर अनेक रूपवादी शैलियों का जनक बना। रूपगत प्रयोग ही मुख्यतः इस प्रतिक्रिया के माध्यम बने। सभी जानते हैं कि प्रयोगवादी रचनाएँ प्रकाशकों के लिए मुनाफे की वस्तु नहीं रहीं। इसलिए 'प्रगति' के समर्थकों का वैज्ञानिक तर्क वर्तमान काल में कविता के स्तर की गिरावट का सही-सही निदान करने में समर्थ नहीं है।

'प्रयोग' के समर्थक, जो अधिकांशतः व्यष्टिवादी हैं, मनोविज्ञान (विशेषकर फ्रॉयडी मनोविश्लेषण शास्त्र) के मननशील अध्येता हैं, जिन्होंने व्यक्ति के अचेतन मानस की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओं में (आत्मापेक्षण द्वारा) घुसकर मनुष्य के जैवी-स्तर की पाशविक वृत्तियों और अन्धी काम-वासनाओं का साक्षात्कार किया है, जो वास्तविकता को अपने मन के भीतर ही देखते हैं, जो व्यक्ति मानस को ही समस्त घटनाओं और संघर्षों का केन्द्र और कारण मानते हैं, जो व्यक्ति-सापेक्ष विशिष्ट अनुभूतियों को ही निरपेक्ष सत्य समझते हैं, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है, जिन्हें अपनी कला पर समाज और उसकी नैतिकता की छाया पड़ जाना भी स्वीकार नहीं है, उनका भी कहना है कि वर्तमान युग में विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं ने व्यक्ति की सत्ता को आमूल झकझोर दिया है। विज्ञान ने धर्म और ईश्वर की जड़ों पर कुठाराघात करके मनुष्य से उसकी आस्था का सम्बल छीन लिया है और इसके बदले में व्यक्ति को इस अनन्त ब्रह्माण्ड में मनुष्य-जीवन की अकिंचनता का आभास देकर उसकी चेतना को अवसन्न कर डाला है। जड़ प्रकृति के इस अनन्त आँचल में कण-तुल्य मनुष्य के अस्तित्व का मूल्य ही क्या? मानव-समाज के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के ये सब सपने, योजनाएँ, संघर्ष और क्रान्तियाँ किस हेतु हैं, जब कि जीवन-मात्र एक आकस्मिक घटना है और अचेतन प्रकृति के एक ही आकस्मिक आलोड़न में सदा के लिए उसका अन्त हो सकता है? युद्ध की विभीषिकाओं, क्रान्तियों और नये सर्व-संहारी अणु-अस्त्रों के निर्माण ने मानव-सभ्यता और संस्कृति को ही नहीं, व्यक्ति-जीवन के अस्तित्व और उसकी सम्भावनाओं तक को भी अनिश्चित बना दिया है। इस अनिश्चितता ने समाज में मरण-भावना के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर दी है। मरण-भावना यों भी, मनोविज्ञान के अनुसार, मानव-मन की एक मूल-वृत्ति है। किन्तु आज अणु-बम या प्रकृति के कोप से मरने का त्रास ही व्यक्ति को नहीं सता रहा। फ्रायडी मनोविज्ञान ने व्यक्ति को जीते जी मरने के—एक बार नहीं बल्कि अनेक बार—त्रास के प्रति भी सचेत कर दिया है, अर्थात

पुंसत्वहीनता के भय के प्रति, जो युद्ध, क्रान्ति या महामारी में मरने से कहीं भयंकर है। इसलिए इस युग में व्यक्ति के लिए अपने अस्तित्व की चिन्ता ही सबसे बड़ी और मौलिक चिन्ता है। पुंसत्वहीनता का भय ही सबसे बड़ा भय है। इस चिन्ता और भय के विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आज लेखक और कलाकार विवश है। नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न उसके सामने नहीं है। उसे इस बात से प्रयोजन नहीं कि उसकी कला स्वस्थ है या अस्वस्थ, सरल है या दुरूह, क्योंकि वह ईमानदारी से अपने मन की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए प्रयोग करता है। अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का मार्ग उसके पास और है भी क्या ? अपने को स्वस्थ, आस्थाशील, मानववादी या नैतिक दिखाने के लिए वह अपनी कला पर किसी बाहरी सिद्धान्त या दृष्टिकोण का रंग नहीं चढ़ाता, क्योंकि ऐसा करके वह अपने प्रति ईमानदार नहीं रह सकता और न अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करके अपने व्यक्तित्व को ही प्रमाणित कर सकता है। वह किसी और की बोली में क्यों बोले ? वह किसी भी समाज-स्वीकृत भावना, विचार, रूढ़ि या नीति का पिष्ट-पेषण या चर्वित-चर्वण क्यों करे ? इसलिए उसके प्रयोग मुख्यतः कला के रूप तक ही सीमित हैं—ऐसे रूप की सृष्टि तक जो व्यक्ति कलाकार की विशिष्ट मानसिक स्थितियों की संश्लिष्टता को झलका सके। उसकी कविता समाज-वास्तव द्वारा आरोपित बाध्यताओं और विवशताओं की कविता है। आलोचक यदि कहते हैं कि यह कविता का ह्रास है तो वे जानें, कवि इससे परेशान नहीं। साधारण पाठक यदि उसकी कविता को नहीं समझ पाते, तो यह उसे अभीष्ट नहीं। समान-धर्मा अभिजातवर्ग का एक छोटा-सा वर्ग भी उसे समझ जाय तो उसके प्रयोगों का औचित्य है। (सच तो यह है कि समान-धर्मा पाठक भी कवि के मन की विशिष्ट प्रतिक्रियाओं को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विशिष्ट अनुभव की अपेक्षा में ही किसी अन्य की बात को समझता है, अतः एक प्रयोगवादी कवि की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं को प्रत्येक समान-धर्मा पाठक भी अपने ढंग से ही समझेगा, जो कि सम्भव है कवि के मन्तव्य और मनोभाव से बिल्कुल भिन्न हो।)

किन्तु 'प्रयोगवादी' जब इस प्रकार की बौद्धिक दलीलें देता है तो स्वयं अपने व्यक्तिवाद की कब्र खोदकर उसमें कूद पड़ता है। यह मान लेने पर कि विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषकाओं ने अनिश्चितता और भय का वातावरण पैदा कर दिया है, जिससे समाज में कुंठा, निराशा, मरण-भावना, हिंसा, पर-पीड़न, अनास्था, यौन-उच्छृंखलता, स्वार्थपरता और मानवद्रोह की भावनाएँ ऊपर से नीचे तक व्याप्त हो गई हैं, क्या प्रयोगवादी कवि का केवल अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करने या अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यह सारा आडम्बर एक भयंकर आत्म-प्रवंचना का प्रमाण नहीं देता ?—क्योंकि प्रयोगवादी कविता में अधिकतर इन भावनाओं की ही अनुगूंज रहती है। व्यक्ति-कलाकार की आत्मा के विशिष्ट सत्य जैसी कोई चीज इन रचनाओं में कौन-सी होती है ? माना कि य भावनाएँ सामाजिक नहीं हैं, नैतिकता की दृष्टि से अ-सामाजिक,

अ-नैतिक और अ-मानवीय हैं, किन्तु प्रयोगवादियों के ही कथनानुसार वे समाज में व्यापक रूप से प्रचलित तो हैं और सामाजिक कारणों से ही तो उत्पन्न हुई हैं ? तो क्या उनका अ-सामाजिक, अ-नैतिक और अ-मानवीय होना ही उनकी 'विशिष्टता' का प्रमाण है, जिससे प्रयोगवादी उन्हें अपनी 'आत्मा का विशिष्ट सत्य' बनाने के लिए इतना उतावला रहता है। उसका ईमानदारी का सबूत क्या मनुष्य की पशुता को उघाड़ने में ही है ? अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यही तरीका उसके पास शेष रहा है ? इन प्रश्नों से कतराने के लिए वह केवल 'प्रयोग' पर ज़ोर देता है, ताकि पाठक भ्रम में पड़कर केवल वचन-भंगिमा, शब्दों की विचित्र योजना, उक्ति की वक्रता और लय की नवीनता को ही, अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट ढंग को ही उसकी 'आत्मा के विशिष्ट सत्य' और अपने 'व्यक्तित्व को प्रमाणित' करने का पर्याय मान लें और उसकी कविता में निहित मानव-जीवन और जगत के प्रति कवि के वक्तव्य, भाव, स्वर और अन्तर्दृष्टि के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की चेष्टा न करें, अर्थात् उसकी वस्तु को न जाचें। दूसरे, जिन सामाजिक बाध्यताओं और विवशताओं का प्रयोगवादी उल्लेख करते हैं, वे गत पन्द्रह वर्षों या बीसवीं शताब्दी की कोई आकस्मिक् उपज नहीं हैं। अनेक युगों में, अनेक बार लोगों को अपने समय की चेतना की अपेक्षा में प्रत्यक्षतः दुर्निवार समस्याओं और संकटों का सामना करना पड़ा है। वर्ग-समाज की विषमताओं के बीच प्रगति करने वाले मनुष्य के सामने संघर्ष, युद्ध और क्रान्तियाँ कब नहीं रहीं ? किन्तु जितनी बड़ी समस्याएँ रहीं, उनका मुक़ाबला करने के लिए सामूहिक रूप से मनुष्य उतनी ही बड़ी शक्ति को उत्पन्न करने में भी समर्थ होता रहा। उन युगों के महाकवियों और कलाकारों ने अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों की संकीर्णताओं से उतना ही ऊपर उठकर चेतना-प्रेरक, प्राणवान् और जीवनाकांक्षी काव्य और कला की महान कृतियों का निर्माण किया—आख़िर समस्याएँ और संकट भी तो मानवकृत ही थे और आज भी हैं। आज भी मनुष्य युद्ध की विभीषकाओं से बचने और अणु-शक्ति के विध्वंसक उपयोग को रोकने के लिए सामूहिक रूप से शान्ति-संघर्ष में अपनी अपार शक्ति को तोल रहा है। समाज-वास्तव का यह भी तो एक पहलू है—अधिक सत्य, चेतन और आशामय, जो कुंठाओं से मेघाच्छन्न नहीं है। इसलिए 'प्रयोग' के समर्थकों की बौद्धिक दलीलें वर्तमान काल में कविता के स्वर की गिरावट का सही-सही निदान करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है—सामान्य पाठकों के प्रति दोनों वर्ग के कवियों और आलोचकों का आत्मश्लाघा से भरा तिरस्कारपूर्ण, नक्कूशाही दृष्टिकोण, जिसे अंग्रेज़ी में 'स्नॉबरी' कहते हैं। दोनों के पाठक अलग-अलग 'बन्द दायरे' के विशिष्ट पाठक हैं—प्रगतिवादी कवि केवल वर्ग-संघर्ष में भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओं तक ही अपनी रचनाओं को प्रेषित करते हैं, क्योंकि केवल वे ही अपनी उत्तेजित मनोदशा में इन पद्यबद्ध वक्तव्यों को पढ़कर पुलकित होते हैं। उन्हें कविता या साहित्य से कोई स्थायी मूल्य का अनुभव पाने की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए वे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के प्रति प्रायः उदासीन होते हैं। उन्हें तो अधिकतर कामचलाऊ चीजें चाहिएँ, जिनका उपयोग वे तुरंत किसी

मंच पर कर सकें। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रगति' का समर्थक कवि अपने को पाँच सवारों में गिनने लगता है, चाहे साधारण पाठक (जो अधिकांशतः शोषित वर्गों के ही हैं) स्वतंत्र रूप से उसकी रचनाओं को पढ़कर द्रवित और रस-विभोर न होते हों। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों के सहज विवेक और सौन्दर्यबोध को कुंठित करने के लिए 'प्रगति' के वकील (ऐपॉलोजिस्ट) आलोचकों और सम्पादकों का एक गिरोह पैदा हो गया है। उनका तर्क-जाल इन कवियों को भी गुमराह करता है और पाठकों में भी हीन भावना पैदा करके एक विकृत और छिछली कला-रुचि फैलाता है। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारण तथा प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रगतिवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं? इन में रस नहीं मिलता? तो निश्चय ही तुम प्रतिक्रियावादी हो, तुम्हारे संस्कार बुर्जुआ हैं, तुम 'कला कला के लिए' के समर्थक हो, कलावादी हो, रूपवादी हो, जनता से विमुख हो, जनता की अनलंकृत भाषा के विरोधी हो। तुम सत्य नहीं चाहते, केवल शब्दों का इन्द्रजाल तुम्हें रुचता है। क्या कहा? सत्य चाहते हो, जनवादी हो? तो फिर इन कविताओं में 'सत्य' ही तो व्यक्त है! ये कवि ही तो सच्चे जनवादी हैं! कबीर, तुलसी और भारतेन्दु अपने समय के सच्चे जनवादी कवि थे, उन्होंने जनभाषा में लिखा, उनकी परम्परा को वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार ये कवि ही तो विकसित कर रहे हैं। ये कविताएँ तुम्हें अभी नहीं रुचतीं, क्योंकि तुम अभी इस युग की समस्याओं के प्रति सचेत नहीं हो, लेकिन भविष्य की कविता पलायनवादी और कल्पनालोक में विहार करने वाली नहीं होगी, बल्कि उसमें जीवन के ठोस यथार्थों की अभिव्यक्ति होगी, जो इन कविताओं में पर्याप्त है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लाँछनों और उपदेशों को सुनकर इस कविता को तुच्छ और रद्दी कहने का साहस किसे होगा? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को प्रतिक्रियावादी नहीं मानना चाहता।

इसके ठीक विपरीत, प्रयोगवादी कवि अभिजातवर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं, जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृंखल और दायित्वहीन हैं, दूसरी ओर वर्तमान पूँजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास की आशंका से संत्रस्त और उद्भ्रान्त भी हैं। ऐसे ('समानधर्मा') पाठकों को सार्थक या निरर्थक रूपगत प्रयोगों की पहेली-बुझौवल से एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति मिलती है। उन्हें कविता या साहित्य से कोई गहरा मानवीय अनुभव पाने की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए कविता की वस्तु के प्रति वे प्रायः उदासीन रहते हैं। उन्हें तो अक्सर ऐसी वक्र उक्तियाँ और चुटकले चाहिए, जिन्हें वे अपनी ऊब और कुंठा दूर करने के लिए अपने वर्ग के बीच बैठकर व्यंग-विनोद करने, एक-दूसरे पर फ़ब्तियाँ कसने, मुँह बिचकाने या सामाजिक भावनाओं और नैतिकता की खिल्ली उड़ाने के लिए तुरंत इस्तेमाल कर सकें, या जो उनकी मानवद्रोही अनास्थाशील और यौन-उच्छृंखलतावादी भावनाओं का औचित्य सिद्ध करके तत्काल के लिए उनके अन्तःकरण को मुक्त कर दें। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रयोग' के समर्थक कवि अपने को बहुत बड़ा

तीसमारख़ाँ गिनने लगते हैं, चाहे सामान्य पाठक (जिनमें प्रबुद्ध, संस्कृत और संवेदनशील पाठकों की कमी नहीं है) स्वतंत्र रूप से उनकी रचनाओं को पढ़कर विरक्ति और ग्लानि का ही अनुभव क्यों न करते हों। वे अपने को सूर, तुलसी, ग़ालिब, रवीन्द्र, इक़बाल, प्रसाद, पंत, निराला से किसी भी अंश में कम नहीं मानते। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के लिए 'प्रयोग' के वकील (एपॉलोजिस्ट) आलोचकों, सम्पादकों और आध्यापाकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है (पाश्चात्य देशों में तो इस गिरोह में बड़े-बड़े नामवर लोग हैं) जो उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-चयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारणतया प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती हैं? तुम इसे अनर्गल प्रलाप कहते हो? तो तुम निश्चय ही रूढ़िपन्थी हो, समय से पिछड़े हुए हो, तुम्हारी रुचि का आधुनिक संस्कार नहीं हुआ, तुम मतवादी हो, पूर्वग्रहों से ग्रस्त हो! तुम्हारी भावनाएँ दक़ियानूसी और असंस्कृत हैं। तुम कविता की कृत्रिम रूप से गढ़ी हुई रंगीन भाषा के आदी हो, जिसके भाव, चित्र, अलंकार और उपमान पुराने और टकसाली हों। पुराने के प्रति मोह मनुष्य का स्वभाव है, क्योंकि दीर्घ परिचय के कारण वह बोधगम्य होता है, लेकिन पुराने भावों को व्यक्त करने में मौलिकता कहाँ है? और नये भाव पुरानी भाषा में कैसे व्यक्त हो सकते हैं? कविता का विकास परम्परा से आबद्ध रह कर नहीं हो सकता। फिर इतनी संकीर्णता क्यों? क्या कहा, तुम पिछड़े नहीं हो, दक़ियानूसी नहीं हो, आधुनिक चेतना के मनुष्य हो? तो फिर यह 'प्रयोगवादी कविता' ही तो अधुनातन कविता है, परम्परा से सर्वथा मुक्त। वास्तव में यही 'सच्ची' कविता है, क्योंकि इतिहास में पहली बार कवि ने ईमानदारी से अपने मन की जटिल और विशिष्ट प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति दी है—वह अपने अन्नदाता की प्रशस्तियाँ गाने वाला राजकवि और चारण-भाट नहीं रहा, वह नैतिक बन्धनों के कारण 'ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमला कर' गाने वाला भक्त कवि नहीं है, वह 'कल्पना का लाड़ला' छायावादी भी नहीं है, जो 'निपट भावावेश से निर्वेद' अवस्था में पहुँचकर जीवन-यथार्थ से ही विमुख हो गया था। यह प्रयोगवादी कवि ही सच्चा कवि है, जो बिना किसी लाग-लपेट के जीवन की वीभत्सता, कुत्सा और निस्सारता का सही चित्र अंकित कर देता है। पुराना काव्य, इसीलिए, कोरा शब्द-जाल है, थोथा कौशल है, केवल बाह्य की अनुकृति है। उसमें प्रौढ़ता नहीं, कवि के व्यक्तित्व का प्रकाश नहीं। सौन्दर्य के पुराने मान-दण्डों से इस नई कविता को मत जाँचो! यह मत देखो कि कवि ने क्या कहा है, क्योंकि यह जानना महत्त्वपूर्ण नहीं है, और ऐसा करने से अनिवार्यतः तुम व्यर्थ के नैतिक पचड़ों में फँस जाओगे। तुम्हें तो सिर्फ यह देखना चाहिए कि कवि क्या कहना चाहता है—वह चाहे जो हो, तुच्छ या महान, नैतिक या अनैतिक—और जो कहना चाहता है, वह ठीक से, निर्भीकता से, ईमानदारी से कह पाया ह

या नहीं। नई कविता का सौन्दर्य कवि की इस ईमानदारी में है जो उसके कहने के ढंग में व्यक्त होती है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लांछनों को सुनकर इस कविता को मानवद्रोही और खोखला कहने का साहस किसे होगा? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को मूर्ख, असंस्कृत और समय से पिछड़ा हुआ नहीं मानना चाहता। तो दोनों ही अपने नक्कूशाही दृष्टिकोण से साधारण पाठक के सत्य-परक विवेचन और सौन्दर्य-बोध को मूछित करना चाहते हैं। इतिहास में जान-बूझकर, केवल इतने विशिष्ट पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करने की चेष्टा रचनाकारों ने कभी नहीं की। गत युगों के सभी महान कवियों ने अपने वर्गगत संस्कारों के बावजूद, अपनी जान में तो मनुष्य-मात्र तक अपनी कविता को प्रेषित करने का ही प्रयत्न किया, जिसके कारण भी उनकी कविताएँ सर्वजन-संवेद्य बन सकीं। वाल्मीकि, कालिदास, होमर, शेक्सपियर और गेटे की कविता रसार्द्र करने के लिए किसी पाठक से विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण या अभिजातवर्गीय अनास्था और कुंठा की अपेक्षा नहीं रखती।

आधुनिक पाठक जैसे कविता के बीहड़ जंगल में फँस गया है, जहाँ समाज को दोषी ठहराने वाली कर्कश आवाजें तो सुनाई देती हैं, लेकिन कविता की रसधारा नहीं बहती। स्वयं उस बेचारे को प्रतिक्रियावादी, दक़ियानूसी या मूर्ख कहकर लांछित तो किया जाता है, लेकिन उसकी विश्व-बोधिनी चेतना को गहरी अन्तर्दृष्टि और उसकी भावनाओं को गहरा मानवीय संस्कार नहीं दिया जाता। ऐसे में यदि पाठक का दम घुटता है और वह इस जंगल से जान छुड़ाकर निकल भागने को छटपटाता है, तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? कविता के स्तर की गिरावट के लिए समाज की व्यावसायिकता जिम्मेदार है, विज्ञान की ईजादें, युद्ध की विभीषकाएँ और आधुनिक युग की अनास्था जिम्मेदार है और इन विपरीत परिस्थितियों में भी जो कविता रची जा रही है, उसको नापसन्द करने या समझ न पाने के लिए पाठकों की बुर्जुआ मनोवृत्ति या उनकी रूढ़ि-प्रियता और मूर्खता जिम्मेदार है—आधुनिक कविता के पाश्चात्य वकीलों की किताबों से रट-रटाकर, इन तर्कों की आवृत्ति और पुनरावृत्ति करते फिरना तो एक फैशन-सा बन गया है, लेकिन क्या कभी किसी ने पाठक का मत भी जानना चाहा है? आज का प्रबुद्ध पाठक भी तो आधुनिक युग की चेतना में ही पला है—विज्ञान-मनोविज्ञान के अन्वेषणों-विश्लेषणों, युद्धों-अणुअस्त्रों की विभीषिकाओं, साम्राज्यवाद-फैसिज़्म के अत्याचारों, आर्थिक-संकट-बेरोजगारी की अनिश्चितताओं-यातनाओं, स्वतंत्रता-संग्रामों, समाजवादी क्रान्तियों और शान्ति-आन्दोलनों के विप्लवकारी परिवर्तनों के बीच ही उसके विश्व-बोध और भाव-प्रतिक्रियाओं का विकास हुआ है, जिनकी दुहाई देकर हमारे नये कवि अपनी कलागत् अक्षमताओं या मानवद्रोही भावनाओं के लिए बौद्धिक औचित्य खोजते फिरते हैं, मानो इस युग की यातनाओं और उथल-पुथल के एकमात्र वे ही भुक्त-भोगी दृष्टा रहे हैं, और मानो पाठक किसी प्राचीन अन्धकार-युग के निर्द्वन्द्व वातावरण में रहते आये हैं। किन्तु आधुनिक कवि की आत्म-प्रवंचनाओं के कवच को छेदकर प्रबुद्ध पाठक पूछता है—उसे पूछने का अधिकार

है, क्योंकि इन कविताओं के लिए वह अपनी कमाई के पैसे ही नहीं खर्च करता, बल्कि उन्हें अपने गले से नीचे उतारने के लिए भी बाध्य किया जाता है—इसलिए वह पूछता है कि कविता-क्षेत्र की इस समस्त धाँधली के लिए क्या कवि की जिम्मेदारी कुछ भी नहीं है ? जो कवि विषय-वस्तु पर ही जोर देते हैं और अभिव्यक्ति और रूप (फार्म) के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं, वे क्या रूप (फार्म) से मुक्त कविता की सृष्टि कर सकते हैं ? रूप-सौन्दर्य और व्यंजना-तत्व की अवहेलना करने से क्या बड़े-से-बड़ा विचार स्वयं विकृत होकर क्षुद्र नहीं बन जाता ? उसका कलात्मक मूर्तीकरण क्या अन्ततः रूप के ही आश्रित नहीं है ? इसलिए अनगढ़, रुक्ष और अविकसित रूप (फार्म) में क्या विचार-वस्तु, विश्व-बोध, भाव, स्वर सभी कुछ संकीर्ण और क्षुद्र बनकर नीरस और निर्जीव नहीं दिखता ? और जो कवि केवल रूप (फार्म) पर ही जोर देते हैं और विचार-वस्तु के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं, या उसकी चर्चा से कतराते हैं, वे क्या वस्तु से मुक्त रखकर किसी शुद्ध रूप की सृष्टि कर सकता है ? विचार-वस्तु की अवहेलना करने से क्या रूप-निर्माण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टाएँ खोखली और बेढंगी नहीं बन जातीं ? रूप की रेखाएँ क्या वस्तु की व्यंजना में ही नहीं अनिवार्यतः उभरतीं-निखरतीं ? इसलिए तुच्छ और उलझी विचार-वस्तु और क्षुद्र और कुत्सित भावनाओं से, कुशल प्रयोगों के बावजूद, क्या रूप भी विकृत होकर भोंडा नहीं दिखता ? ऐसी एकांगिता क्या दोनों प्रकार की कविता को समान रूप से नीरस, निरर्थक, कुरूप और अ-प्रेष्य नहीं बना देती ? क्या इस एकांगिता के लिए भी कवि की जिम्मेदारी कुछ नहीं है ?—तो कवि का मानस क्या ग्रामोफोन का चक्का है जिस पर सिर्फ राजनीतिक पार्टियों के वक्तव्यों के रिकार्ड ही बजाये जा सकते हैं, या मात्र एक ऐसी विशिष्ट फोटो-प्लेट है जिस पर समाज में व्याप्त कुत्साओं, वासनाओं और क्षुद्रताओं के रूप ज्यों-के-त्यों उतर आते हैं, और वास्तविकता के अन्य संविधायक पहलू उस पर अपना अक्स नहीं छोड़ पाते ? 'कवि क्या कहना चाहता है', केवल इतने तक ही पाठक अपनी जिज्ञासा को सीमित क्यों रखे ? पाठक अन्तर्यामी तो नहीं है जो कवि के अवचेतन मन की 'उलझी संवेदनाओं' को भाँप जाये ? किसी कविता में कवि ने क्या कहा है, जो कहा है वह मनुष्य के परम्परागत अनुभव की अपेक्षा में कैसा है, किस कोटि का है—नवीनता, गहराई, व्यापकता जीवन-बोध और मानवीय रागात्मकता की दृष्टि से—इन सब सौन्दर्यपरक, नैतिक और दार्शनिक स्तरों पर भी उसके कथन को वह क्यों न जाँचे-परखे ? केवल 'कैसे कहा है'—शिल्प-टेकनीक के स्तर की इतनी जाँच-परख ही क्या पर्याप्त है ? क्या इतने से ही कविता का सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण कर पाना सम्भव है ? आधुनिक पाठक की चेतना भी इस युग के अनुसार ही संश्लिष्ट है, अतः किसी भी कविता को पढ़ते समय शब्द-चमत्कार और ध्वनि-सौन्दर्य के प्रारम्भिक मूर्त्त-स्तर से लेकर नैतिक और दार्शनिक चेतना के उच्चतर अमूर्त्त स्तरों तक की प्रक्रियाएँ एक साथ ही उसके मन में अनायास चालू हो जाती हैं—उस कविता के सम्पूर्ण अनुभव को ग्रहण करने के लिए—उनके सम्मिलित निर्णय के आधार पर ही पाठक उस कविता का मूल्य आँकता है। आधु-

निक कविता को समझने का प्रयत्न करते समय वह इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओं को बरबस क्यों दबा रखे ?

किन्तु इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओं का जिक्र आते ही पाठक के 'पूर्वग्रहों' को रसास्वादन की क्रिया में विघ्न डालने वाले दस्युओं के रूप में घसीट लाना क्या आधुनिक कविता के वकीलों (ऐपॉलोजिस्ट्स) को शोभा देता है ? कवि के पूर्वग्रह क्या नहीं होते, और वे उसकी कविता में क्या अनिवार्यत: व्यक्त नहीं होते ? पाठक के पूर्वग्रह निन्दनीय हैं तो कवि नामधारी व्यक्ति के पूर्वग्रह किस दैवी पुण्य के कारण वन्दनीय हैं, जो पाठक उन्हें अतर्क्य श्रद्धा-भाव से अपने सिर-माथे स्वीकार करता जाय ? आखिर ये 'पूर्व-ग्रह' हैं कौनसी बला, जिनसे कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है––कभी नहीं रहा––और जो किन्हीं दो व्यक्तियों को परस्पर अपने हृदय की बात कहने-सुनने-समझने के मार्ग में सदा एक दुर्लंघ्य दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं ? वास्तव में 'पूर्वग्रह' ऐसी कोई भयंकर बला नहीं हैं, यदि होते तो ज्ञान-विज्ञान और कला का कहीं अस्तित्व न होता, यहाँ तक कि मनुष्य की भाषा तक का विकास न होता। 'पूर्वग्रह' मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव और ज्ञान के मार्ग से विकसित होने वाली चेतना, नैतिक-संस्कार, सौन्दर्य-भावना और विश्व-बोध का अनिवार्य परिणाम हैं, जो व्यक्ति की निजी धारणाओं, मान्यताओं और सहानुभूतियों के रूप में व्यक्त होते हैं। किन्तु ये 'पूर्वग्रह' व्यक्ति की ऊपर से निजी दिखने वाली धारणाएँ, मान्यताएँ, और सहानुभूतियाँ, युग-चेतना के विकास और व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप से वस्तु-सत्य के नये अनुभव की अपेक्षा में स्वत: बदलते भी रहते हैं। कला तथा विज्ञान, जीवन और जगत के सत्य का अपने-अपने ढंग से उद्घाटन करके, मनुष्य के विश्व-बोध को व्यापक बनाते हैं तो साथ ही उसके पूर्वग्रह भी संकीर्णता त्यागकर अधिक व्यापक और मानवीय होते जाते हैं। फिर 'पूर्वग्रहों' का भूत खड़ा करके प्रयोगवादी कवि अपने और पाठक के बीच किसी गहरे चेतनाप्रद अनुभव के आदान-प्रदान की सम्भावना को ही बन्द क्यों कर देना चाहते हैं ? गत युगों के महान कवियों की तरह (जो स्वयं अपने पूर्वग्रहों, अपने युग की चेतना और शिल्प-ज्ञान की सीमाओं से मुक्त नहीं थे) जीवन-वास्तव और मानव-सम्बन्धों के सत्य की गहरी चेतना देने वाली मार्मिक कविता रचकर आधुनिक कवि भी मनुष्य के संकीर्ण, क्षुद्र, असंस्कृत, पिछड़े, असामाजिक पूर्वग्रहों को तोड़ने और उस की सहानुभूतियों को और अधिक व्यापक तथा मानवीय बनाने में क्यों योग नहीं देते ? या फिर स्वयं उनकी सहानुभूतियाँ, उनके 'पूर्वग्रह' इतने संकीर्ण, आत्म-केन्द्रित और असामाजिक हैं कि वे अपने रुग्ण मानस के बाहर निकलकर वास्तविकता को देख-समझ ही नहीं सकते, और शायद इसी कारण उनकी पर्दापोशी के लिए वे पाठक के 'पूर्वग्रहों' का भय दिखाते हैं ताकि पाठक की उच्च स्तर की जिज्ञासाओं की अन्तर्भेदी दृष्टि के आगे उन्हें अपनी क्षुद्र और मानवद्रोही आत्मा की 'नंगाझोरी' देने के लिए बाध्य न होना पड़े ? पर उनकी इस दयनीय स्थिति की जिम्मेदारी किस पर है ? संकीर्णता पाठक की है या आधुनिक कवि की, जो या तो जीवन-वास्तव के प्रति निपट

असंवेदनशील है, या यदि संवेदनशील है तो केवल उस अंग के प्रति ही जो ह्रासोन्मुखी है, और जिसे सम्पूर्ण सत्य मानकर, उच्छृंखलता और ग़ैर-जिम्मेदारी की झोंक में, वह अपनी रही-सही मानवीय सहानुभूतियों का गला घोंटने पर उतारू हो गया है ?

जीवन पर संकट के बादल छाये हैं, किन्तु मनुष्य ने क्या उसके आगे घुटने टेक दिये हैं ? क्या स्वयं हमारे देश की आवाज़, जो छत्तीस करोड़ जनता की आवाज़ है, इस संकट से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए इतिहास और जीवन का आग्रह लेकर विश्व में गूँजकर लोगों में नई आशा का संचार नहीं कर रही है ?

इस आवाज़ के प्रति कवि क्यों कर्ण-वधिर होकर बैठ गया है या उसको मुँह क्यों बिचकाता रहता है ? क्या अपनी आध्यात्मिक रंकता और पुंसत्वहीनता का ढिंढोरा पीट कर किसी भी शाब्दिक तिलिस्म से वह अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित कर सकेगा ?

प्रबुद्ध पाठक के प्रश्नों का अन्त नहीं है, किन्तु हम इस सूची को अनावश्यक रूप में लम्बा नहीं बनाना चाहते। इन प्रश्नों की गम्भीरता केवल इस तथ्य को ही रेखांकित करती है कि दोनों पक्षों के प्रवक्ता और कवि 'प्रगति' और 'प्रयोग की समस्या को जिस एकांगी दृष्टि से समझते हैं और आधुनिक कविता में जो गिरावट दिखाई देती है—एक ओर विशेषकर शिल्प-सौन्दर्य और दूसरी ओर भाव-विचार-वस्तु की—उसके बारे में प्रचलित प्रवादों, मतवादों और फैशनों के चक्कर में न पड़कर नये कवि अपने महान दायित्वों को समझें। प्रगति और प्रयोग की समस्या को वे समग्र रूप में देखें। और जिनमें प्रतिभा है वे उसको, परिस्थितियों की विषमता के बावजूद, 'सच्ची' कविता के सृजन में लगायें। इसी में कवि का गौरव है और देश का गौरव है।

—फरवरी, १९५५

१२

आधुनिक कविता की समस्याएँ

आधुनिक कविता में कई प्रवृत्तियाँ और दृष्टिकोण हैं और इसके कई रूप हैं। लेकिन उसकी जो प्रवृत्ति और शैली इन दिनों तीव्र विवाद का विषय बनी हुई है, वह है प्रयोगवादी धारा। प्रयोगवादी कवि अपनी कविता को ही हिन्दी की नई या आधुनिक कविता मानते हैं। इसलिए मैं इस संक्षिप्त विवेचन में प्रयोगवादी कविता पर ही विचार करूँगा।

हिन्दी में प्रयोगवादी कविता विश्व-काव्य में कोई अन्यतम या अभूतपूर्व विकास नहीं है। काव्य ही क्यों, साहित्य और कला के अन्य रूपों और माध्यमों, जैसे उपन्यास, नाटक, चित्र, संगीत और स्थापत्य में भी इस शताब्दी में नई प्रवृतियाँ मुखरित हुई हैं और उनके बारे में भी समीक्षकों, पाठकों और दर्शकों में तीव्र मतभेद और विचार-संघर्ष चल रहा है। यह सब जीवन और जाग्रति का लक्षण है। उनके समर्थन या विरोध में जो कुछ कहा-सुना जा रहा है, उसमें सारा-का-सारा अनर्गल नहीं है। दोनों ओर कुछ सत्य है और कुछ असत्य है। इस समस्त ऊहापोह, विरोध और विचार-संघर्ष का परिणाम यह है कि दोनों ओर के असत्य का छिलका उतर रहा है और सत्य उभर कर एक नये सन्तुलन की माँग करने लगा है।

वर्तमान युग को संक्रान्ति युग कहा गया है, यानी हमारा जीवन पुराने के दायरे से निकल कर नये के दायरे में संक्रमण कर रहा है। हर संक्रान्ति युग विकट संघर्ष, वैषम्य, संकट और सत्यान्वेषण का युग होता है। उसमें मनुष्य के पुराने समाज-विधान का ढाँचा ही नहीं टूटता, बल्कि उसके विश्वास, उसकी नैतिकता, उसके विचार और भाव प्रतिक्रियाएँ भी बदलने लगती हैं, और जो कुछ पुराना है, उससे टकराती हैं। मनुष्य का समूचा विश्व-बोध एक नये परिवर्तन के भंवर में पड़ जाता है। ऐसे युगों के कवि और कलाकारों की कृतियों में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या पात्रों के चरित्र-चित्रण के माध्यम से वस्तुत: मनुष्य के नये विश्व-बोध और तत्कालीन जीवन की पुरानी मान्यताओं का विराट् संघर्ष प्रतिबिम्बित होता है।

इस शताब्दी के आरम्भ से ही विश्व-मानव अपने जीवन में एक नये युगान्तर का अनुभव करने लगा है। आधुनिक समाज भयंकर असंगतियों से ग्रस्त है। विज्ञान ने संस्कृति के व्यापक प्रसार के लिए प्रेस, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन जैसे सर्वजन-सुलभ साधन मनुष्य को प्रदान किये हैं। प्रजातन्त्र ने शिक्षा को भी सर्वजन-सुलभ बनाने की कोशिश की है। लेकिन साक्षरता जितनी ही बढ़ती है, लोग उतने ही अशिक्षित होते जाते हैं। जीवन

के उच्चतर मूल्यों के प्रति उनकी आस्था कम होती जाती है और साहित्य तथा कला की श्रेष्ठ कृतियों के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती जाती है। आज के यान्त्रिक युग में शिक्षित व्यक्ति दैनिक समाचार पत्रों या अधिक-से-अधिक रोमान्टिक कहानियों और सनसनीखेज उपन्यासों का पाठक बनता जा रहा है। दूसरी ओर सिनेमा प्रायः अधिकतर सस्ते मनो-रंजन का साधन बन गया है। जीवन की विषम और कठोर वास्तविकता से एक क्षण के लिए पलायन करके मन बहलाने का साधन।

इन सबके ऊपर, विज्ञान ने ऐटम की शक्ति का पता लगाकर विश्व को एक नये त्रास के दुःस्वप्न से आक्रान्त कर दिया है। राजनीतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक और वर्ग संगठनों और समूहों के बीच व्यक्ति-मानव खो गया है। व्यक्ति-मानव ही क्यों, समूह या समष्टि का जीवन भी आज निरापद नहीं है। वह भी एक अमूर्त्त इकाई है, जिसे उद्जन बमों से बिना किसी हार्दिक वेदना का अनुभव किये मिटाया जा सकता है।

आधुनिक कविता को समझने के लिए वर्तमान विश्व-जीवन के इन तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि आधुनिक कविता के पीछे इन परिस्थितियों की ही प्रबल प्रेरणा है। आधुनिक मानव-समाज जिन असंगतियों से ग्रस्त है, उसमें जो संगठित शक्तियाँ एक दूसरे से जूझ रही हैं और इन समस्त वैज्ञानिक आविष्कारों, राष्ट्रीय आन्दोलनों, वर्ग संघर्षों और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं, वैमनस्यों और युद्धों के बावजूद या उनके परिणाम स्वरूप वह जिस दिशा में अग्रसर है, उसकी गति-विधि को प्रभावित करना व्यक्ति-मानव की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। कवि और कलाकारों की आवाज़ नक्कारखाने में तूती की आवाज़ बन गई है। इसलिए वे इस विराट उथल-पुथल के निरुपाय दृष्टा बनते जा रहे हैं। वे विश्व-रंगमंच के सक्रिय अभिनेता नहीं रहे। कम-से-कम वे तो ऐसा ही अनुभव करते हैं।

वर्तमान विश्व-जीवन की यह तस्वीर काफ़ी निराशाजनक और भयंकर है। इसी-लिए आधुनिक कविता में खीज, झुंझलाहट, कुंठा, अनास्था, निराशा और मानवद्रोही भावनाओं की इतनी तीव्र अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि जब 'अज्ञेय' की आत्मा चीत्का-रती है—

> "यह दीप अकेला स्नेह भरा
> है गर्व भरा मदमाता, पर
> इसको भी ? पंक्ति को दे दो।"

या जब सर्वेश्वर दयाल सक्सेना इस समाज में अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा का मार्मिक चित्र खींचते हुए कहते हैं—

> पोस्टर
> जो दूसरों की बात कहते हैं
> जिनके हृदय नहीं है पर प्यार का सन्देश देते हैं
> जो एक आकार है महज़ आकार

जिसकी कोई सीमा नहीं है
जिनके भाव दूसरे के हैं
वे आज के युग में
आदमी से अधिक बड़े सत्य हैं
उन्हें सब पहचानते हैं
वे ही महान हैं ।

या जब नेमीचन्द जैन अपनी मृत आकांक्षाओं की समाधि पर खड़े होकर चीड़ के सनसनाते हुए पेड़ से उनकी आत्मकथा सुनने की याचना करते हैं—

ओ चीड़ के पेड़
मैं हूँ मरुस्थल
मैदान जलता हुआ सा
पड़ा है शिखर के चरण से बहुत दूर
जलता सुलगता—

या जब लक्ष्मीकान्त वर्मा अपना आत्म-परिचय देते हुए कहते हैं :

हुआ क्या ?
जो भी है देख लो
मैं नग्न हूँ—नग्न
गति लीन—
—अति प्रच्छन्न
—हृदय की धड़कन—
और जीवन—
बारेसी है गरीब की
—आँच नहीं
जल————
जल रे जल

तब उनके व्यक्तिगत उद्गार के पीछे वर्तमान समाज के सत्य का वह पहलू प्रतिध्वनित होता है जिसका उल्लेख मैं अभी कर चुका हूँ । समूह और संगठन, यानी समष्टि व्यक्ति को रौंद रही है, उसके अभिप्रायों और उसकी आकांक्षाओं को निर्ममता पूर्वक घोंट रही है, इसकी तीव्र अभिव्यक्ति इन सभी कविताओं में मिलती है । यह सत्य है, किन्तु क्या आधुनिक विश्व-जीवन का यही समग्र सत्य है ? क्या आज की वास्तविकता का यह पहलू मात्र नहीं है ? आधुनिक-मानव का नया विश्व-बोध क्या इस वैषम्य की एकांगी चेतना तक ही सीमित है ? आधुनिक कविता से मेरा विरोध इस प्रश्न को लेकर ही है, जो वास्तव में उतना विरोध नहीं, जितना दृष्टि-परिधि को युग के सम्पूर्ण सत्य तक विस्तारित करने का आग्रह और सुझाव भर है ।

•

आधुनिक कविता काव्य-शास्त्र की प्राचीन रीतियों को त्याग रही है। उसके 'छन्द बन्ध और प्रास के रजत पाश' टूट रहे हैं। शब्द-चयन, वाक्य रचना, अलंकार विधान, सभी कुछ बदल रहे हैं। कविता तुक-ताल के बंधनों से मुक्त होकर नये आशय को स्पष्ट करने, अभिव्यक्ति को सघन और तीव्र बनाने के लिए नई भाषा, नई लय, नई शैली और नई टेकनीक का प्रयोग कर रही है—यह सब बातें मुझे या किसी भी प्रबुद्ध पाठक को चिन्तित नहीं करतीं। इतिहास के सभी संक्रान्ति युगों में, यहाँ तक कि हर युग की कला में, नये रूप-विधानों या अभिव्यक्ति के नये प्रकारों की खोजबीन होती है। जिसके पास कहने को कुछ भी नया है, ऐसा हर कवि और कलाकार रूपगत प्रयोग करता है। अभिव्यक्ति की रूढ़ शैलियों के प्रति मोह जीवन और प्रगति का लक्षण नहीं है। छायावाद की शैली में युग-सत्य को आज अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती तो उसे बदलने से किसे आपत्ति होगी? केवल शास्त्रीय ढंग अध्यापक ही इसका विरोध करते हैं, क्योंकि नई शैली की कविता को किसी शास्त्र-सम्मत वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। लेकिन जो खुली आँख से युग-सत्य को देखना-समझना चाहते हैं, वे भाषा और शैली सम्बन्धी रूपगत प्रयोगों को ग़लत या अनावश्यक नहीं मान सकते, यदि वे प्रयोग वास्तव में युग-जीवन के सत्य को अधिक स्पष्ट, मार्मिक, गम्भीर, मूर्त्त, उदात्त और तीव्र अभिव्यक्ति देने म समर्थ हैं, जिससे पाठक के जीवन-बोध की सीमाओं का विस्तार होता है। यदि उनमें कोरा आत्म-प्रदर्शन और चमत्कार-विधान का शब्दाडम्बर ही न हो तो नये सत्यों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये रूप या फार्म की खोज अनिवार्य है।

आधुनिक कविता में जो नये प्रयोग हो रहे हैं, उनमें कुछ सार्थक हैं तो कुछ निरर्थक। कुछ गम्भीर हैं तो कुछ उच्छृंखल। यह भी कोई आशंका की बात नहीं है। सभी युगों में ऐसा हुआ है। कला का निर्माण अन्ततः व्यक्ति लेखक या कलाकार की प्रतिभा का आश्रित है। जिनमें प्रतिभा नहीं है, उनके प्रयोग चमत्कार-विधान या उच्छृंखल आत्म-दर्शन से अधिक और कुछ नहीं हो सकते। समय की कसौटी पर वे स्वयं खोटे सिद्ध हो जायंगे। आधुनिक कविता में अभी तक अधिक संख्या यदि खोटी रचनाओं की है, और जो थोड़े से गम्भीर कवि हैं, उनकी प्रतिभा यदि रवीन्द्र, प्रसाद, निराला और पंत की ऊँचाई को नहीं पा सकी है, तो मेरे निकट यह भी विशेष चिन्ता का विषय नहीं है। यह अनिवार्यतः कविता के ह्रास का सूचक ही हो, सो भी नहीं कहा जा सकता। यदि एकांगी दृष्टि और एकांगी मतवादों से व्यक्ति-कवि सम्पूर्ण युग-सत्य को देखने और अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य पथ-भ्रष्ट और एकांगी न हो जाय, जिसका ख़तरा इस युग में अत्यधिक है, तो प्रतिभा का अंकुर कहीं और किसी समय भी फूट सकता है।

आधुनिक कविता से मुझे आपत्ति है तो केवल इतनी कि उसमें अपवादों को छोड़कर अभी तक युग-सत्य की एकांगी अभिव्यक्ति पर ही ज़ोर है। उसको पढ़कर लगता है जैसे उद्जन बम, युद्ध, यान्त्रिकता, आशंका, अनास्था, रूढ़ियों का बन्धन, व्यक्ति की सत्ता की उपेक्षा करने वाले संगठनों की सर्वशक्तिमानता, मानवद्रोही भावनाए, अनैतिकता, भ्रष्टा-

चार आदि वर्तमान जीवन में ऐसी असंख्य कुत्साएँ, विकृतियाँ और भय ही व्याप्त हैं। लेकिन अगर यही सम्पूर्ण युग-सत्य हो तो मनुष्य जिये किस आशा को लेकर ? ये सब विकृतियाँ मनुष्यकृत हैं, और मनुष्य ही इन सबके विरुद्ध संघर्ष-शील है। मनुष्य ही आज एक नये मानवतावादी समाज के निर्माण के आकांक्षी है, जिसमें ये असंगतियाँ और कुत्साएँ न हों, जिसकी नैतिकता मानव-सम्बन्धों में व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्विरोध को यदि संपूर्णतः न मिटा सके तो उसे इतना दुखदाई तो न रहने दे। ये सारी मानवीय आकांक्षाएँ और प्रयत्न ही आज मनुष्य-जीवन के भावी-विकास की आशा और संभावनाएँ हैं। इसलिए आधुनिक कवि जब एक विचित्र और बहुधा छिछोरे ढंग की मानवद्रोही अनास्थाशीलता मे या संकीर्ण मत-वादी दृष्टि से मनुष्य की इन पुनीत आकांक्षाओं और उसके प्रयत्नों का मखौल उड़ाने या उनकी कमज़ोरियों को ही उघाड़ने की चेष्टा करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि 'पुराने' या 'जो है' के अंध-विरोध की झोंक में अपनी सहज मानवता से भी हाथ धो बैठे हैं। यदि ऐसा न होता तो 'पीस पैगोडा' जैसी कविता की रचना करके कोई ज़िम्मेदार कवि विश्व-शन्ति की माँग करने वाले आन्दोलनों की खिल्ली नहीं उड़ाता, न कोई कवि उद्जन बम गिराये जाने पर प्रतिवाद का स्वर ऊँचा करने वाले जनता के प्रदर्शन को 'कार्टूनों का जुलूस' कहकर उसे हेय दृष्टि से देखता।

समष्टि और व्यष्टि के अन्तर्विरोध को आत्यन्तिक और दुर्निवार मानकर चलने का यही परिणाम है। इस एकांकी दृष्टि से मनुष्य की हर प्रगतिकामी चेष्टा संशय ही पैदा करेगी। अपने से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करना असंभव हो जायगा। इस नकारा-त्मक दृष्टिकोण से हर चीज़ को, चाहे वह पुरानी हो या नयी, नंगा ही किया जा सकता है, नये सत्य को स्वीकृति नहीं दी जा सकती। ऐसा करने से नये और पुराने के संघर्ष को यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करने का दावा निरर्थक हो जायगा। समष्टि और व्यष्टि की समस्या किसी न किसी रूप में हमेशा रहेगी, क्योंकि व्यक्ति-मानव का जीवन सहयोग पर निर्भर है। कोई प्रचंड से प्रचंड व्यक्तिवादी भी समष्टि को मिटाकर जीने की कल्पना नहीं कर सकता। इस लिए दोनों के वर्तमान अन्तर्विरोध का समाधान किसी नये संतुलन की माँग करता है, जिसमें जीवन के हर स्तर पर और हर क्षेत्र में व्यष्टि-समष्टि का परस्पर विकास सहयोगपूर्ण ढंग से संभव हो सके। नये मानववाद की यही समस्या है। आधुनिक कविता में सत्य का आग्रह एकांगी या मतवादी नहीं होना चाहिये। नैतिकता का कोई नया, अधिक उदात्त मानववादी मानदंड तो रखना ही पड़ेगा, क्योंकि वर्तमान युग के समस्त वैषम्य और त्रास के बावजूद आधु-निक मानव अपने शान्तिपूर्ण विकास का मार्ग निकाल कर ही रहेगा। मैं नहीं समझता कि मानव समाज का अंत निकट है, इसलिए अभी से 'सृष्टि के आख़िरी आदमी' का मर्सिया लिखने का प्रयत्न बचकाना है। ऐसी कष्ट-कल्पनाओं में कोई बड़ा आशय नहीं व्यक्त होता। बड़े आशय के लिये बड़ा हृदय चाहिए, जो अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं से ऊपर उठकर युग के गरल को शिवकी तरह पचा सके और अमृत को मानव-प्राणियों में बाँट सके। नये कवियों को उदात्त भावना से चिढ़ है। उनके एक प्रवक्ता ने लिखा कि नया कवि उदात्तीकरण के स्थान

पर भावों में घनत्व और तीव्रता लाने की चेष्टा करता है। लेकिन उदात्त भावना तो बड़े आशय वाले, सत्यान्वेषी कलाकार की आत्मा का सहज गुण है, जो उसकी अभिव्यक्ति में बिना किसी प्रयास के ही प्रकट होती है। वह भाषा का अलंकार या अभिव्यक्ति का प्रकार नहीं है। आधुनिक कवियों मे इस उदात्त भावना की कमी और दृष्टि की एकांगिता दो ऐसे दोष हैं, जिनके कारण उनकी कविता अभी तक युग-सत्य का विश्वसनीय वाहक नहीं बन सकी है। इन दोषों को दूर करके ही आधुनिक कविता युग-मानस को वैसी सबल और सूक्ष्म चेतनादायी प्रेरणाएँ दे सकेगी जैसी प्रेरणा कभी छायावाद या उसके बाद एक सीमा तक प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित कविता ने दी थी। आधुनिक कविता के आगे जो समस्याएँ हैं उनका समाधान एक व्यापक मानववादी दृष्टिकोण से नये प्रयोगों को संबद्ध करके ही संभव होगा। और कोई मार्ग नहीं है।

—अगस्त १९५५

१३

आधुनिक कविता में प्रयोगवाद

प्रयोगवादी कवि अपनी कविता को ही हिन्दी की नई या आधुनिक कविता मानते हैं। प्रयोगवादी कविता विश्व-काव्य में कोई अन्यतम या अभूतपूर्व विकास नहीं है। काव्य ही क्यों, साहित्य और कला के अन्य रूपों और माध्यमों, जैसे उपन्यास, नाटक, चित्र, संगीत और स्थापत्य में भी इस शताब्दी में नई प्रवृत्तियाँ मुखरित हुई हैं और उनके बारे में भी समीक्षकों, पाठकों और दर्शकों में तीव्र मतभेद और विचार-संघर्ष चल रहा है। यह सब जीवन और जागृति का लक्षण है। उनके समर्थन या विरोध में जो कुछ कहा-सुना जा रहा है, उसमें दोनों ओर ही कुछ सत्य है और कुछ असत्य है। इस समस्त ऊहापोह, विरोध और विचार-संघर्ष का परिणाम यह है कि दोनों ओर के असत्य का छिलका उतर रहा है और सत्य उभर कर एक नये सन्तुलन की माँग करने लगा है।

वर्तमान युग में हमारा जीवन पुराने दायरे से निकलकर नये दायरे में संक्रमण कर रहा है। हर संक्रान्ति-युग विकट संघर्ष, वैषम्य, संकट और सत्यान्वेषण का युग होता है। इसमें मनुष्य के पुराने समाज-विधान का ढाँचा ही नहीं टूटता, बल्कि उसके विश्वास, उसकी नैतिकता, उसके विचार और भाव-प्रतिक्रियाएँ भी बदलने लगती हैं, और जो कुछ पुराना है, उससे टकराती हैं। मनुष्य का समूचा विश्व-बोध एक नये परिवर्तन के भँवर में पड़ जाता है। संक्रान्ति-युग के कवि और कलाकारों की कृतियों में व्यक्तिगत अभिव्यक्ति या पात्रों के चरित्र-चित्रण के माध्यम से वस्तुतः मनुष्य के नये विश्व-बोध और जीवन की पुरानी मान्यताओं का विराट संघर्ष प्रतिबिम्बित होता है।

आधुनिक समाज भयंकर असंगतियों से ग्रस्त है। विज्ञान ने संस्कृति के व्यापक प्रसार के लिए प्रेस, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन आदि सर्वजन-सुलभ साधन दिये हैं। प्रजातन्त्र ने शिक्षा को सर्वजन-सुलभ बनाने की कोशिश की है। लेकिन साक्षरता जितनी ही बढ़ती है, लोग उतने ही 'अशिक्षित' होते जाते हैं। जीवन की उच्चतर मान्यताओं के प्रति उनकी आस्था कम होती और साहित्य तथा कला की श्रेष्ठ कृतियों के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती है। शिक्षित व्यक्ति, मात्र दैनिक समाचार पत्रों या अधिक-से-अधिक रोमांटिक कहानियों और सनसनी खेज उपन्यासों का पाठक बनता जा रहा है। सिनेमा प्रायः सस्ते मनोरंजन का साधन बन गया है।

विज्ञान ने अणु शक्ति का पता लगाकर विश्व को बहुत ज्यादा डरा दिया है। राजनैतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक और वर्ग-संगठनों और समूहों में ही मानव का व्यक्तित्व

घुल गया है। लेकिन समूह या समष्टि का जीवन भी आज निरापद नहीं है। उसे भी एक अमूर्त्त इकाई जानकर उद्जन बमों से निर्मम और निर्दय बनकर मिटाया जा सकता है।

आधुनिक कविता को समझने के लिए वर्तमान विश्व-जीवन के इन तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि, आधुनिक कविता के पीछे परिस्थितियों की ही प्रबल प्रेरणा है। आधुनिक मानव-समाज जिन असंगतियों से ग्रस्त है, उसमें जो संगठित शक्तियाँ एक दूसरे से जूझ रही हैं और समस्त वैज्ञानिक आविष्कार, राष्ट्रीय आन्दोलन, वर्गसंघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाओं, वैमनस्य और युद्ध के बावजूद वह जिस दिशा में अग्रसर है उसकी गति-विधि को प्रभावित करना व्यक्ति-मानव की सामर्थ्य के बाहर हो गया है। कवि और कलाकारों की आवाज़ नक्कारखाने में तूती की आवाज़ बन गई है। इसलिए वे इस विराट उथल-पुथल के निरुपाय दृष्टा बनते जा रहे हैं। वे विश्व-रंगमंच के सक्रिय अभिनेता नहीं रहे। कम-से-कम वे ऐसा ही अनुभव करते हैं। इसलिए आधुनिक कविता में खीज झुंझलाहट, कुंठा, अनास्था, निराशा और मानवद्रोही भावनाओं की इतनी तीव्रता समूह और संगठन यानी समष्टि व्यक्ति को रौंद रही है, उसकी आकांक्षाओं को मिटा रही है—इसी अनुभूति की तीव्र अभिव्यक्ति इन सभी कविताओं में मिलती है। माना कि यह सत्य है, किन्तु क्या आधुनिक विश्व-जीवन का यही समग्र सत्य है? क्या वास्तविकता का यह एक पहलू मात्र नहीं है? आधुनिक मानव का नया विश्व-बोध क्या इस वैषम्य की एकांगी चेतना तक ही सीमित है। क्या हमें अपनी दृष्टि-परिधि को युग के सम्पूर्ण सत्य तक नहीं बढ़ाना चाहिए?

आधुनिक कविता काव्य-शास्त्र की प्राचीन रीतियों को त्याग रही है। उसके छन्द बंध और "प्रास के रजत पाश" टूट रहे हैं। शब्द चयन, वाक्य-रचना, अलंकार विधान, सभी कुछ बदल रहे हैं। कविता तुक-ताल के बंधनों से मुक्त होकर नये आशय को स्पष्ट करने, अभिव्यक्ति को सघन और तीव्र बनाने के लिए नयी भाषा, नयी लय, नयी शैली और नयी टेकनीक का प्रयोग कर रही है। इतिहास के सभी संक्रान्ति कालों में, यहाँ तक कि हर युग की कलाओं में, नये रूप-विधानों या अभिव्यक्ति के नये प्रकारों की खोजबीन होती रही है। अभिव्यक्ति की शैलियों के प्रति मोह जीवन और प्रगति का लक्षण नहीं है। केवल शास्त्रीय ढंग के अध्यापक ही नयी कविता का विरोध करते हैं, क्योंकि नयी शैली की कविता को किसी शास्त्र सम्मत वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना उनके लिए कठिन हो जाता है। लेकिन जो खुली आँख से युग-सत्य को देखना-समझना चाहते हैं, वे भाषा और शैली सम्बन्धी रूपगत प्रयोगों को गलत या अनावश्यक नहीं मान सकते, यदि ये प्रयोग वास्तव में युग-जीवन के समग्र सत्य को अधिक स्पष्ट, मार्मिक, गम्भीर, मूर्त्त, उदात्त, तीव्र और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देने में समर्थ हैं।

आधुनिक कविता में जो नये प्रयोग हो रहे हैं, उनमें कुछ सार्थक हैं तो कुछ निरर्थक। कुछ गम्भीर हैं तो कुछ उच्छृङ्खल। यह भी कोई आशंका की बात नहीं है। सभी युगों में ऐसा हुआ है। काव्य और कला का निर्माण अन्ततः लेखक या कलाकार की प्रतिभा पर

आश्रित है। जिसमें प्रतिभा नहीं है, उसके प्रयोग चमत्कार-विधान या उच्छृङ्खल आत्म-प्रदर्शन से अधिक और कुछ नहीं हो सकते । समय की कसौटी पर वे स्वयं खोटे सिद्ध हो जायेंगे। आधुनिक कविता में यदि अभी तक खोटी रचनाओं की अधिक संख्या है, और जो थोड़-से गम्भीर कवि हैं, उनकी प्रतिभा यदि रवीन्द्र, प्रसाद, निराला और पंत की ऊँचाई को नहीं पा सकी है, तो यह भी विशेष चिन्ता का विषय नहीं है। यह अनिवार्यतः कविता के ह्रास का सूचक भी नहीं है। यदि एकांगी दृष्टि और एकांगी मतवादों से व्यक्ति-कवि की सम्पूर्ण युग सत्य को देखने और अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य पथ-भ्रष्ट और एकांगी न हो जाय, जिसका खतरा इस युग में अत्यधिक है, तो प्रतिभा का अंकुर कहीं और किसी समय भी फूट सकता है।

आधुनिक कविता में अभी तक युग-सत्य की एकांगी अभव्यक्ति पर ही जोर है। उसमें उद्जन बम, युद्ध, यान्त्रिकता, आशंका, अनास्था, रूढ़ियों का बन्धन, व्यक्ति की सत्ता के उपेक्षक सर्वशक्तिमान सामूहिक संगठन, मानवद्रोही भावनाएँ, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि वर्तमान जीवन की असंख्य कुत्साओं और विकृतियों का भय ही व्याप्त है। लेकिन अगर यही सम्पूर्ण युग-सत्य हो तो मनुष्य जिये किस आशा को लेकर ? ये सब विकृतियाँ तो मनुष्य-कृत है, और मनुष्य ही इन सब के विरुद्ध संघर्षशील भी है। मनुष्य ही आज एक नये मानवतावादी समाज का निर्माण चाहता है, जिसमें ये असंगतियाँ और कुत्साएँ न हों, जिसकी नैतिकता मानव-सम्बन्धों में व्यष्टि और समष्टि के आन्तरिक विरोध को यदि सम्पूर्णतः नहीं मिटा सके तो उसे इतना दुखदाई तो न रहने दे। ये सारी मानवीय आकांक्षाएँ और प्रयत्न ही आज मनुष्य जीवन के भावी विकास की आशाएँ हैं। इसलिए कुछ आधुनिक कवि जब एक विचित्र और बहुधा छिछोरे ढंग की मानवद्रोही अनास्थाशीलता से या संकीर्ण मतवादी दृष्टि से मनुष्य की इन पुनीत आकांक्षाओं और उसके प्रयत्नों का मखौल उड़ाने या उनकी कमजोरियों को ही उघाड़ने की चेष्टा करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि 'पुराने' या 'जो है', के अन्ध-विरोध की झोंक में अपनी सहज मानवता से भी हाथ धो बैठे हैं। यदि ऐसा न हो तो 'पीस पैगोडा' जैसी कविता की रचना करके कोई जिम्मेदार कवि विश्व-शान्ति की माँग करने वाले आन्दोलन की खिल्ली नहीं उड़ाता, न कोई कवि उद्जन बम् गिराये जाने पर प्रतिवाद का स्वर ऊँचा करने वाले जनता के प्रदर्शन को 'कार्टूनों का जलूस' कहकर उसे हेय दृष्टि से देखता।

समष्टि और व्यष्टि के अन्तर्विरोध को आत्यन्तिक और दुर्निवार मानकर चलने का यही परिणाम है। इस एकांगी दृष्टि से मनुष्य की हर प्रगतिशील चेष्टा संशय ही पैदा करेगी। अपने से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करना असम्भव हो जायगा। इस नकारात्मक दृष्टिकोण से हर चीज को, चाहे वह पुरानी हो या नयी, नंगा ही किया जा सकता है, नये सत्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे नये और पुराने के संघर्ष को प्रतिबिम्बित करने का दावा निरर्थक हो जाता है। समष्टि और व्यष्टि की समस्या किसी-न-किसी रूप में हमेशा रहेगी, क्योंकि व्यक्ति-मानव का जीवन सहयोग पर ही निर्भर है।

कोई प्रचण्ड-से-प्रचण्ड व्यक्तिवादी भी समष्टि को मिटाकर जीने की कल्पना नहीं कर सकता। इसलिए उनके सन्तुलन की माँग करता है, जिसमें जीवन के हर स्तर पर और हर क्षेत्र में व्यष्टि-समष्टि का परस्पर विकास सहयोगपूर्ण ढंग से सम्भव हो। नये मानववाद की यही समस्या है।

आधुनिक कविता में सत्य का आग्रह एकांगी या मतवादी नहीं होना चाहिए। नैतिकता का कोई नया, अधिक उदात्त और मानववादी मापदंड तो रखना ही पड़ेगा, वर्तमान युग के समस्त वैषम्य और त्रास के बावजूद आधुनिक मानव अपने शान्तिपूर्ण विकास का मार्ग निकाल कर ही रहेगा। मैं नहीं समझता कि मानव समाज का अन्त निकट है। इसलिए अभी से 'सृष्टि के आखिरी आदमी' का मर्सिया लिखने का प्रयत्न बचकाना है। ऐसी कष्ट-कल्पनाओं में कोई बड़ा आशय नहीं व्यक्त होता। बड़े आशय के लिए बड़ा हृदय चाहिए, जो अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओं से ऊपर उठकर युग के गरल को शिव की तरह पचा सके और अमृत को मानव प्राणियों में बाँट सके। नये कवियों को उदात्त भावना से चिढ़ है। उनके एक प्रवक्ता ने लिखा कि नया कवि उदात्तीकरण के स्थान पर भावों में घनता और तीव्रता लाने की चेष्टा करता है लेकिन उदात्त भावना एक सत्यान्वेषी कलाकार की आत्मा का सहज गुण है, जो उसकी अभिव्यक्ति में बिना किसी प्रयास के ही प्रकट होती है, वह भाषा का अलंकार या अभिव्यक्ति का प्रकार नहीं है। आधुनिक कवियों में इस उदात्त भावना की कमी और दृष्टि की एकांगिता या संकीर्णता, ये दो ऐसे दोष हैं, जिनके कारण उनकी कविता अभी तक सम्पूर्ण युग-सत्य का विश्वसनीय वाहक नहीं बन सकी है।

१४

हिन्दी कविता का भविष्य

हिन्दी कविता का भविष्य क्या है, यह प्रश्न उठा ही क्यों ? इसीलिए न कि ग्राजकल उसके दुर्दिन हैं। ग्रभी बीस साल पहले जब छायावादी कविता ग्रपने उत्थान पर थी, उस समय किसी को ऐसा प्रश्न पूछने की बात ही न सूझती; क्योंकि तब मन में भविष्य के प्रति किसी ग्राशंका को ठौर ही कहाँ था ? मुझे याद है कि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिग्रौध, नवीन, दिनकर, बच्चन, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी ग्रौर रामनरेश त्रिपाठी ने किसी पत्रिका के नये ग्रंक में इस बार कौन सी कविता लिखी है, उसे पढ़ने ग्रौर पढ़कर संग्रह करने के लिए हम सब लालायित रहते थे, ग्रौर ग्रगली वार वे कौन सी नई कविता लिखेंगे, इसकी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करते थे। इन कवियों के कवितासंग्रहों की बात ही क्या, उनके स्फुट गीत भी हर स्तर के पाठक वर्ग में चर्चा का विषय बन जाते थे। ग्रच्छी कविता पढ़कर पाठक ग्रानन्द या वेदना से सिर धुनने लगते थे ग्रौर कवि के प्रति उनके मन में कृतज्ञता उमड़ ग्राती थी। केवल कवियों की रचनाग्रों के प्रति ही पाठकवर्ग का ऐसा ग्रंतरंग ग्रौर सक्रिय भाव नहीं था। ग्रन्य लेखकों ग्रादि के प्रति भी ऐसी ही जिज्ञासा, मोह ग्रौर ग्रादर का भाव था। डी० एल० राय, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिम, रवीन्द्र, शरत ग्रादि बंगाली तथा ग्रनेक मराठी ग्रौर गुजराती लेखकों की कृतियाँ भी इस चाव से ही पढ़ी जाती थीं, जैसे मानों हिन्दी की ग्रपनी हों, ग्रनुवाद न हों—काव्य ग्रौर साहित्य ही क्यों, नृत्य, संगीत ग्रौर चित्रकला के भावक दर्शकों ग्रौर श्रोताग्रों में भी ऐसा उत्साह लहरें मारता था। यह सामान्य स्थिति थी। भला उन दिनों कोई कविता की जन्म-कुण्डली बँचवाने क्यों जाता ?

पर ग्राज यह स्थिति नहीं रही। प्रसाद, हरिग्रौध ग्रौर सुभद्राकुमारी चौहान को छोड़कर कवि ग्रौर महाकवि वे सब पुराने ही हैं। इतना ही नहीं, इस बीच ग्रौर ग्रनेक प्रतिभाशाली कवि सामने ग्रा चुके हैं ग्रौर नवोदित कवियों की एक नई पीढ़ी इस दशक में पैदा हो रही है। सो कवियों की कमी नहीं। ग्रौर यद्यपि प्रकाशक कविता की पुस्तकें छापने से इन्कार करते हैं, फिर भी जो कवि ग्रपनी कविताग्रों को पत्र-पत्रिकाग्रों में ही छपाकर सन्तुष्ट नहीं हैं, वे किसी-न-किसी उपाय से ग्रपने कविता-संग्रह भी छपा ही लेते हैं। सो नई-नई काव्य पुस्तकों की भी कमी नहीं। महाकाव्य भी लिखे ही जा रहे हैं। तो भी, लगता है हिन्दी कविता संकट-ग्रस्त है, नहीं तो उसके भविष्य के बारे में प्रबुद्ध पाठक-वर्ग इतना चिन्ताकुल न हो जाता। कुछ महीने पहले रेडियो पर एक बहस हुई थी उसमें भी कुछ ऐसी

ही अशंका एक प्रश्न बनकर उठ आई थी कि क्या कविता का युग समाप्त हो रहा है ? हिन्दी का नाम न था, लेकिन, यदि इतिहास की कोप दृष्टि से विश्व भर में कविता का युग समाप्त हो रहा है तो हिन्दी कविता ही इस भवितव्यता से कैसे बच पायगी ? कविता की समाप्ति का यह अर्थ नहीं कि तुकान्त या छन्दों में, या छन्द-मुक्त और लययुक्त भाषा में रचनाएँ होना बन्द हो जायँगी। इसका अर्थ केवल यह है कि उनमें कविता का बाह्याडम्बर तो होगा, पर कविता न होगी, शरीर होगा, पर प्राण न होंगे। वह दुरूह होगी या सरल होगी, व्यक्तिगत गुह्य प्रतीकों से भरी होगी या सामाजिक प्रतीकों का प्रयोग करेगी, उसमें अलंकारों और उपमाओं की छटा रहेगी या वह एक निर्धन स्त्री की तरह निर्वस्त्र होगी, वह यौन-वर्जनाओं की कुंठा व्यक्त करेगी या उसकी गर्वोक्तियों में क्रान्ति का हुंकार होगा। यह सब तो होगा लेकिन उसमें कविता न होगी—वह कविता जिसे आदिकाल से मनुष्य कविता कहता आया है और जो उल्लास और वेदना के क्षणों में हृदय का पूरा आवेग लेकर कवि के कंठ से निर्झर की तरह फूट पड़ती है और अपने रस से सब को आप्लावित कर देती है। जो कविता आज रची जाती है उसकी विचार-वस्तु चाहे जो हो, उसकी प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही अनुभूतिहीन और नीरस गद्यात्मकता की ओर है। उक्त बहस में सबने इस ओर इशारा किया। किन्तु इस ह्रास के कारण क्या हैं और अन्ततः इसका परिणाम क्या होगा, इस बारे में ख़ासा मतभेद था। कविता के भविष्य के बारे में कोई निराश था, कोई हताश था तो कोई कहीं आशा की एक चिनगारी भी सुलगाये जा रहा था। जो मित्र निराश थे वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि चूंकि कविता हृदय और अनुभूति की वस्तु है, इसलिए विज्ञान के इस युग में जहाँ विचार और तर्क ही प्रधान हैं, कविता अब हार्दिक या भावना-प्रधान नहीं रह सकती। उसे भी विज्ञान की अनुवर्तिनी बनना होगा। रसवती न होकर उसे भी बुद्धिप्रधान होना पड़ेगा, अपने आलम्बन और उपमान बदलने होंगे, जैसा कि प्रयोगवादियों (प्रतीकवादियों) या प्रगतिवादियों की रचनाओं से लगता है। विज्ञान का यह बुद्धि-प्लावन अब कभी समाप्त होगा और मनुष्य पुनः अपनी सचेतनता को ही नहीं बल्कि अपनी हार्दिकता को भी पहले ही की तरह मूल्यवान मानेगा, ऐसी संभावना भी नहीं दीखती। इसलिए कविता को अपना कवितापन छोड़ गद्यात्मकता अपनानी होगी। इसका क्रम शुरू हो गया है, आगे भी जारी रहेगा। जो मित्र हताश थे, वे तो इस परिणाम पर पहुँचे बैठे थे कि विज्ञान ने कविता को जो क्षति पहुँचाई है, उसकी कमी को आज के वर्ग-समाज की स्वार्थ लिप्सा, विप्लव और क्रान्तियों की आँधियाँ और महायुद्धों की विभीषिकायें पूरा किये दे रही हैं। अधिक-से-अधिक प्रचारात्मक कविता ही लिखी जा सकती है जो आज लिखी है तो कल मर जाती है। या फिर ऐसी आत्मनिष्ठ और दुरूह कविता लिखी जा सकती है, जिसके शब्द-संकेत इतने व्यक्तिगत हों कि जिसके प्रति निवेदित हों उसके अतिरिक्त कोई और न समझे—अर्थात् जो निजी गोष्ठी के व्यक्तियों के बीच ही जीती है, समाज के बीच निरर्थक और निष्प्राण बनी रहती है। जब ये विप्लव, क्रान्तियाँ और युद्ध समाप्त हो जायेंगे और एक वर्गहीन समाज की समृद्ध और आज़ाद परिस्थितियों में शान्ति का साम्राज्य

होगा, उस समय भी कविता पुनर्जीवित हो सकेगी, ऐसा विश्वास करने का कोई लक्षण नहीं दीखता, क्योंकि जिन देशों में समाजवाद विजयी हो चुका है, वहाँ भी मनुष्य ने और क्षेत्रों में चाहे जितनी बड़ी और अभूतपूर्व सफलताएँ पा ली हों, कविता के क्षेत्र में कोई कालिदास या शेक्सपियर नहीं हुआ, न पैदा होता दीखता है। बुद्धिवाद और विज्ञान का वहाँ बोलबाला कुछ अधिक ही है। मुझे भी इस पहेली बुझौवल में एक निश्चित राय देनी पड़ी। वह क्या थी, इसका उल्लेख बाद में। इतना स्पष्ट है कि नपे-तुले समय में यह बहस ऊपरी सतहों पर ही चल सकती थी, कविता के तत्कालीन ह्रास के बुनियादी कारणों की खोजबीन वहाँ संभव न थी।

इस सम्बन्ध में मुझे केवल दो बातें कहनी हैं। पहली तो यह कि यह ह्रास कविता के क्षेत्र में ही नहीं है, साहित्य और ललित-कलाओं के अन्य रूपों में भी इस ह्रास और अवगति के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। इसलिए चिन्ता का विषय केवल कविता ही नहीं है। साहित्य और कला के अन्य रूपों के माध्यम से जो भी रचनात्मक प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनमें स्थायी मूल्य की रचनाएँ केवल अपवाद ही होती हैं, यद्यपि टेकनिक और रूप-सज्जा की योग्यता पहले से कम नहीं है और साहित्य-कला के प्रचार और प्रसार के साधन भी पहले से कहीं अधिक उन्नत अवस्था में उपलब्ध हैं। लेकिन इस तत्कालीन, परिस्थिति-जन्य ह्रास को स्थायी मान लेना मानव-जीवन की संभावनाओं के प्रति ही अनास्था प्रकट करना होगा। कविता, साहित्य या कलाएँ मानव-जीवन और उसकी समस्याओं को प्रतिबिम्बित करती हैं, आदिकाल से करती आई हैं और आगे भी करती जायेंगी, क्योंकि एक विषयी और कर्त्ता के रूप में मनुष्य को अपने सामाजिक-जीवन और उसके सम्बन्धों का मूर्त्त, संवेदनीय रूप में ऐन्द्रिय-बोध प्राप्त करने की जरूरत प्रारम्भ से रही है, और सदा रहेगी। मनुष्य अपने जगत और जीवन का बोध केवल विज्ञान के रूप में ही नहीं प्राप्त करता, कला भी मनुष्य की चेतना का ही एक विशिष्ट रूप है, विज्ञान की तरह ही अनिवार्य। मनुष्य कर्त्ता है, विषयी है। अपने मनोवेगों और रागों को अछूता रखकर वह स्थितिप्रज्ञ बनने की कल्पना तो कर सकता है, पर सभ्यता और संस्कृति, भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का निर्माता नहीं बन सकता। इसलिए कैसा भी युग हो, कैसी भी समाज-व्यवस्था हो, कविता और कला की मनुष्य-जीवन के लिए उतनी ही अनिवार्यता बनी रहेगी, जितनी विज्ञान की। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही काव्य, साहित्य और कला के जीवन में भी प्रगति और अवगति, विकास और ह्रास के युग आते हैं। कला और साहित्य की प्रगति और अवगति अकसर समाज की प्रगति और अवगति के समानान्तर नहीं चलती। कभी-कभी तो दोनों की दिशाएँ विपरीत होती हैं। उदाहरण के लिए पूँजीवादी युग इतिहास की दृष्टि से पिछले सभी युगों से आगे बढ़ा हुआ और विकसित युग है। लेकिन पूँजीवाद की परिस्थितियाँ कला-विरोधी हैं। इन तथ्यों को आज सभी लोग स्वीकार करते हैं। फिर भी यह स्मरण रहे कि हमारे देश में बीस-पच्चीस वर्षों के अन्दर ही इस तरह का कोई ऐतिहासिक युग-परिवर्तन नहीं हो गया

है, केवल परिस्थितियाँ बदल गई हैं। उन दिनों राष्ट्रीय आन्दोलन तो ज़ोर पर था ही, हमारे सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का द्वितीय उत्थान भी अपने चरम शिखर पर था। लेखक और पाठक का सम्बन्ध गहरा था। क्योंकि समूची जनता में एकता की भावना, राष्ट्रीय प्रगति की आकांक्षा बलवती थी। छायावादी कवियों के गीत उस समय व्यापक सामाजिक-राजनीतिक विप्लवों से असम्बद्ध न दीखते थे, क्योंकि व्यक्ति और समाज की नैतिक मान्यताओं में वैषम्य पैदा नहीं हुआ था। उनकी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूतियों में भी पाठक अपनी ही समस्याओं और वेदनाओं की झलक पाते थे, क्योंकि तब व्यक्ति अपने में ही समाज के नैतिक जीवन को प्रतिबिम्बित देखता था। इसीलिए सामान्य पाठकों से तादात्म्य स्थापित कर लेना कवि, कथाकार या चित्रकार के लिये सहज था। इस शती के चौथे दशक का अन्त होते-होते हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण का तृतीय उत्थान भी परिस्थितियों के गर्भ में पनपने लगा था और 'प्रगति' का विचार उसे नई दिशा और नया उभार देने लगा था। सहसा दूसरा महायुद्ध छिड़ गया और राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता कई कारणों से छिन्न-भिन्न हो गई। एक पक्ष समझौतावादी पथ पर चल पड़ा और एक पक्ष कभी दाहिनी ओर की तो कभी बाईं ओर की संकीर्णतावादी पगडंडियों पर भटकने लगा। इन सबका यह प्रभाव हुआ कि वे एकता विधायक परिस्थितियाँ न रहीं जिन्होंने लेखक-पाठक के बीच एक सामान्य जीवनोद्देश्य और सामान्य भावभूमि का पुल तैयार किया था। इस प्रकार हमारे सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के तृतीय उत्थान की प्रगति तत्काल के लिए अवरुद्ध हो गई। हिन्दी कविता पर भी इस गत्यवरोध और वैषम्य का प्रभाव पड़ा। लेकिन यह प्रभाव स्थाई है, ऐसा सोचना ग़लत होगा। इतिहास में ऐसे क्षणकालिक गत्यवरोध आते ही रहे हैं, आगे भी आवेंगे, लेकिन यदि मनुष्य का जीवन और इतिहास सदा के लिए अवगति में नहीं पड़ा रह सकता तो उसकी कविता भी सदा ह्रास के गर्त में नहीं फँसी रहेगी क्योंकि कविता भी मनुष्य के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन की एक अनिवार्यता है। इसलिए यदि मनुष्य-जीवन के भविष्य में आस्था और विश्वास बाक़ी है, तो हताश होने की ज़रूरत नहीं।

दूसरी बात यह है कि 'कविता' का संकुचित अर्थ लगाना ठीक नहीं। छन्दबद्ध, तुकान्त-अतुकान्त, एक विशेष प्रकार की रचना को ही कविता कहकर पुकारने की प्रथा रही है, यद्यपि काव्य और नाट्यशास्त्र के विवेचक प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कविता के अन्तर्गत साहित्य के उन दूसरे रूप-विधानों को भी रखा था जो उस समय तक विकसित हो चुके थे। कालान्तर में साहित्य के अन्य युगानुकूल रूप-विधानों का भी विकास हुआ, जैसे उपन्यास। व्यापक दृष्टि से उन्हें भी कविता के अन्तर्गत ही रखना होगा। आज के प्रबुद्ध आलोचक कविता का यह व्यापक अर्थ ही लगाते हैं। इसीलिए आज के संश्लिष्ट जीवन को समग्र रूप से प्रतिबिम्बित करने की क्षमता के कारण उपन्यास को इस युग का महाकाव्य कहना उचित होगा। यदि इस स्थापना को मान लें तो इस आशंका के लिए, कोई स्थान नहीं रह जायेगा कि कविता का युग समाप्त हो रहा है। यह सच है कि इस युग ने कालिदास और शेक्सपियर

नहीं पैदा किये, किन्तु तॉल्स्तॉय, गोर्की, रोम्यां रोला, टामस मान, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र अवश्य पैदा किये हैं, जिन्होंने अपने महान् उपन्यासों में अपने देश-काल के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन के यथार्थ और काव्यमय चित्र उपस्थित किये हैं। युग की कविता अब इन नये रूप विधानों को अपना कर व्यक्त हो रही है। उसकी धारा शुष्क नहीं हुई, न कभी होगी, चाहे उसके रूप बदल जायें।

—मार्च १९५३

१५

प्रेमचन्द के बाद

प्रेमचन्द से पहले हिन्दी कथा-साहित्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में था। उस युग में समाज-सुधार की दृष्टि से कथाओं और उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का आकलन तो होने लगा था, लेकिन वह काफी उथला और सतही था। उसमें वह सम्पूर्णता और गहराई न थी जो युग जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके। वस्तुतः युग-सत्य स्वयं अभी गर्भ में था, उसका स्वरूप पूरी तरह निखर कर सामने न आ पाया था।

किन्तु प्रेमचन्द की प्रतिभा को विकास के लिए अनुकूल वातावरण मिला, जैसा कि न उनके पूर्ववर्ती और न उनके परवर्ती कलाकारों को उपलब्ध हो सका। पूर्ववर्ती कथाकारों को इसलिए नहीं कि उत्तर-भारत में वह राष्ट्रीय जाग्रति का उषःकाल था। राष्ट्रीय भावना उस समय तक सर्वव्यापी न हो सकी थी। जीवन की विषमताओं के प्रति शिक्षित-वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा ही सचेत हो पाया था और वह भी सामन्ती रूढ़ि-ग्रस्त जीवन और साम्राज्यी दासता के बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए अँधेरे में रास्ता टटोल रहा था। समाज के सभी वर्गों का, और विशेषकर हमारी असंख्य पीड़ित और संत्रस्त जनता का मूक प्रतिवाद किसी देश-व्यापी आन्दोलन के अहरह स्वर में अपना उद्घोष नहीं कर पाया था। मुक्ति की संभावना ने जन-जन की आकांक्षा बनकर व्यक्ति को अपने जीवन की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर मामूली सुधार और परिवर्तन से आगे देखने की दृष्टि और प्रेरणा नहीं दी थी। एक शब्द में कहें कि अभी तक दासता की बेड़ियों में जकड़ी जनता की एकता के सूत्र बिखरे हुए थे, जिससे युग-सत्य की कलात्मक प्रतीति और उपलब्धि किसी भी लेखक के लिए यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य थी। इसीलिए आज हम यदि भारतेन्दु (कुछ आपबीती और कुछ जगबीती—भारतेन्दु का अधूरा उपन्यास), श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु), बालकृष्ण भट्ट (सौ अजान और एक सुजान), किशोरीलाल गोस्वामी (चपला) आदि का सम्मान करते हैं तो उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही, बंकिम, रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की तरह उनकी अमर कथाओं के कारण नहीं। फिर भी इन प्रारम्भिक लेखकों में जो जिन्दादिली, सरल हास्य और व्यंग की छटा है, वह बाद के लेखकों में तो दुर्लभ ही होती गई।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकारों को अनुकूल वातावरण इसलिए उपलब्ध न हो सका कि उनके बाद राष्ट्रीय जीवन की एकता धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गई। दूसरा महायुद्ध, बंगाल का अकाल, साम्प्रदायिक द्वेष और दंगे तथा सर्वव्यापी आर्थिक संकट इसके मुख्य

कारण बने। किन्तु जो सबसे बड़ा कारण इस विघटन का है उसकी ओर हमारे आलोचकों का ध्यान बहुत कम गया है। वह है राष्ट्रीय आन्दोलन के एक बड़े अंग और भारतीय समाज के पूँजीपति वर्ग का मुक्ति-संघर्ष के सामान्य पथ को त्याग कर समझौते की सँकरी गली की ओर मुड़ जाना। इस विघटन का जितना गहरा दुष्प्रभाव पड़ा है उसका सही-सही अनुमान अभी तक नहीं किया गया। सामाजिक जीवन का कोई क्षेत्र और स्तर इससे अछूता नहीं रहा। इस बीच जीवन के मूल्य नीचे गिरे हैं। राष्ट्रीय एकता की उदात्त भावना जैसे एक प्रचण्ड आघात पा अपने नैतिक शिखर से गिरकर संकीर्ण साम्प्रदायिक और मतवादी कोष्ठकों में खण्ड-खण्ड बँट गई है और उस पर भ्रान्तियों और प्रवंचनाओं का ऐसा घना कुहासा छा गया है कि व्यक्तिगत, वर्गगत, जातिगत, सम्प्रदायगत या दल-गत संकीर्णताओं के पार कुछ दिखाई ही नहीं देता। ऐसे वातावरण में कलाभिरुचि और कला के मान-मूल्यों में गिरावट आ जाना, तुच्छ और औसत या तत्त्वहीन विशिष्ट को ही यथार्थ और सत्य मान लेना अस्वाभाविक नहीं है।

प्रतिभा और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखते हुए भी प्रेमचन्द के बाद का लेखक अपने युग के साथ वह तादात्म्य और सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया जो रवीन्द्र, शरत्, इक़बाल और प्रेमचन्द सहज ही कर पाये थे। कहने का मतलब यह कि इस काल का लेखक अपनी समस्त भाव-विदग्धता और प्रगतिशील राजनीतिक चेतना के बावजूद भी अपने युग-जीवन का एक प्रकार से तटस्थ दृष्टा ही रहा है, उसका सक्रिय चितेरा नहीं बन पाया। इसीलिए कथाकारों ने प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (टाइप्स) का निर्माण करने की जगह अपने आत्म-चरित को ही रचना-चातुरी से विशिष्ट बनाना चाहा या बाह्य-जीवन के औसत, अति-साधारण और उथल-पुथले चित्र ही खींचे या अतिशयोक्तियों और गर्वोक्तियों में लपेट कर, युग-सत्य की उपलब्धि और अनुभूति के बिना ही, क्रान्ति और संघर्ष के कल्पित और नीरस चित्र गढ़े। इस युग में सम्पूर्ण युग-जीवन की प्रतीति और कलात्मक अभि-व्यक्ति किसी भी लेखक के लिए दुःसाध्य हो गई। प्रेमचन्द के बाद के साहित्य (विशेषकर कथा-साहित्य) का अध्ययन और मूल्यांकन करते समय परिस्थिति-जन्य इस प्रतिकूलता को ध्यान में रखना चाहिए। रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द का उदात्त नैतिक स्वर, अदम्य आशावाद, अकुंठित मानव-प्रेम, उनकी निश्छल देश-भक्ति, अनन्य जीवनासक्ति, न्याय-भावना और सत्यनिष्ठा जो उनके यथार्थवाद की पीठिका बनी और जो सप्राण मानव-चरित्रों की उद्भावना करके साकार हुई, वह बाद में व्यक्तिगत और समाजिक जीवन की कुण्ठाओं से विषम, आक्रान्त और आस्थाहीन होकर प्रकृत (यथा-तथ्य, 'नेचुरलिस्टिक') या असाधारण और विशेष के चित्रण के परिसीमित घेरे में ही सिमट-सिकुड़ कर केवल जीवन की ऊपरी सतहों पर रमती रही।

यही कारण है कि यद्यपि जैनेन्द्रकुमार में अत्यन्त संक्षेप में मार्मिक ढंग से तत्त्व की बात कह देने की प्रतिभा प्रेमचन्द से अधिक है; 'अज्ञेय' में एक विशिष्ट व्यक्ति की विशिष्ट अनुभूतियों और कुण्ठाओं के विश्लेषण की क्षमता प्रेमचन्द से अधिक सूक्ष्म और परिमा-

जित है; यशपाल में सामयिक यथार्थ का विश्लेषण प्रेमचन्द से अधिक सचेत और शक्तिशाली है और उनके व्यंग और विद्रूपों की मार भी अधिक घातक है; भगवतीचरण वर्मा की प्रगल्भता संभवतः प्रेमचन्द से कहीं अधिक है और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का रचना-शिल्प उनसे अधिक सुथरा और संयत है और भगवतीप्रसाद बाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी, पहाड़ी, निराला, उग्र, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, रांगेय राघव, नलिन विलोचन शर्मा, राधाकृष्ण, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, प्रभाकर माचवे, रहबर और अमृतराय आदि अनेक उल्लेखनीय उपन्यासकारों और कहानी लेखकों की रचनाओं में विषय-वस्तु, शैली और रूप-रचना सम्बन्धी अनेक ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो प्रेमचन्द में न थीं, सम्भवतः न हो सकती थीं; और इन सब ने हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में अनेक दृष्टियों से और अनेक शैलियों में योग देकर उसे बहुमुखी भी बनाया है, किन्तु फिर भी अनुकूल वातावरण न पाने के कारण किसी की प्रतिभा अकुण्ठित रूप से अपने युग के साथ पूरा तादात्म्य और सामंजस्य स्थापित करके व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण आन्तरिक और बाह्य जीवन को कलात्मक रूप से सर्वाङ्ग प्रतिबिम्बित नहीं कर पाई।

यह सब कहने का मतलब यह नहीं कि मैं प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी कथा-साहित्य को तुच्छ या नगण्य समझता हूँ। 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र', 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' 'देश-द्रोही' और 'मनुष्य के रूप', 'शेखर', 'गिरती दीवारें', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'बलचनमा' आदि तुच्छ और नगण्य रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि अनुमान है कि वे कथा-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय रहेंगी। मैं यहाँ उस पुरानी बहस को भी नहीं उठाना चाहता कि हमारे कथाकार प्रेमचन्द से आगे बढ़े हैं या पीछे हटे हैं, उनकी परम्परा संभाल सके हैं या नहीं—परम्परा की दृष्टि से ग्रामीण-जीवन के चित्रण को छोड़कर और दूसरे सभी तत्त्व रवीन्द्र और शरत् में प्रेमचन्द से कहीं अधिक ऊँचे कलात्मक और मानवीय स्तर पर मिलते हैं; महान् रचनाओं की तरह उनकी रचनाओं का अन्तःस्वर भी अधिक उदात्त और उच्च भावनाओं का उद्रेक करने वाला है, और उनमें युग-सत्य की अभिव्यक्ति भी अधिक अंतरंग, मार्मिक और यथार्थ है, औसत, फालतू बातें और ओछापन उनमें नहीं के बराबर है, शैली, गठन और शिल्प की तो तुलना ही क्या; साथ ही हिन्दी के न होकर भी हमारे लेखकों और पाठकों के लिए वे हिन्दी के उतने ही अपने रहे हैं, जितने प्रेमचन्द। इसलिए जब प्रेमचन्द की परम्परा का प्रश्न उठाया जाता है उस समय मेरे सामने, उनके नाम से पहले नहीं तो साथ-साथ, रवीन्द्र और शरत् के नाम भी अनायास ही उठ आते हैं। तभी परम्परा की रक्षा, विकास या ह्रास का प्रश्न मन में साकार हो पाता है, नहीं तो नहीं। अकेले प्रेमचन्द का नाम लेने पर ऐसा लगता है जैसे हमारे भीतर से कोई संकीर्ण पूर्वग्रह बोल रहा हो। चाहे तो हम शहरी जीवन के चित्रण से ग्राम-जीवन के चित्रण को अधिक तरजीह देते हैं (मानो युग-सत्य प्रकट होने के लिए गाँव और शहर का कृत्रिम भेद करता हो, शहर को बहिष्कृत और गाँव को उपकृत करके, एक को हेय और दूसरे को वांछित समझता हो, जिससे ग्राम-जीवन का चाहे जैसा चित्रण अपने आप में नगर-जीवन के चित्रण से

अधिक श्लाघ्य और कलात्मक हो जाता हो!) या फिर इस बात ने कि रवीन्द्र और शरत् के पात्र अधिकतर भद्र समाज के हैं और प्रेमचन्द के निम्न मध्यम वर्ग के या किसान, हमारी कुत्सित समाज-शास्त्रीय रुचि को रवीन्द्र और शरत् की उपेक्षा (और भर्त्सना भी) करने का एक बहाना दे दिया है जिसका आश्रय लेकर हमारे यहाँ कुछ लोगों ने 'परम्परा की रक्षा और विकास' के नाम पर रवीन्द्र के बारे में चुप रहने, शरत् को हेय सिद्ध करने और प्रेमचन्द की बिना समझे-बूझे विरुदावली गाने की एक प्रथा चला दी है। इन लोगों के निकट 'परम्परा की रक्षा और विकास' का प्रश्न प्रेमचन्द का नीचे स्तर पर उतरकर अनुकरण करने और औसत तथा-तथ्य चित्रण की आवृत्ति करने से अधिक अर्थवान् कदाचित् ही है (जो परम्परा की रक्षा का मार्ग कदापि नहीं है, क्योंकि अनुकरण और आवृत्ति साहित्य-सृजन के उपकरण नहीं हैं)।

अन्त में हमारा उद्देश्य यह भी नहीं है कि प्रेमचन्द के पश्चात् फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र और बाद में जाँ-पॉल-सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभाव ग्रहण करके हमारे कथा-साहित्य में जो असाधारण व्यक्ति-विशेष की विशेष मनःस्थितियों और अनुभूतियों का चित्रण करने की एक प्रवृत्ति चल पड़ी है, केवल वही आधुनिक उपन्यास का सच्चा रूप है या वह कथा-साहित्य का ह्रास है,—इस प्रवाद को हम यहाँ विशेष महत्त्व दें। 'अज्ञेय' ने इस बहस को अपने एक लेख में उठाया है और इस प्रवृत्ति के पक्ष में दो-तीन दावे पेश किये हैं। पहला तो यह कि आधुनिक उपन्यास में वृत्त और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अब 'दृष्टि-कोण' अधिक महत्त्व का हो गया है, क्योंकि जीवन पहले से अधिक जटिल हो गया है। दूसरे आधुनिक उपन्यास में संघर्ष और परिस्थिति का पुराना रूप बदल गया है, अर्थात् मानव उद्योग और नियति का अनवरत् संघर्ष आधुनिक उपन्यास का विषय नहीं रहा, बल्कि आज के व्यक्ति का मानस ही एक परिस्थिति बन गया है, जहाँ विचारों का संघर्ष और वासनाओं का द्वन्द्व अविराम जारी है। इसलिए, आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य मानव-चरित्रों का निर्माण करके मानव-उद्योग और नियति के संघर्ष को प्रतिबिम्बित करना नहीं है, बल्कि विशिष्ट व्यक्ति-चरित्रों का निर्माण करके उनके विशिष्ट मानस को प्रतिबिम्बित करना ही आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। और आज के अनिश्चित और आस्थाहीन युग में लेखक अस्तित्ववाद के (अवसरवादी) विचार-दर्शन को स्वीकार करके ही ऐसा कर सकता है, क्योंकि उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न 'अस्तित्व-रक्षा' का है। इस दृष्टिकोण से लिखे गये उपन्यासों को 'अज्ञेय' उपन्यास-कला का चरम विकास मानते हैं, और ऐसे चरम विकसित 'आधुनिक उपन्यासों' की श्रेणी में लारेंस, आंद्रेजीद, ऐल्डस हक्सले, जॉन डॉस पैसॉस और चार्ल्स मोर्गन के उपन्यासों के साथ-साथ उन्होंने अपने उपन्यास 'शेखर' का नाम भी पेश किया है, जिससे पाठक चाहें तो यह अनुमान भी लगा सकते हैं कि हिन्दी में केवल 'अज्ञेय' ही 'आधुनिक उपन्यास' की कसौटी पर खरे उतरते हैं, अन्य तो अभी प्रेमचंद की पिटीपिटाई लकीर के ही फ़कीर हैं! ऐसे दावे व्यर्थ की प्रवंचनाओं को जन्म देते हैं, इसलिए हम इस बहस में यहाँ नहीं पड़ना चाहते, केवल स्पष्टीकरण के लिए इतना कह देना प्रासंगिक समझते हैं कि प्रेमचन्द या प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती

उपन्यासकारों में भी जीवन-दर्शन का अभाव नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक कलाकृति में उसके निर्माता का जीवन-दर्शन व्यक्त होता ही है, चाहे कला के माध्यम से, या सीधे, अनगढ़, अनपचे ढंग से। प्रेमचन्द के बाद के कथाकारों की यह विशेषता अवश्य रही है कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक उभर कर सामने आया है। जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता को सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने की अपेक्षा विचार और तर्क से प्राप्त किये 'दृष्टिकोण' को व्यक्त करने का आग्रह उनमें आवश्यकता से अधिक प्रबल रहा है, अर्थात् वास्तविकता को उन्होंने यथार्थ और सत्य रूप में न देखकर अपने विशेष 'दृष्टिकोण' पर घटित करके देखना चाहा है, जिससे वस्तु-चित्र स्वाभाविक और यथार्थ न होकर अक्सर 'दृष्टान्त' मात्र बन गये हैं। और फिर, 'आधुनिक' के अन्तर्गत केवल फ्रायड और सार्त्र से प्रभावित दृष्टिकोण ही नहीं हैं। प्रेमचन्द के समय से गांधीवाद का दृष्टिकोण तो चला ही आ रहा था, बाद में मार्क्सवाद का दृष्टिकोण भी अनेकानेक कथाकारों का जीवनदर्शन बना और हिन्दी के अनेक आधुनिक उपन्यासों पर उसकी छाप बहुत गहरी है। इसलिए 'आधुनिकता' की कसौटी केवल 'अस्तित्ववादी' दृष्टिकोण को ही नहीं बनाया जा सकता। 'अज्ञेय' के दावे के पक्ष में यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना कि अपने दृष्टिकोण और अपने उपन्यासों की शैली, शिल्प और विशेष पात्रों की विशेष अनुभूतियों के चित्रण द्वारा वे अपने पाठकों के विशृंखलित मानस में और अधिक कुण्ठा, घुटन, अनास्था और अनैतिक भावनाएँ पैदा करने में जितने समर्थ हो सके हैं, उतने गांधीवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों को अपनाने वाले लेखक अपने पाठकों में उदात्त भावनाएँ, सत्य-निष्ठा, मुक्ति-कामना, मानव-उद्योग में विश्वास और जीवन के प्रति आस्था पैदा करने में समर्थ नहीं हो पाये हैं। रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की कृतियों से यह संस्कार ग्रहण करना आज भी पाठकों के लिए जितना सहज है, उतना इस युग के प्रगतिशील कथाकारों की कृतियों मे नहीं। 'अज्ञेय' अस्तित्वरक्षा के लिए, वर्तमान जीवन की विशृंखलता को ही सत्य मानकर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके हैं, लेकिन युग-सत्य विशृंखलता नहीं, उसके बीच से जन्म लेने वाली मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य की संभावना है। युग-सत्य नकारात्मक नहीं होता, नहीं तो सत्य-असत्य का भेद ही मिट जाय। मनुष्य का सत्य मानव-द्रोह नहीं, मानव-प्रेम है।

इस विवेचन को समाप्त करते हुए यह कहना आवश्यक है कि यदि हम वस्तु-सत्य का यथार्थ-चित्रण और जन-हित की उदात्त भावना को रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की सामान्य परम्परा मान कर देखें तो हम पायेंगे कि प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद प्रेमचन्द के बाद के अधिकांश कथाकार जीवन यथार्थ के भिन्न-भिन्न अंगों और स्तरों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से प्रतिबिम्बित करने की ओर सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। इस अन्तरिम युग में उनकी यह दुःसाध्य कला-साधना स्वयं अपने में अभिनन्दनीय है, जिस प्रकार प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती कथाकारों की प्रारंभिक चेष्टाओं को हम आज भी अभिनन्दनीय समझते हैं।

—सितम्बर १९५२

१६

प्रेमचन्द और गोर्की : तुलनात्मक अध्ययन की समस्या

अपने देश के लेखकों की विदेशी लेखकों से तुलना करने की प्रवृत्ति एक सीमा तक हमारे राष्ट्रीय जागरण की परिस्थितियों से प्रेरित रही है। कालिदास भारत के शेक्सपियर हैं, वाल्मीकि भारत के होमर हैं या वर्तमान युग में 'निराला' हिन्दी के ब्राउनिंग हैं और पन्त हिंदी के शेली—इस प्रकार की तुलनाएँ अक्सर की गई हैं। इन तुलनाओं में तथ्य-कथन कितना है, इसका विवेचन यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु ये तुलनाएँ किस प्रवृत्ति की ओर संकेत करती हैं इसको समझने का प्रयत्न ही प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने के लिए ज़रूरी है। इस प्रवृत्ति के मूल में दो भावना-तत्त्व एक दूसरे से गुँथे हुए थे—एक तो प्रतिवाद और राष्ट्रीय स्वाभिमान का स्वर जो यह क़बूल करने को तैयार नहीं था कि शासित होकर भी हम सभ्यता और संस्कृति में किसी प्रकार अपने विदेशी (अंग्रेजी, पाश्चात्य) शासकों से हेठे या पीछे थे। दूसरा दीर्घकालीन गुलामी से उत्पन्न हीन-भावना का स्वर था, जो सहज ही ऐतिहासिक सत्य और तथा-तथ्य का विचार छोड़कर अक्सर उद्धत और गर्वोक्तिपूर्ण हो जाता था, यानी जहाँ तुलना सम्भव नहीं है, वहाँ भी तुलना का कोई-न-कोई मनगढ़न्त आधार खोजकर केवल यह सिद्ध करना चाहता था कि जिसको तुम (पाश्चात्य जगत् वाले) शीर्ष स्थान देते हो, महान् समझते हो, वह तो हमारे अमुक लेखक या कलाकार के मुक़ाबले में तुच्छ हैं, जैसे भारतेन्दु और शेक्सपियर की तुलना (डॉ० रामविलास शर्मा—'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' में) करके मनमाने ढंग से यह सिद्ध करना कि भारतेन्दु के मुक़ाबले में शेक्सपियर तुच्छ और प्रतिक्रियावादी लेखक था। हीन भावना से प्रेरित तुलनाएँ साहित्यिक मानदंडों की अवहेलना तो करती ही हैं, ऐतिहातिक तथ्यों को भी तोड़-मरोड़कर पेश करती हैं, और इस प्रकार अन्ततः प्रतिक्रियावादी होती हैं, यह सहज ही अनुमेय है।

पाश्चात्य देशों के कलाकारों और लेखकों से तुलना करते समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ—प्रतिवाद और हीनता की भावना—एक साथ ही उभर कर सामने आती रही हैं, क्योंकि केवल अंग्रेज़-प्रभु ही नहीं, बल्कि पश्चिम की सभी श्वेत जातियाँ, अनेक ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक युग में भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आगे बढ़ गईं और जिन्होंने एशिया-अफ्रीका के देशों को गुलाम बनाकर अपने साम्राज्य स्थापित किए वे हमारे लिए न चाहने पर भी सभ्यता और संस्कृति का मानदंड बन गईं। जिन कलाकारों या लेखकों की पाश्चात्य जगत् में मान्यता सार्वजनिक थी, उनसे हमने अपने कलाकारों और लेखकों की तुलना की, चाहे कला, साहित्य या इतिहास की दृष्टि से तुलना का सम्यक् आधार रहा हो या न रहा हो।

यह पाश्चात्य जगत् को एक चुनौती भी थी और अपनी हीन-भावना का प्रदर्शन भी। इसी-लिए जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों और कला के मानदंडों का आग्रह सामने रखकर तुलनाएँ की गईं, वहाँ तो सटीक बैठीं, किन्तु जहाँ केवल मोहवश, अपनी हीन-भावना से प्रेरित औद्धत्य का प्रदर्शन हुआ और साहित्यक मानदंडों को त्याग कर 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा, वहाँ तुलनाएँ असंगत और निरर्थक सिद्ध हुईं। शेक्सपियर और भारतेन्दु की तुलना इस दूसरी कोटि की ही है।

प्रेमचन्द और गोर्की समकालीन लेखक रहे हैं। गोर्की अक्तूबर क्रान्ति (सन् १९१७) से पहले ही पाश्चात्य जगत् में ख्याति प्राप्त कर गये थे और सन् १९३० के लग-भग या उससे पहले ही भारतीय भाषाओं में भी उनकी कृतियों के अनुवाद होने लगे थे। लेकिन प्रेमचन्द के जीवन-काल में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, किसी ने गोर्की से उनकी तुलना नहीं की। उन दिनों अधिक से अधिक चार्ल्स डिकेन्स या विलियम थैकरे से ही उनकी तुलना की जाती थी, वह भी कुछ रचनाओं और प्रवृत्तियों के साम्य के आधार पर ही। गोर्की से प्रेमचन्द की तुलना सबसे पहले किसने की, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, लेकिन इतना तो बहुत कुछ निश्चित है कि तुलना का यह सिलसिला इन दोनों महान् लेखकों की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही शुरू हुआ, विशेषकर तब, जब प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी के प्राचीन अथवा अर्वाचीन लेखकों से तुलना न करके हमें सोवियत रूस के क्रांतिकारी लेखकों से तुलना करने में आत्म-गौरव का अनुभव होने लगा। अपनी हीन-भावना और चारणवृत्ति से प्रेरित होकर हमारे कतिपय लेखकों ने तुलसीदास की तुलना मॉयकोव्सकी से नहीं की, यही आश्चर्य की बात है। शायद ऐसा प्रयत्न प्रत्यक्षतः हास्यास्पद होता, इसका अहसास उन्हें भी था, लेकिन प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती, और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉक्टर रामविलास शर्मा को है। सच तो यह है कि 'साहित्य' के इस 'डॉक्टर' ने एक ही तीर से विश्व के तीन 'महान्' लेखकों—तॉलस्तॉय, दोस्तोव्स्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले में धराशायी कर दिया! उन्होंने 'युग के साथ होने की 'जनवादी' कसौटी पर कसकर सिद्ध किया कि "अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे।" (देखिए डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३) इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दों में गोर्की के 'पिछड़ेपन' का ज़रा मुलाहिज़ा कीजिए।

"गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रांति के पश्चात् भी क्रांति के पूर्व के ही पुराने चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।" (वही, पृष्ठ ३)।

संभव है कि आप इन पंक्तियों को स्वर्णाक्षरों में लिखवाकर टाँगना चाहें, क्योंकि

सौन्दर्य-शास्त्र, तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति, प्रगतिशीलता की कसौटी और ऐतिहासिक तथ्यों को समझने की दृष्टि के बारे में अनेक आधारभूत स्थापनाओं और मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन यहाँ सूत्र रूप में मिलता है—अर्थात् 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' का पूरा दर्शन इसमें निहित है। इस वक्तव्य के गूढ़ार्थों में गागर में सागर भरा हुआ है। प्रेमचन्द इस आलोचक के आराध्य हैं, यह विवेचनीय नहीं, लेकिन जो आराध्य हो (या इससे नीचे उतर कर, मित्र या अपना समर्थक हो) उसे अपनी व्यक्तिगत रुचि, राग-द्वेष और मोह के कारण सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि तो मानना ही चाहिए, और इस 'सर्वश्रेष्ठता' को सिद्ध करने के लिए इतिहास को तोड़-मरोड़ कर अनुकूल बनाना भी अपना कर्त्तव्य हो ही जाता है। सो जनाब, गोर्की को "वर्ग-संघर्ष की पूरी-पूरी जानकारी न थी!" 'माँ', 'तीन पीढ़ी' और 'क्लिम सैम्गिन की जीवनी' जैसे वर्ग-संघर्ष और पूँजीवाद के विकास और ह्रास की समस्या को लेकर लिखे गये महान् उपन्यासों की रचना करने वाला और असंख्य लेखों और भाषणों द्वारा वर्ग-समाज की धज्जियाँ उड़ाने वाला गोर्की वर्ग-संघर्ष से अपरिचित था, इस बात पर आपको विश्वास कर लेना चाहिए, क्योंकि कुत्सित समाज शास्त्रीयता का आलोचक यहाँ अपने आराध्य को पुनीत भाव से श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है। लेनिन-स्टालिन से लेकर रूस के सभी विचारकों और समीक्षकों ने, तथा विश्व के अधिकांश आलोचकों ने (चाहे वे गोर्की और सोवियत साहित्य के प्रशंसक हों या विरोधी) गोर्की को समाजवादी यथार्थवाद का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कलाकार माना है, लेकिन इन प्रमाणों की अवहेलना करके आपको मान लेना चाहिए कि गोर्की एक 'रोमांटिक' लेखक था! और 'रोमांटिक' लेखक होने से बड़ा अपराध क्या है? हमें खेद है कि इस वर्ग-संघर्ष के ज्ञाता आलोचक ने 'रोमांटिक' को 'बुर्जूआ' का पर्याय बताकर हमारी दृष्टि साफ़ नहीं की, इसलिए हम निश्चितरूप से नहीं कह सकते कि 'रोमांटिक' होने मात्र में क्या बुराइयाँ हैं। लेकिन आगे की पंक्तियों से इतना तो स्पष्ट है कि 'रोमांटिक' दृष्टिकोण होने के कारण कोई भी लेखक 'क्रांति के पश्चात् भी क्रान्ति-पूर्व के ही पुराने चित्र' बनाने के लिए बाध्य होता है। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बंध क्यों और कैसे है, इसका अनुमान करने में आप भी अपनी कल्पना का ज़ोर लगायें, किन्तु हमें अपनी असमर्थता स्वीकार करने में संकोच नहीं है। स्वयं गोर्की ने 'क्रांतिकारी रोमान्टिसिज्म' को 'समाजवादी यथार्थवाद' का ही अभिन्न अंग माना था, लेकिन संभव है कि गोर्की ने अपनी कमज़ोरियों को छिपाने के लिए सिद्धान्त का आडम्बर रचा हो। कम-से-कम इस विद्वान् आलोचक की पैनी दृष्टि को गोर्की का वाग्जाल धोखा नहीं दे सकता था। और यदि गोर्की का दावा एक क्षण के लिए सही मान भी लिया जाय, तो फिर वह 'क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति-पूर्व के पुराने चित्र' ही क्यों बनाता रहा? और जो लेखक अपने समय के पूर्व के चित्र बनाये, वह 'अपने युग के साथ' कैसे हो सकता है? यानी अपने युग से पिछड़ा हुआ। और जो लेखक 'पिछड़ा' है, वह अनिवार्यतः छोटा तो होगा ही—कम-से-कम उसके मुक़ाबले में जो 'अपने युग के साथ है' और जिसने 'अपने युग की उथल-पुथल को अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।' इसलिए प्रेमचन्द के मुका-

बले में गोर्की छोटा लेखक था! (Q.E.D.) कितनी सीधी और सटीक बात है! इस प्रसंग में शायद आपको स्मरण हो आये कि क्रान्ति से पूर्व एक दिन गोर्की ने लेनिन को रूस में पूँजीवाद के विकास और ह्रास की समस्या को लेकर एक उपन्यास लिखने की योजना बतायी थी, और उस पर लेनिन ने सलाह दी थी कि उसे क्रान्ति के बाद ही ऐसा वृहद् उपन्यास लिखना चाहिए, क्योंकि तब वह विश्व-मंच पर पूँजीवाद की जीवन-लीला का उपसंहार भी स्वयं अपनी आँखों देख चुका होगा। गोर्की ने यह बात मान ली थी और क्रान्ति के बाद ही उसने 'तीन पीढ़ी' और 'क्लिम सैमिगिन की जीवनी' इन दो वृहद् और महान् उपन्यासों की रचना की। तात्पर्य यह कि, क्रान्ति के बाद भी, क्रान्ति-पूर्व के चित्र बनाने के पीछे स्वयं लेनिन की प्रेरणा थी! इस बात को लेकर आप हमारे आलोचक की ले-दे न करें, क्योंकि संभव है कि लेनिन ने मित्रतावश गोर्की को ऐसा करने की छूट दे दी हो। यह ठीक है कि गोर्की लेनिन का आराध्य नहीं था, लेकिन मित्र तो था, और मित्र के प्रति स्नेह का बन्धन और मोह तो होता ही है। इसलिए इस सापेक्षतावादी दुनिया में लेनिन और डॉ० शर्मा के दृष्टि-भेद को आप अधिक से अधिक दो पूर्वग्रहों या अन्ध-मोहों की टक्कर ही मानें। यदि सत्य इधर नहीं है तो उधर भी नहीं हो सकता, और चूँकि सत्य कहीं न कहीं तो होना ही चाहिए, इसलिए उसे डॉ० शर्मा के अन्दर ही खोजना ठीक होगा, क्योंकि एक तो वे हमारे अपने हिन्दी के परम विद्वान आलोचक हैं, दूसरे, वे अपने देशवासी लेखकों को ऊँचा उठा रहे हैं और तीसरे उनका यह दावा तर्कसंगत भी तो दीखता है कि जो पुराने चित्र बनाये वह युग के साथ नहीं हो सकता। 'युग' शब्द यहाँ ज़रूर कुछ गड़बड़ डालता है, उदाहरण के लिए कुछ लोग दस-बीस-पचास साल से लेकर अब तक के समय को, किसी खास ऐतिहासिक प्रक्रिया के विकास को दृष्टि में रखकर, 'एक' ही युग मान लेते हैं, लेकिन इस सतत परिवर्त्तनशील संसार में 'युग' की व्याप्ति इतनी लम्बी कैसे मानी जा सकती है? यहाँ तो हर घटना एक नये युग में होती है। या अगर कोई लेखक द्वितीय महायुद्ध को लेकर रचना करे तो उसे इस युग का लेखक कैसे मान सकते हैं, जबकि इस अन्तराल में असंख्य घटनाएँ घट चुकी हैं—नाविकों का विद्रोह हो चुका है, I. N. A. का मुकदमा लड़ा जा चुका है, देश आज़ाद हुआ है और उसका बँटवारा भी, साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं, काश्मीर पर हमला हुआ है, तेलंगाना हुआ है, शान्ति आन्दोलन चला है, नेहरू की नीति को फासिस्ट कहा गया है और फिर उन्हें विश्व-शान्ति का सबसे बड़ा समर्थक भी—गरज़ यह कि इस बीच इतना कुछ हो गया है कि इसको एक ही युग में रख देने से समस्या और भी जटिल हो जाती है और उनके बीच कोई न कोई सम्बन्ध-सूत्र खोज निकालना पड़ता है, जो विद्वान् आलोचकों के लिए तो दुःसाध्य कार्य है, क्योंकि वे इतिहासकार नहीं हैं। इसलिए युग की व्याप्ति सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही माननी चाहिए—यानी कल की घटना आज तभी इस युग की मानी जा सकती है, जब इन चौबीस घंटों में और कोई घटना न घटी हो। किन्तु ऐसा कब संभव है? इसलिए 'युग' एक अव्यक्त, अमूर्त्त इकाई है, और कोई भी लेखक वास्तव में युग के साथ नहीं हो सकता, यानी युग की उथल-पुथल ही को चित्रित करने में समय का जो व्यवधान पड़ेगा, उस बीच और महत्त्वपूर्ण घट-

नाएँ भी तो घटित हो ही जायेंगी। इसलिए आलोचना के इस युग-सापेक्ष मानदंड को ज़रा ढीला करके लागू करना चाहिए—अर्थात् जो लेखक जितने निकट भूत की घटना या उथल-पुथल को चित्रित करे, वह उतना ही अधिक युग के साथ, यानी बड़ा और प्रगतिशील है, और जो जितने पुराने समय की घटना को चित्रित करे वह उतना ही युग से पीछे, छोटा और प्रतिक्रियावादी है। यह फार्मूला बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'प्रेमचन्द' इसके कारण सहज ही गोर्की और तॉलस्तॉय से महान् सिद्ध किये जा सकते हैं। गोर्की और तॉलस्तॉय ने पुराने चित्र बनाये, इसलिए दोनों अपेक्षया तुच्छ और प्रतिक्रियावादी लेखक थे। ये दोनों ही क्यों, विश्व के वे सभी उपन्यासकार, जिन्हें ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का शौक है, वस्तुतः प्रतिक्रियावादी हैं। समीक्षा-शास्त्र को, मनुष्य मात्र के सौन्दर्य-बोध को 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' का यह मूल्य-निरूपण का फार्मूला सचमुच एक महान् देन है।

लेकिन डॉ० रामविलास के पक्ष में हम एक बात कहना नहीं भूल सकते कि जिस समय उन्होंने गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना में ये पंक्तियाँ लिखी थीं, उस समय तक वे कम्युनिस्ट पार्टी में नहीं आये थे। इसलिए बाद में भी यद्यपि उनका साहित्यिक पांडित्य इन फार्मूलों की बैसाखी लगाकर ही कूद-फाँद मचाता रहा, लेकिन उन्होंने अगर गोर्की पर ये अमर पंक्तियाँ पहले न लिख दी होतीं तो हम उनसे वंचित ही रह जाते। बाद में आस्था का केन्द्र बदल जाने के कारण प्रेमचन्द को गोर्की से बड़ा नहीं, बल्कि अधिक से अधिक गोर्की का समकक्ष सिद्ध करने का कर्त्तव्य ही उनके पास शेष रह जाता—केवल यह सिद्ध करना कि जो गोर्की थे, वह प्रेमचन्द भी थे, पूरी तरह नहीं तो कुछ कम मात्रा में और यदि किसी दिशा में वह गोर्की से पीछे थे तो उस दिशा में तेज़ी से आगे विकास कर रहे थे। यानी गोर्की अगर समाजवादी यथार्थवाद के जनक थे तो प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद भी उस दिशा में ही प्रगति कर रहा था। गोर्की यदि सर्वहारा वर्ग के सबसे बड़े पक्षधर कलाकार थे, तो प्रेमचन्द भारतीय किसान के प्रतिनिधि थे और यदि जीवित रहते और कानपुर और बम्बई के मजदूरों की हड़तालें देख पाते तो मजदूरों के भी उतने ही बड़े हिमायती बन जाते। गोर्की ने पूँजीवादी समाज और संस्कृति की धज्जियाँ उड़ाई थीं, तो प्रेमचन्द को भी 'महाजनी सभ्यता' की विषमताओं की पूरी चेतना थी। गोर्की विश्व-शान्ति-आन्दोलन के अग्रणी थे तो प्रेमचन्द अपने समय तक देश में शान्ति आन्दोलन न चलने पर भी 'शान्ति के योद्धा' थे। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द गोर्की के ही पदचिह्नों पर चल रहे थे—अमृतराय और बाद के दूसरे प्रगतिवादियों के वक्तव्यों से कुछ-कुछ ऐसा ही आभास मिलता है।

ख़ैरियत है कि प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप प्रेमचन्द को गोर्की से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न सन् ४० के बाद ही बन्द हो गया, लेकिन उन्हें गोर्की के समकक्ष सिद्ध करने के कष्ट-साध्य प्रयत्न अक्सर हर साल उनकी बरसी पर किये जाते रहे। अब लगता है जैसे इस प्रयत्न की सार्थकता भी संदिग्ध प्रमाणित हो रही है, क्योंकि अक्तूबर १९५१ के 'हंस' में एक सोवियत् आलोचक बी० एम० वेस्क्रोवनी का लेख प्रकाशित हुआ था, जिसे पढ़कर हमें हैरानी हुई कि उक्त आलोचक ने प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से छोटे, बड़े, बराबर के,

या उनके नेता या अनुयायी, किसी भी रूप में नहीं की, बल्कि उन्होंने प्रेमचन्द के विचारों को तॉल्स्तॉय के विचारों तक ही सीमित बताकर हमारे मित्रों की सारी कपोल-कल्पनाओं के वाग्जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया। तब से हमारे आलोचक गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना का कोई नया आधार नहीं खोज पा रहे, ऐसी स्थिति में कुछ प्रासंगिक बातों पर विचार करने का अवकाश पैदा हो गया है।

तुलना तो किन्हीं भी दो लेखकों में की जा सकती है, दो भिन्न युगों, समाजों, प्रवृत्तियों और शैलियों के लेखकों में भी। क्योंकि जैसे विषमता के, वैसे ही समानता के कुछ-न-कुछ तत्त्व तो सभी में मिल सकते हैं लेकिन केवल मन से ही विषमता या समानता के तत्त्वों को गढ़कर किसी को छोटा-बड़ा या समकक्ष सिद्ध करने की प्रवृत्ति स्वयं अपनी क्षुद्रता का प्रदर्शन मात्र है। मैं यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द के प्रति मेरे हृदय में किसी से भी कम आदर की भावना नहीं है, क्योंकि प्रेमचन्द चाहे जिस कोटि के उपन्यासकार क्यों न हों, कम-से-कम अभी तक हिन्दी-उर्दू के तो सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं ही, और इन भाषाओं में आधुनिक उपन्यास और कहानी साहित्य के विकास में ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। लेकिन लेखकों में वे मेरे एकमात्र आराध्य नहीं हैं। विश्व में ही क्यों, भारत में भी उनसे बड़े-बड़े लेखक हुए हैं, इस युग में ही। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत् चट्टोपाध्याय को भुला देना मेरे लिए संभव नहीं है। दुर्भाग्य से मैं इतनी अन्ध-श्रद्धा का व्यक्ति नहीं हूँ कि जिस लेखक को पसन्द करूँ, उसे देवता मान लूँ, या समझ लूँ कि मनुष्य की कलात्मक संभावनाओं का उसमें आकर अन्त हो गया। यह बात मैं विश्व के सर्वश्रेष्ठ लेखकों शेक्सपियर, तॉल्स्तॉय, दांते, गेटे, और बाल्ज़ाक के बारे में भी नहीं सोच पाता, जो यदि छोटे-बड़े के अति-सरल मापदंड से ही नापे जायँ तो प्रेमचन्द से बाँसों ऊँचे कलाकार हैं। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि आप आँखें खोलकर प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना के प्रश्न पर विचार करें। दोनों में समानताएँ अधिक हैं, तो गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन साहित्य के विद्यार्थियों के लिए निश्चय ही लाभकर हो सकता है। किन्तु यदि विषमताएँ अधिक हैं, तो तुलनात्मक अध्ययन आलोचक के पूर्वग्रह के अनुसार एक को छोटा तो दूसरे को बड़ा या एक को प्रगतिशील तो दूसरे को प्रतिक्रियावादी आदि सिद्ध करने की निरर्थक चेष्टाओं तक ही सीमित नहीं रह जायगा, इस संभावना के विरुद्ध आपके पास कोई गारन्टी नहीं हो सकती। और ऐसी एकांगी और पथभ्रष्ट आलोचना तो स्कूल के विद्यार्थियों को भी शोभा नहीं देती। यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई 'निराला' की तुलना टी० एस० ईलियट या एज़रा पाउन्ड से करे, और सुभद्राकुमारी चौहान की तुलना मॉयकोवस्की से करने बैठे। आलोचक का कर्त्तव्य है कि जहाँ तक संभव हो वह इतिहास का प्रवक्ता बने, यानी किसी साहित्यकार के कृतित्व को जाँचने-परखने की उसकी अन्तर्दृष्टि, समझ, संवेदनशीलता और ईमानदारी इतनी गहरी हो कि वह अपने पूर्वग्रहों के बावजूद सही-सही मूल्यांकन कर सके—ऐसा मूल्यांकन जिसे आगे आने वाली पीढ़ियाँ आसानी से रद्द न कर दें। प्लैटो कवियों का भक्त नहीं था, वह कविता को सत्य से कोसों दूर मानता था, और

इसी कारण अपनी आदर्श 'रिपब्लिक' से कवियों को बहिष्कृत करने का उसने विधान बनाया था। किन्तु फिर भी वह होमर के काव्य की महानता और प्रभविष्णुता से इन्कार नहीं कर पाया। इतिहास भी होमर-काव्य की इस शक्ति को आज तक नहीं झुठला सका है। अतः हम कह सकते हैं कि प्लैटो, न चाहकर भी, इतिहास का प्रवक्ता बना। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे ये आलोचक-बन्धु, बड़े-बड़े सिद्धान्तों की रसायन पीकर भी सत्य को आँख खोलकर देखने की शक्ति का संचय नहीं कर पाते।

आखिर प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना का प्रश्न ही कब उठता है? चाहे जिस दृष्टि से देखें,——दोनों की कृतियों की गठन, रचना-शैली, विषय-वस्तु, चरित्र-चित्रण, और केन्द्रीय समस्याओं की तुलना करके देखें, या दोनों लेखकों के दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों का मिलान करें या दोनों की कृतियों के तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों को या उनके स्थायी महत्त्व को जाँचें-परखें——दोनों में जितनी कुछ भी समानता है, अन्तर और वैषम्य निश्चय ही उससे कहीं अधिक है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर शायद सोवियत् आलोचक बेस्कोव्नी ने प्रेमचन्द पर लिखते समय गोर्की का नहीं तॉलस्तॉय का उल्लेख किया है। प्रेमचन्द अनेक दृष्टियों से अपेक्षया तॉलस्तॉय के अधिक निकट हैं—— यद्यपि इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे तॉलस्तॉय से बड़े हैं, या उनकी बराबरी के लेखक हैं। तॉलस्तॉय से प्रेमचन्द बहुत अधिक प्रभावित थे, इसका केवल इतना ही अर्थ है। स्वयं महात्मा गांधी तॉलस्तॉय से प्रभावित थे, और प्रेमचन्द मूलतः गांधी जी के ही अनुयायी थे। यह उनकी अच्छाई-बुराई का प्रश्न नहीं है। देश-काल का परिस्थिति-भेद ही संभवतः इसके लिए उत्तरदायी है। और चूँकि प्रेमचन्द की कला यथार्थवाद की ओर निरन्तर विकासशील रही, इस कारण अपनी अनेक रचनाओं में वे गांधीवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करते भी दीखते हैं। कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की कृतियाँ गोर्की की तुलना में नहीं रखी जा सकतीं—— कम-से-कम उनके उपन्यास तो नहीं ही इसलिए नहीं कि गोर्की की अधिकांश कृतियाँ विश्व-साहित्य में 'क्लासिक' बन गई हैं, और प्रेमचन्द की कुछ कृतियाँ ही तत्काल के लिए भारतीय साहित्य में 'क्लासिक' का दरजा पा सकी हैं, और विश्व-साहित्य में अभी तक उनकी मान्यता नहीं के बराबर है। तत्काल प्रसिद्धि पा जाना कोई महानता का लक्षण नहीं है। इतिहास में ऐसे लेखकों की भी मिसालें हैं, जिनकी महानता उनकी मृत्यु के सैकड़ों वर्ष बाद स्वीकार की गई। इसलिए यह कारण नहीं है, बल्कि यह है कि प्रेमचन्द के अधिकतर उपन्यास कला की दृष्टि से इतने कमजोर और शिथिल हैं कि वे कभी भी विश्व-साहित्य में गोर्की के समकक्ष 'क्लासिक' का दरजा पा सकेंगे, इसमें सन्देह है।

यहाँ पर दोनों की कृतियों का विस्तृत विवेचन करना सम्भव नहीं है। हंसराज 'रहबर' प्रेमचन्द के भक्त और समर्थक हैं। प्रेमचन्द पर अपनी पुस्तक में उन्होंने मुक्त-हृदय से श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं, लेकिन 'साहित्य पर दृष्टि' वाले परिच्छेद में जहाँ उन्होंने प्रेमचन्द के विभिन्न उपन्यासों का विवेचन किया है, वहाँ उनके निष्कर्ष इन श्रद्धांजलियों से भिन्न हैं और मैं समझता हूँ कि सत्य के अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द के पहले

उपन्यास 'रूठी रानी' के बारे में उनका कहना है, "पात्र उभरते नहीं।" 'वरदान' के बारे में उनकी राय है, "कहना नहीं होगा कि कथानक बहुत ही लम्बा और जटिल है। इसमें पात्र तो बहुत-से हैं, लेकिन कोई हाड़-मांस के मनुष्य की तरह उभर कर सामने नहीं आता। सभी लेखक के हाथ की कठपुतलियाँ बनकर रह गये हैं। जब वह उनकी उपयोगिता नहीं देखता, तो तोड़-मरोड़कर फेंक देता है। अथवा अकारण मृत्यु करवा देता है। एक छोटे-से उपन्यास में इतनी मृत्युएँ अखरती हैं। और घटना-प्रवाह भी स्वाभाविक नहीं है।" 'प्रतिज्ञा' के बारे में उनका कहना है, "अमृतराय और प्रेमा उपन्यास के ऐसे पात्र हैं जिन्हें लेखक ने गढ़ा है। उनमें जीवन का अभाव है, और एकदम निष्प्राण जान पड़ते हैं। सारे उपन्यास में सिर्फ सुमित्रा का जीता-जागता और सप्राण चरित्र है।"·····और आगे, "प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में एक सामाजिक समस्या को सुधारवादी ढंग से सुलझाने की कोशिश की है। इसलिए उन्होंने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, उसके रीति-रिवाज को छुआ तक नहीं, जहाँ-तहाँ टीप-टाप करके उसी में सुधार करना चाहा है। इसलिए न समस्या हल हुई न पात्र उभर सके हैं।" प्रेमचन्द का 'सेवासदन' पहला महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, उसके बारे में 'रहबर' का कहना है, "उपन्यास मूलतः सुधारवादी है।" 'निर्मला' के बारे में उनका विचार है कि "छोटी-छोटी बातों को बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर विस्तार से बयान किया गया है। भाषा और वाक्य-विन्यास सुन्दर नहीं हैं, कोई भी पात्र रक्त-मांस का बना हुआ नहीं जान पड़ता और एकदम इतनी हत्याएँ अस्वाभाविक ही नहीं पढ़ते-पढ़ते मन ऊब जाता है और क्षोभ उत्पन्न होता है।" 'कायाकल्प' के बारे में और आलोचकों की राय का उल्लेख करते हुए, 'रहबर' इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि "प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द यथार्थ के मार्ग पर जितना आगे बढ़ गये थे, 'कायाकल्प' में उतना ही पीछे लौट गये मालूम होते हैं।" 'ग़बन' के बारे में उनका मत है कि "इस उपन्यास का कथानक रमानाथ के कलकत्ते भागने तक तो ठीक चलता है। लेकिन उसके बाद कथानक का ताना-बाना उलझ जाता है और उसमें बहुत से झोल पड़ जाते हैं।" 'कर्मभूमि' की ख़ामियों के बारे में टिप्पणी करते हुए 'रहबर' ने प्रेमचन्द की कला की मौलिक कमज़ोरी की ओर इशारा किया है कि "जब वे अस्वाभाविक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए यथार्थवाद की उपेक्षा करते हैं, वहीं मनोविज्ञान का दामन भी उनके हाथ से छूट जाता है।" 'गोदान' की आद्यन्त प्रशंसा करते हुए भी 'रहबर' को प्रेमचन्द के विश्व-बोध की सीमाओं को स्वीकार करके लिखना पड़ा है, "उन्होंने अभी मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक रोल को नहीं समझा था। यही उनका रूढ़िवाद था जो गोबर में अंकित हो गया है!" अब रह गये केवल दो उपन्यास 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि'। इनमें प्रेमचन्द का सुधारवादी दृष्टिकोण उनकी कला पर कितना हावी हुआ, इसकी ओर भी 'रहबर' ने संकेत किया है, यद्यपि स्पष्टतः नहीं। प्रेमचन्द के नाटकों को 'रहबर' सर्वथा 'असफल' मानते हैं और उनकी कहानियों के बारे में तो स्वयं अमृतराय का कहना है कि उनमें "अनेक स्थलों पर ग़लत सुर बज उठता है। पाठकों ने लक्ष्य किया होगा कि कभी-कभी कहानी का अन्त बाक़ी कहानी से बिलकुल मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में लेखक कथा

के स्वाभाविक विकास पर अपने आपको लादता-सा जान पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि कहानी का प्रकृत विकास तो उसे एक प्रकार के उपसंहार की ओर ले जाता है, और कहानीकार की पूर्व निश्चित योजना उसे भिन्न या कभी-कभी भिन्न दिशा में जाने को विवश करती है। जब भी ऐसा हो, उसे कहानी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिए।" 'रहबर' ने भी अनेक मिसालें देकर इसी तथ्य की पुष्टि की है।

प्रेमचन्द की कला के बारे में यह श्रद्धालु आलोचकों की राय है। किन्तु गोर्की की कला में ऐसी त्रुटियाँ आज तक उसके विरोधी आलोचकों ने भी नहीं निकालीं। यह कम महत्त्व की बात नहीं है। गोर्की के सभी उपन्यास स्वयं अपने बल पर विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासों की परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। केवल इतना ही नहीं, गोर्की की यथार्थवादी कला में कुछ ऐसे मौलिक तत्त्व भी है, जो तॉलस्तॉय में भी नहीं मिल सकते, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि गोर्की ने विश्व के उपन्यास और कहानी का तॉलस्तॉय के बाद विकास किया। निश्चय ही यह विकास समाजवादी यथार्थवाद की दिशा में था। किन्तु प्रेमचन्द की कला के लिए एक परिमित क्षेत्र में ही ऐसा दावा किया जा सकता है—यानी उन्होंने हिन्दी-उर्दू (भारतीय भी नहीं) उपन्यास साहित्य का विकास किया। किन्तु ये दोनों सर्वथा भिन्न बातें हैं। विश्व-साहित्य में, या भारतीय उपन्यास साहित्य में ही उन्होंने कोई नया विकास किया हो, यह कहना कदाचित् सम्भव नहीं है। गोर्की एक श्रेष्ठ नाटककार, कवि और विचारक भी थे—श्रेष्ठ से मेरा मतलब अपने युग के शीर्ष स्थानीय नाटककारों, कवियों और विचारकों की बराबरी से है। किन्तु प्रेमचन्द की प्रतिभा कथा-साहित्य के बाहर इतनी प्रखर न थी। कथा-साहित्य में भी वे गोर्की के मुक़ाबले में बहुत थोड़े ही सजीव प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि कर पाये। वस्तुतः उनकी कला को प्रौढ़ता प्राप्त करने में तीस-बत्तीस वर्ष लग गये, कला से मेरा तात्पर्य जीवन-वास्तव को मूर्त्त और संपूर्ण ढंग से प्रतिबिम्बित करना है। गोर्की ने इतना समय नहीं लिया, बल्कि उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ भी कला की दृष्टि से अनिंद्य हैं। प्रेमचन्द की अपेक्षा गोर्की का प्रारम्भिक जीवन कहीं अधिक संघर्षमय, अभावपूर्ण और कटु अनुभवों से भरा हुआ था। इसलिए दोनों की 'प्रतिभा' के वैषम्य को प्रेमचन्द की आर्थिक विपन्नता के मत्थे भी नहीं मढा जा सकता।

मैं समझता हूँ कि अब इस सम्बन्ध में अधिक ऊहापोह की ज़रूरत नहीं है। प्रेमचन्द अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण रचनाकार हैं और गोर्की अपने स्थान पर। दोनों की कृतियों का अध्ययन अलग-अलग दृष्टियों से ज़रूरी है, लेकिन दोनों की तुलना का प्रश्न नहीं उठता, इतना तो स्पष्ट है।

—नवम्बर, १९५४

१७

आलोचक का दायित्व

आज़ादी के इस युग में दायित्वों की चर्चा असंगत लगती है। दरअसल यह अधिकारों की माँग का युग है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध ने ही दुनिया में दायित्वों की जगह अधिकारों की चर्चा होती आयी है। पुराने सामंती सामज में अधिकारों और दायित्वों का बँटवारा कुछ इस तरह था कि अधिकार तो मुट्ठी भर लोगों के हाथ में थे, किन्तु दायित्वों का असह्य भार सारी जनता को ढोना पड़ता था, जिससे समाज का सन्तुलन हमेशा गड़बड़ रहता था। योरप में जब नव-सांस्कृतिक जागरण की लहर फैली तो पहली बार लोग अधिकारों और दायित्वों के इस विषम सन्तुलन के बारे में सचेत हुए। फ्रांसीसी क्रांति इस चेतना का परिणाम थी। अधिकारों की सत्ता समाज के एक छोर पर है तो दायित्वों का सारा भार दूसरे छोर पर ही क्यों एकत्र रहे, समाज के सभी अंगों में दोनों का समान बँटवारा क्यों न हो——इस विचार ने ही क्रान्ति का व्यवहारिक रूप धारण किया। विश्व में तब से अधिकार पाने के लिए आन्दोलनों, संघर्षों, क्रान्तियों का सिलसिला अभी तक जारी है और तब तक जारी रहेगा जब तक अधिकारों का उपभोग समान रूप से प्रत्येक व्यक्ति नहीं करने लगेगा। इसीलिए अधिकारों की माँग बड़े-बड़े विप्लवों, क्रान्तियों और परिवर्तनों की जननी है। मनुष्य हर प्रकार के बन्धन से मुक्ति चाहता है। लेकिन अधिकारों की माँग कहीं-कहीं समाज-हित का भी अतिक्रमण करते देखी गयी है। कुछ राष्ट्र हैं जो मानव-संहार के लिए अणु-अस्त्रों के उत्पादन की स्वतन्त्रता चाहते हैं। जब देश में अकाल और महँगाई हो, उस समय कुछ व्यापारी चोरबाजारी की खुली छूट चाहते हैं। जो फिल्म प्रोड्यूसर हैं, उन्हें अश्लील नृत्यों और गानों पर कोई प्रतिबन्ध गवारा नहीं होता। पहले कवि हुआ करते थे, किन्तु अब 'नये कवि' पैदा हो गये हैं, जो कविता न लिखकर 'नयी कविता' लिखते हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपनी कविता में लय और छन्द के बन्धनों की तो बात दूर, किसी भी प्रकार के बन्धन बर्दाश्त नहीं करते। उनकी 'नयी कविता' में रस और सौन्दर्य की खोज व्यर्थ है, उसमें किसी भी स्पष्ट विचार, सामाजिक प्रयोजन, व्यापक मानवीय मूल्य आदि की माँग करते ही वे बिगड़ उठते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि ऐसा करना उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रहार है। वे किसी सामाजिक दायित्व को भी नहीं मानना चाहते। ठीक तो है, दायित्व किसे प्रिय है? दायित्व एक प्रतिबन्ध है, अनुशासन है और यदि अधिकारों और दायित्वों का बँटवारा अनुचित न हो तो दायित्व अपनी कार्य सीमा के भीतर नैतिक आचरण की सचेत स्वीकृति है। किन्तु अभी ऐसी अवस्था नहीं आई

कि लोग अधिकारों के साथ दायित्वों को भी ख़ुशी-ख़ुशी अपनाना चाहें। फिर बताइये कि एक आलोचक किसी दायित्व में क्यों बँधना चाहेगा? 'अधिकारों की माँग' के इस वातावरण में यदि आप इस बात पर बहस करते कि आलोचक के क्या अधिकार हैं तो मैं बड़ी ख़ुशी से एक लम्बी सूची तैयार कर देता। लेकिन लगता है कि आप आलोचक को कोई अधिकार नहीं देना चाहते, उस पर दायित्वों का बोझ ही लादना चाहते हैं। कैसी भयानक विडम्बना है कि आप मुझसे ही पूछ रहे हैं कि मेरे दायित्वों की सूची कितनी लम्बी है, यानी मैं अपने ऊपर कितने बन्धन क़बूल करने को तैयार हूँ! मैं जानता हूँ कि यह सूची अगर संक्षिप्त हुई तो आप अप्रसन्न होंगे, क्योंकि आपकी प्रसन्नता इस सूची की लम्बाई के अनुपात पर ही निर्भर करेगी।

मैं सचमुच एक बड़े धर्म-संकट में पड़ गया हूँ, क्योंकि हमारे साहित्य में सम्प्रति जैसी अवस्था है, उसमें एक आलोचक के लिए अपने सब अधिकार त्यागकर केवल अपने दायित्वों और कर्तव्यों को निभाना भी बड़ी जोखिम का काम बन गया है। पहले जब नगर नहीं थे, तब नगरपालिका कमेटियाँ भी नहीं थीं और गाँवों में स्त्रियाँ अपने घर का कूड़ा-कचरा बटोरकर स्वयं घूरे पर डाल आती थीं। लेकिन आज नगरों और अधिकारों की माँग के युग में हम अपने घर का कूड़ा खिड़की में से सड़क पर भी डाल दें तो कोई रोकने वाला नहीं है। उसे उठाकर फेंकने का दायित्व नगरपालिका कमेटी के जमादारों पर है। वे बेचारे रोज़ कूड़ा उठाकर ले जाते हैं और सड़क की सफ़ाई करते हैं। फिर भी हमारे बहुत से संभ्रान्त नागरिक जमादार पर लाल-पीले हो उठते हैं——तुमने सफ़ाई ठीक से नहीं की, तुम बड़े लापरवाह हो, दुर्गन्धि से नाक सड़ी जाती है, आदि! प्रेम की स्वतन्त्रता और 'नयी कविता' के युग में (ख़ैरियत है कि अभी तक नये उपन्यास, नयी कहानी, नये नाटक लिखने वाले पैदा नहीं हुए) आलोचकों की स्थिति इन ग़रीब जमादारों से भी अधिक दयनीय हो गयी है। अगर आलोचक अपने को साहित्य-जगत् का नीचातिनीच प्राणी मानकर भी चलना चाहे तो नहीं चल सकता। वह अगर अपने सिर पर यह दायित्व उठा ले कि हमारे साहित्य-जगत् की सड़कों पर लेखक नामधारी नागरिक लिखकर और प्रकाशक नामधारी नागरिक छापेखानों से छपाकर पुस्तकों के रूप में जो ढेर का ढेर कूड़-कचरा रोज़ फेंक देते हैं, उसे ठीक-ठिकाने लगाना ही उसका काम है, तो भी उसकी जैसी दुर्गति बनेगी, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते। यह सभी जानते हैं कि वर्ष में अगर पाँच हज़ार पुस्तकें छपती हैं तो उनमें अधिक से अधिक पाँच ही पठनीय तथा संग्रहणीय होती हैं——बाक़ी इसलिए छपती हैं कि जो अपने को लेखक मान ले उसे लिखने का अधिकार है और जो थोड़ी-सी पूँजी लगाकर प्रकाशक बन जाय, उसे छापने का अधिकार है। लेकिन क्या आलोचक को साहित्य-जगत् के सफ़ाई विभाग का जमादार बनने का भी अधिकार है? क्या वह अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए इन चार हज़ार नौ सौ पिचानवे पुस्तकों को रद्दी की टोकरी में फेंक सकता है, ताकि साहित्य-जगत् में व्यर्थ का कूड़-कचरा न जमा हो जाय?

प्रश्न पूछने पर तो इन चार हज़ार नौ सौ पिचानवे पुस्तकों के सारे लेखक भी एक

स्वर से हामी भर देंगे, क्योंकि ऐसे प्रश्न का कोई नकारात्मक उत्तर नहीं देना चाहता। इसके अतिरिक्त हर लेखक सोचता है कि उसकी कृति ही श्रेष्ठ है, एक शाहपारा है, 'क्लासिक' बनने की क्षमता रखती है, और बाक़ी सब कृतियाँ हेच हैं। इसलिए उसकी हामी उदारता और वस्तून्मुखी दृष्टिकोण का प्रमाण नहीं होती, बल्कि अपने बारे में एक भ्रामक धारणा का परिणाम होती है। अस्तु जो भी हो, आलोचक यदि सारे लेखकों की स्वीकृति पाकर अपने इस दायित्व को निभाने लगता है तो पाँच तो खुश होते हैं और चार हज़ार नौ सौ पिचानवे लेखक नाखुश हो जाते हैं। इस समाज में इतने लोगों को नाखुश करके जीना क्या सम्भव है ?

मैं यह नहीं कह रहा कि आलोचक का मत या निर्णय हमेशा सत्य ही होता है। इतिहास में ऐसे असंख्य प्रमाण मौजूद हैं जब आलोचकों ने श्रेष्ठ कृतियों को किसी विशेष पूर्वग्रह, मतवाद या रूढ़ दृष्टिकोण की भोंक में बुरा कहा है और बुरी रचनाओं को महान साबित करना चाहा है। इस तरह की सर्वथा ग़लत आलोचनाओं द्वारा शेक्सपियर और इब्सन; सरवान्ते और दोस्तोव्स्की तथा अनेक दूसरे महान प्रतिभा के लेखकों को तत्सामयिक आलोचकों ने कितना कुछ बुरा नहीं कहा ? रचनाकारों की प्रतिभा-क्षमता की तरह आलोचकों की प्रतिभा-क्षमता का प्रश्न उठाना भी असंगत नहीं है। जिस तरह हर लेखक श्रेष्ठ रचनाकार नहीं बन सकता, उसी तरह हर समीक्षक श्रेष्ठ आलोचक नहीं बन सकता। पुराने आचार्यों ने 'नीर-क्षीर-विवेचन' का दायित्व आलोचक को सौंपा था। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि इतिहास, दर्शन और विश्व-साहित्य के गम्भीर अध्ययन, परिष्कृत कला-रुचि और वस्तून्मुखी दृष्टिकोण के कारण एक आलोचक 'नीर-क्षीर-विवेचन' की पूरी क्षमता रखता है, और किसी व्यक्तिगत सम्बन्ध या स्वार्थ से प्रभावित और प्रेरित हुए बिना ही ईमानदारी से अपनी समीक्षाएँ लिखता है। आज के वातावरण में क्या उसे 'नीर-क्षीर-विवेचन' का भी अधिकार है, जो वास्तव में अधिकार कम और दायित्व ही अधिक है ? मैं इस प्रश्न को बार-बार उठा रहा हूँ, क्योंकि अक्सर आलोचकों को लेखकों के आक्रोश का शिकार होना पड़ता है, जिससे आलोचक के कर्तव्य-पालन में अप्रत्याशित बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से एक मिसाल देना चाहता हूँ। कई वर्ष पहले जब मेरे मित्र श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' प्रकाशित हुआ तो मैंने रेडियो पर उसकी समीक्षा करते हुए उसकी काफी प्रशंसा की। अश्क जी को, स्वाभाविक है कि वह प्रशंसा बहुत पसन्द आई और उन्होंने मेरे पीछे, जब मैं काश्मीर में था, रेडियो से पाण्डुलिपि मँगाकर वह लेख 'प्रतीक' में छपाया और बाद में 'गिरती दीवारें' के नये संस्करण में परिशिष्ट के रूप में भी छापा। जिस समय मैंने 'गिरती दीवारें' की आलोचना लिखी थी उस समय तक मैंने हिन्दी कथा-साहित्य में प्रकृतवाद या नेचुरलिज़्म के बढ़ते प्रभाव की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया था और न इस प्रवृत्ति के कला-विरोधी दुष्परिणामों पर ही सोचा था। इसे आप मेरी 'अयोग्यता' के खाते में डाल सकते हैं। लेकिन सच तो यह है कि 'प्रकृतवाद' की प्रवृत्ति उस समय तक इतने भयंकर रूप

से व्यापक नहीं हुई थी कि मैं भविष्य के बारे में आशंकित होता। इसके अतिरिक्त 'गिरती दीवारें' अपने ढंग की सशक्त रचना है और प्रकृतवादी ढंग से ही सही, उसमें हमारे सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं का व्यापक चित्रण हुआ है। इसलिए मैंने उसकी प्रकृतवादी सीमाओं और संकीर्णताओं को न देखकर यही देखा कि वह एक प्रकार से प्रेमचन्द की परम्परा का श्रेष्ठ उपन्यास है। लेकिन जब अश्क जी का अगला उपन्यास 'गर्म राख' निकला उस समय तक मैं हिन्दी-कथा-साहित्य में बढ़ती हुई प्रकृतवादी प्रवृत्ति के उस भोंडे और कलाहीन प्रदर्शन से भी परिचित हो चुका था जो डा० देवराज के बृहद् उपन्यास 'पथ की खोज' में तथा पिछले आठ-सात वर्षों के अधिकांश उपन्यासों में हिन्दी-पाठकों ने देखा था। 'गर्म राख' इस कोटि के उपन्यासों से भिन्न नहीं था। इसलिए जिस अन्दाज़ में मैंने 'पथ की खोज' की आलोचना की थी, 'गर्म राख' की आलोचना उससे भिन्न अन्दाज में करके मैं लेखक के प्रति अपना पक्षपात ही व्यक्त कर सकता था, ईमानदारी से सत्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकता था। इसलिए मैंने 'गर्म राख' को जैसा पाया वैसा बताया, लेकिन इस सत्य-कथन की लेखक पर जैसी प्रतिक्रिया हुई, वह मेरे लिए एक नया अनुभव था। किसी बुरी रचना को भी बुरा कहने से उसका लेखक बुरा ही मनायेगा, यह तो मैं अनेक बार अनुभव कर चुका था, लेकिन वह आलोचक की नीयत पर सन्देह करेगा, यह मैं नहीं जानता था। दुर्भाग्य से ऐसा हुआ और यद्यपि 'अश्क' आज भी मेरे मित्र हैं, फिर भी वे इस बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं हैं कि मैंने बिना किसी दुर्भावना के ईमानदारी से ही वह सब लिखा था। ज़रा सोचिए तो कैसी विचित्र स्थिति है। आलोचक जब आपकी प्रशंसा करता है, तब तो आप उसे ईमानदार और सत्य का अवतार मान लेते हैं, लेकिन जब आपकी कृति को बुरा बताता है तो आप उसे ईमानदार और सच्चा नहीं समझते! लेखकों का अपनी रचना के प्रति मोह अक्सर इतना अन्धा होता है कि उनकी तुच्छ रचना को भी कोई अगर शेक्सपियर के मुक़ाबले की कृति कहदे तो वे उस पर विश्वास करके उसको अपना सबसे बड़ा हितैषी, मित्र और सच्चा आलोचक मानने लगते हैं, लेकिन अगर कोई साहस करके तुच्छ रचना को तुच्छ कहदे तो उस पर विश्वास करना तो दूर, उसे हर प्रकार से लांछित करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। आलोचक का धर्म-संकट ऐसी विषम स्थितियों से ही पैदा होता है, जिससे अपना दायित्व निभाना भी उसके लिए दुष्कर हो गया है।

'आलोचक सहानुभूतिपूर्ण नहीं हैं, आलोचक नई प्रतिभाओं को प्रकाश में नहीं आने देते', ऐसे अनेक आरोप हम सुनते आये हैं। मेरा अनुरोध केवल इतना है कि आप आलोचक के दायित्व पर विचार करते समय यह भी देखें कि रचनाकार स्वयं कहाँ तक आलोचकों को अपने कर्तव्य-पालन से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं, और इस तरह पाठकों को भी गुमराह करते हैं। अपनी पहली रचना पर किसी प्रसिद्ध आलोचक से भूमिका लिखाने की प्रथा चल पड़ी है। इस भूमिका में आलोचक जब तक लेखक की अपरिपक्व रचना की भी भूरि-भूरि प्रशंसा न करे तब तक लेखक को संतोष नहीं होता, और अगर वह भूमिका लिखने से इन्कार करदे तो लेखक तुरन्त दुर्वासा का रूप धारण कर लेता है। ज़रा-सी बात पर

वैमनस्य और कटुता कोई आलोचक पसन्द नहीं करता। इसलिए अपने अन्तःकरण को इस तर्क से संतोष देकर कि वह एक नवोदित लेखक को प्रोत्साहन दे रहा है, आलोचक अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में प्रशंसात्मक भूमिका लिखकर अपना पिण्ड छुड़ा लेता है, और इस प्रकार आरम्भ से ही असत्य का प्रचार शुरू हो जाता है। जब लेखक थोड़ी-सी भी प्रसिद्धि पा जाते हैं, तब वे भूमिका के लिए आलोचक का मुँह नहीं जोहते, स्वयं ही अपनी भूमिका लिखते हैं और अपनी कृति को विश्व-साहित्य की महानतम कृतियों से भी महान होने का दावा करते हैं और इस प्रकार आलोचक को अपनी कृति जाँचने-परखने का मौक़ा भी नहीं देना चाहते। और जब आलोचक इन दावों की परवाह न करके ऐसी कृतियों का सही मूल्यांकन करते हैं, अर्थात् उन्हें निरर्थक और कलाहीन रचनाएँ बताते हैं तो लेखक आलोचकों को बड़ी-बड़ी विचित्र चुनौतियाँ देते हैं। 'पथ की खोज' हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में भी एक निम्न कोटि की अपठनीय रचना है, इसमें सन्देह नहीं। अपने ऊपर जब्र करके उसके आठ-सौ पृष्ठों को पढ़कर मुझे यह बात लिखनी पड़ी। लेकिन लेखक आज भी चुनौती देता जाता है कि हिन्दी उपन्यासों से तुलना न करके उसको योरपीय उपन्यासों के मुक़ाबले में रखकर देखना चाहिए! 'नदी के द्वीप' के लेखक को भी अपने आलोचकों से यही शिकायत है कि वे हिन्दी-चेतना से ही उनकी कृतियों को जाँचते हैं! यह एक विचित्र और गुमराह करने वाला तर्क है। जो कृति हिन्दी में अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती, वह विश्व-साहित्य में खड़ी हो सकेगी, ऐसी प्रवंचना का स्रोत कहाँ है, मैं नहीं जानता, क्योंकि विश्व-साहित्य का अध्येता होने के नाते मुझे मालूम है कि विश्व के सौ प्रथम कोटि के उपन्यासों में अभी हिन्दी का शायद एक भी उपन्यास स्थान पाने योग्य नहीं है। गोदान, बाणभट्ट की आत्म-कथा, सुखदा, मैला आँचल और शेखर को दृष्टि में रखकर ही मैं यह बात कह रहा हूँ। फिर भी तॉल्स्तॉय, तुर्गनेव, दोस्तोव्स्की, गोर्की, बाल्ज़क, ह्यूगो, डिकेन्स, स्कॉट, जेम्स ज्वायस, रोम्यां रोलां या टैगोर और शरत् की महानता के दावेदार हिन्दी में बढ़ते जा रहे हैं। अभी तक उपन्यास क्षेत्र में ही ऐसे दावे किये जाते थे, किन्तु अब नाटकों के क्षेत्र में भी ऐसे दावे किये जाने लगे हैं—स्वयं लेखकों की ओर से। अश्क के एकांकियों को विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एकांकियों के साथ रखकर देखने की माँग हाल ही में हमारे सामने आई है। आलोचक क्या करे? क्या इन दावों का खण्डन ही करता फिरे, क्योंकि वे अक्सर गलत और हास्यास्पद होते हैं? लेकिन अगर वह ऐसा करता है तो उस पर हीन-भावना से आक्रान्त होने का आरोप लगाया जाता है, जब कि सत्य यह है कि ये दावे स्वयं एक भयंकर हीन-भावना के परिणाम हैं। एक और प्रवृत्ति है जिसकी ओर संकेत करना ज़रूरी है। जिस लेखक ने भी एक उपन्यास या नाटक लिखा है या कहानी, कविता, या एकांकी का कोई संग्रह छपा लिया है या जिसकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी हैं—चाहे वे किसी कोटि की भी क्यों न हों—वह चाहता है, चाहता ही नहीं बल्कि अपना अधिकार जताकर माँग करता है कि आलोचक अगर हिन्दी कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी या एकांकी पर कभी, कहीं, कोई लेख लिखे तो उसका नाम सम्मानपूर्वक ज़रूर गिनाया जाय, अर्थात् लब्ध-प्रति-

ष्ठित, ख्यातिनामा, प्रगल्भ, होनहार, नवोदित, तरुण, नये जैसे किसी-न-किसी विशेषण के साथ। शुक्ल जी तक को इस माँग के आगे झुकना पड़ा, औरों की तो बात ही क्या! लेकिन दुनियाँ में आपने कहीं ऐसी बात सुनी है? अंग्रेजी साहित्य में, जिससे हम सब न्यूनाधिक परिचित हैं, क्या आपने ऐसी बात देखी है? अंग्रेजी साहित्य के आलोचक सामरसेट माम और ए. जे. क्रोनिक जैसे विश्व-विख्यात उपन्यासकारों तक की चर्चा अपने लेखों में बहुत कम करते हैं और आलोचनात्मक पुस्तकों में तो उनका ज़िक्र शायद ही कहीं आता है। क्यों? क्योंकि केवल बहुत लिखना या ख्याति पा जाना ही उन आलोचकों के निकट चर्चा का विषय बन जाने के लिए पर्याप्त नहीं है। किसी लेखक ने अगर अपनी कला में जीवन को प्रतिबिंबित करने के नये सीमान्त नहीं खोले हैं, तो वह विवेचनीय नहीं बनता, कुछ ऐसी धारणा अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचकों की लगती है। इसी कारण जहाँ अंग्रेजी में हिन्दी उपन्यासों के स्तर को ध्यान में रखते हुए आज भी कई सौ श्रेष्ठ लेखक हैं, वहाँ अंग्रेजी तथा पाश्चात्य उपन्यासों की परम्परा को दृष्टि में रखते हुए एक दर्जन उपन्यासकार भी श्रेष्ठ नहीं हैं—प्रथम कोटि का तो कोई है ही नहीं—इसलिए आलोचना पुस्तकों में चर्चा लगभग एक दर्जन उपन्यास-कारों की ही होती है। लेकिन हमारे कवि, उपन्यासकार और नाटककार हिन्दी आलोचक से अपेक्षा रखते हैं कि वह अपने दायित्व को भूलकर बस लेखकों की नामावली तैयार करने वाला एक क्लर्क बन जाय।

हमारे 'नये कवि' चाहते हैं कि आलोचक अपने अनुभव, अध्ययन और जीवन-बोध से प्राप्त किसी आधुनिक या प्राचीन कसौटी पर उनकी रचनाओं को न परखे—मूल्यां-कन करे ही न, क्योंकि मूल्य सामाजिक अनुभव और आचरण से बनते हैं। वे आदेश देते हैं कि आलोचक सिर्फ़ रचना के वैशिष्ट्य को ही बताये, क्योंकि वैशिष्ट्य ही उसका सबसे बड़ा मूल्य है। किन्तु यह वैशिष्ट्य शिव है या अशिव, सुन्दर है या असुन्दर, सत्य को अभि-व्यक्ति देने में समर्थ है या असमर्थ, इन सभी तथा अन्य कसौटियों का प्रयोग न करे, क्योंकि तब इस वैशिष्ट्य की सार्थकता साहित्य और जीवन की परम्परा की अपेक्षा में रखकर उद्-घाटित करनी पड़ जायेगी। उनका आदेश होता है कि आलोचक को सिर्फ यही देखना चाहिए कि लेखक के मन में वास्तविकता की प्रतिक्रिया जिस रूप में हुई उस रूप में ही उसे वह व्यक्त कर सका है या नहीं। यह आदेश आलोचक के हाथ बाँध देता है। उसे लेखक के मानसिक जगत् की प्रतिक्रियाओं का 'बैरोमीटर' बनने के लिए विवश करता है, जो केवल यह रिकार्ड करता चले कि वहाँ कुंठा, अनास्था, मानव-द्रोही भावनाओं और निराशा की ठंडी आँधियों का तापमान कितना है! स्वस्थ मानस वाले पुराने महान लेखक अपने आलोचक से इस तरह की माँग नहीं करते थे, इसी कारण उनकी कृतियों में व्यक्त जीवन-सत्य को इतिहास और समाज-जीवन के व्यापक सन्दर्भ में रखकर जाँचना संभव होता था। लेकिन अब हमारे तथाकथित 'नये कवियों' का आदेश है कि उनकी कुंठित चेतना के अनुरूप ही आलोचना का क्षेत्र भी संकुचित और कुंठित कर दिया जाय! मिसाल के लिए, अगर हमारे मित्र प्रभाकर माचवे नई कविता की बानगी के रूप में तिब्बत के किसी बौद्ध-भिक्षु को चीनी

भाषा में रूसी चित्र-पत्रिका को पढ़ते देखकर लिखें कि--

> 'मैंने मन में कहा, 'तुम्हारी मुक्ति' अभी होना है बाकी
> तार कंटीले, बम, टैंकों के काले धब्बे खाकी--
> जब यह माला छीन तुम्हारी, देंगे वे बन्दूक नुकीली
> (शान्ति सुरक्षा !) चीवर के बदले मे वर्दी लाल व पीली !"

तब आलोचक को माचवे जी के मन की प्रतिक्रिया के वैशिष्ट्य का निस्संग विवेचन करके उनकी शैली की व्यंजना-शक्ति पर खूब सिर धुनना चाहिए । लेकिन इस कविता में जो विचार व्यक्त हुआ है वह राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से कितना दूषित है, 'मुक्ति' शब्द की आड़ में कितना मानवद्रोही है, इसकी जाँच-परख आलोचक को नहीं करनी चाहिए । मज़े की बात यह है कि माचवे जी के मन की यह प्रतिक्रिया विशिष्ट भी नहीं है--अगर हमारी राष्ट्रीय नीति और राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध होना ही विशिष्टता की कसौटी न हो तो--क्योंकि रूस-चीन और भारत की मैत्री के विरोधियों की संख्या अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली आदि पुराने साम्राज्यवादी देशों में पर्याप्त है । उन सबकी ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है । प्रश्न यह है कि जब आप किसी राजनीतिक, सामाजिक या ऐतिहासिक तथ्य के बारे में अपनी प्रतिक्रिया को विचार के रूप में व्यक्त करते हैं तो राजनीति, समाजशास्त्र या इतिहास के सन्दर्भ में रखकर आलोचक को उसे जाँचने की आज़ादी क्यों नहीं देना चाहते ? हमारे नये कवि नवीनता, वैशिष्ट्य और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के नाम पर पाठकों को गुमराह करने और उनकी मानवीय भावनाओं को कुंठित करने की तो पूरी आज़ादी चाहते हैं, लेकिन आलोचक को यह अधिकार नहीं देना चाहते कि वह उनकी रचना के पूरे अर्थों को पाठक के सामने खोलकर रखे, उसे सही मार्ग दिखाये और उसकी मानवीय सहानुभूतियों और संवेदनाओं को कुंठित न होने दे । ऐसा करते ही आलोचक को सीख दी जाती है कि तुम कविता से उन मूल्यों को पाने की चेष्टा करते हो, जो उसका उद्देश्य ही नहीं है । साथ ही एक धमकी भी दी जाती है कि नया कवि अपनी नयी कविता को जिस दृष्टि से देखता है उस दृष्टि से आलोचक यदि नहीं देखेगा तो उसे याद रखना चाहिए कि यह एक सैलाब है जो अपने विरोधियों को तिनके की तरह बहा ले जायगा । मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि यह एक सैलाब है, उसी तरह का सैलाब जैसे बरसात में अक्सर हमारे देश में आते रहते हैं और मनुष्य की खेती-बाड़ी और घर-द्वार को उजाड़ करके अपने आप हट जाते हैं । जीवन में तो हम सब इन सैलाबों के अभ्यस्त हो गए हैं, साहित्य में भी हो जायेंगे । कुंठा और मानव-द्रोही भावनाओं का यह सैलाब भी क्षणस्थायी ही सिद्ध होगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं है । पानी का सैलाब विध्वंस के साथ जैसे भूमि को उर्वर बना जाता है, मेरी यह भी धारणा है कि साहित्य-जगत का यह सैलाब मानव-मूल्यों को अस्थायी क्षति पहुँचाकर भी भाषा की व्यंजना-शक्ति का शायद बढ़ा ही जायगा । इसलिए किसी आलोचक को इन धमकियों से विचलित होने का ज़रूरत नहीं है ।

आपको लगेगा कि लेखकों के प्रति मेरे मन में कटुता का सागर खौल रहा है, जो मैं आलोचक के दायित्व का प्रश्न छोड़कर लेखकों पर पिल पड़ा हूँ। दरअसल बात ऐसी नहीं है। मैं तो सिर्फ़ उस परिस्थिति से आपको परिचित कराना चाहता हूँ जिसके भीतर रहकर आलोचक को आज अपना कर्तव्य-पालन करना पड़ता है। आग्रह-दुराग्रह, धमकी-चेतावनी, लांछन, आदेश, आत्मश्लाघा और अमरत्व पाने की उतावली के इस वातावरण में किसी भी ईमानदार आलोचक के लिए साँस लेना दूभर हो गया है। इसलिए दो-तीन बातें स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। ईमानदार आलोचक न किसी लेखक का दोस्त होता है न दुश्मन——उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध किसी से चाहे जैसे हों। वह अगर दोस्त है तो अच्छे साहित्य या अच्छी रचना का, और दुश्मन है तो बुरे साहित्य या बुरी रचना का——उसका लेखक प्रसिद्ध हो या अप्रसिद्ध, पुराना हो या नया। आलोचक न तो लेखकों की नामावली तैयार करने वाला क्लर्क है, न लेखक के अवचेतन मनकी प्रतिक्रियाओं को अंकित करने वाला बैरोमीटर ही। और सबसे बड़ी बात यह है कि आलोचक साहित्य-जगत् का भाग्य-विधाता भी नहीं है, जो चाहे तो खुले हाथों 'अमरत्व' बाँट सकता हो। किसी आलोचक में यह शक्ति नहीं कि वह बुरी रचना को अपनी मुक्त प्रशंसा से अमरत्व दिला सके या अपने कठोर वाक्-प्रहारों से किसी महान् रचना को अमर होने से रोक सके! इसलिए लेखक यदि महान कृतित्व के बिना ही महानता और अमरत्व पाने की महत्वाकांक्षा पर थोड़ा-सा संयम रखकर आलोचक को अपने दायित्वों का पालन करने का अवसर दें, तो सम्भव है कि आलोचना के क्षेत्र में वैसी अराजकता न रहे, जैसी कि आज दिखायी देती है।

आलोचक अधिकारों की माँग नहीं करता, किन्तु उसे अपने कर्तव्य-पालन का अधिकार तो कम-से-कम मिलना ही चाहिए। यदि आप आलोचक के इस प्राथमिक अधिकार को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं तो 'आलोचक के दायित्व' के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना सम्भव हो सकेगा।

साहित्य का हर पाठक एक प्रकार से आलोचक होता है। वह किसी कहानी या कविता को पढ़ते ही तुरन्त अपना मत प्रकट कर देता है कि वह अच्छी है, बुरी है या असुन्दर है। लेकिन इन विशेषणों का प्रयोग वह अनायास अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए करता है, जिससे आप केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि किसी रचना का उस पर पढ़ते ही कैसा प्रभाव पड़ा है——वह उसे रोचक लगी और वह उसमें बह गया है या वह उसे अरोचक लगी और वह उसमें बह नहीं सका है। लेकिन वह कृति किस कोटि की है, कितनी मूल्यवान है, इसका निर्णय करने के लिए वह नहीं रुकता। वह यदि रचना से प्रभावित हुआ है, तो उसे अच्छा समझने का उसके निकट यह पर्याप्त कारण है। वस्तुपरक विवेचन के झमेले में वह नहीं पड़ता। इसीलिए प्रत्येक पाठक को हम आलोचक नहीं कहते। आलोचक हम उसे ही कहते हैं जिसमें अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को वस्तुपरक निर्णय के साथ समन्वित करने की क्षमता हो, और जो रचना के विवेचन द्वारा अपने अनुभव-समन्वित निर्णय को स्पष्ट अभिव्यक्ति देकर साधारण पाठकों की दृष्टि को भी

व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के तल से उठाकर व्यापक और वस्तुपरक बना सके, ताकि वे रचना से उन सारे चेतना-विकासी मूल्यों को प्राप्त कर सकें जो उसमें निहित है।

लेकिन आप जानते हैं कि आलोचकों में भी कई श्रेणियाँ हैं। एक आलोचक तो वह है, जो केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रति मास या प्रति सप्ताह नयी प्रकाशित पुस्तकों की 'रिव्यू' लिखा करते हैं। इन आलोचकों की संख्या पर्याप्त है, क्योंकि हर लेखक या प्रकाशक की इच्छा होती है कि उसकी लिखी या प्रकाशित हर पुस्तक की रिव्यू उसके छपते ही अधिक से अधिक पत्र-पत्रिकाओं में हो जाय। इससे पुस्तक की बिक्री पर असर पड़ता है—इसलिए इस प्रकार की समीक्षाएँ एक प्रकार से व्यवसायिक प्रक्रिया का ही अंग होती हैं। इन्हें आप समीक्षा रूप में लिखे विज्ञापन कह सकते हैं। इनके लेखक अक्सर साधारण पाठकों की कोटि के ही आलोचक होते हैं, जो केवल सुन्दर या असुन्दर जैसे विशेषणों द्वारा पुस्तक के बारे में अपनी प्रतिक्रिया को ही व्यक्त करते हैं, साथ में यह भी सूचित कर देते हैं कि पुस्तक में क्या-क्या है, कहानियाँ और कविताएँ किस विषय की हैं, या उपन्यास की कहानी क्या है, नायक-नायिका का नाम क्या है, पृष्ठ कितने हैं और छपाई-सफ़ाई कैसी है। जिन परिस्थितियों में और जितनी जल्दी में उन्हें अपनी समीक्षाएँ लिखनी पड़ती हैं, उसे देखते हुए उन पर साहित्य के गंभीर मूल्यांकन का भार डालना उचित नहीं लगता। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में उनका कार्य विवेचनीय नहीं है।

जब से हमारे विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के विद्यार्थियों में बताशों की तरह साहित्य के डाक्टर की उपाधि बाँटनी शुरू करदी है, तब से आलोचकों का एक और वर्ग पैदा हो गया है। प्राचीन साहित्य और संस्कृति के विस्मृत तत्वों की खोज और अनुसंधान का कार्य अपने आप में एक महत् और रचनात्मक कार्य हो सकता है यदि उन तत्वों को विकासमान राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति के साथ समन्वित किया जाये, यदि आधुनिक चेतना के साथ ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियों तथा वस्तुओं को एक रचनात्मक सम्बन्ध में रख कर देखा जाये। किन्तु दुर्भाग्य से विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय परम्परा और रीतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मोह इतना जबर्दस्त है कि यह सारा अनुसंधान कार्य एक रूढ़ और मुर्दा परिपाटी के अनुसार ही चलाया जाता है, जिसके कारण बड़े परिश्रम से संग्रह और सम्पादन करके हमारे विद्यार्थी जो थीसिसें तैयार करते हैं, वे प्राचीन ज्ञान और अनुभव की राशि से हमारे वर्तमान अनुभव को आलोकित करके समृद्ध नहीं बनातीं, बल्कि अक्सर कोशिश यह होती है कि आज के दृष्टिकोण में रंगकर प्राचीन को देखा जाय। डाक्टर की उपाधि पाने की दीर्घ साधना में प्राचीन ग्रन्थों की सूचियों और तिथियों का संग्रह करते-करते साहित्य के इन डाक्टरों का दृष्टिकोण और उनकी रुचि अक्सर इतनी संकीर्ण और रुढ़ि-रीतिवादी हो जाती है कि वे प्राचीन की तिथियों में ही जीने लगते हैं और वर्तमान साहित्य की गतिविधि और उसकी समस्याओं में उनकी विशेष दिलचस्पी नहीं रहती। इसलिए जब वे विद्यार्थियों के उपयोग के लिए साहित्य के इतिहास, साहित्य-सिद्धान्त की पुस्तकें या दूसरे, आलोचना-ग्रन्थ लिखते हैं तो वे भी उनकी थीसिसों की तरह संग्रह मात्र

ही होते हैं, उनमें साहित्य का गम्भीर और मौलिक विवेचन नहीं रहता, यद्यपि शैली में अवश्य अध्यापकीय तत्सम-प्रियता का पूरा आडम्बर रहता है, ताकि उनकी भाषा पर प्रचलित और सजीव मुहावरे की छाया न पड़ जाय। प्रस्तुत प्रसंग में ये आलोचक भी विवेचनीय नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने विद्यार्थियोपयोगी आलोचना तक ही अपने दायित्व का क्षेत्र सीमित कर रखा है। साधारणतः उनसे यही आशा की जाती है कि वे अपने पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों में किसी लेखक का नाम, जन्म-तिथि और रचनाओं की सूची में से कुछ भी छूटने नहीं देंगे, ताकि विद्यार्थियों को यदि साहित्य का मूल्य आंकने की समझ न मिले तो कम-से-कम उसके बारे में सूचनाएँ तो सही मिल जायें!

आलोचक के दायित्व का प्रश्न केवल उनके लिए ही उठता है जो इन दोनों श्रेणियों से भिन्न श्रेणी के आलोचक हैं, अर्थात् जो वास्तव में साहित्य के आलोचक हैं। यह कोई ऐसी भिन्न श्रेणी नहीं है जिसका पहली और दूसरी श्रेणी के आलोचकों से कोई नाता-रिश्ता न हो। तीसरी श्रेणी के अनेक आलोचक ऐसे हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में रिव्यू भी लिखते हैं और साहित्य के डाक्टर भी हैं। सच तो यह है कि आलोचक और लेखक भी सर्वथा एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, अनेक रचनाकार समर्थ आलोचक हैं और अनेक आलोचक समर्थ रचनाकार हैं। इसलिए इसे आप शास्त्रीय वर्गीकरण की तरह अमिट और अलंघ्य न मान लें। अस्तु। अब प्रश्न उठता है कि इस वास्तविक आलोचक के दायित्व क्या हैं? आलोचक रसज्ञ हो, शब्दों में निहित अर्थ-ध्वनि-लय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं का मर्मज्ञ हो, साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अन्य क्षेत्रों के ज्ञान का पंडित हो, साहित्य के साथ-साथ यथासम्भव अन्य कला-रूपों के ऐतिहासिक विकास और परस्पर-सम्बन्धों को समझता हो, साहित्य के विभिन्न रूप-प्रकारों—कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, आदि की अनेकविध रूप-गत समस्याओं और विशेषताओं से भली भाँति परिचित हो तथा शैली, शिल्प और टेकनीक के इतिहास का ज्ञाता हो और उनके सूक्ष्म भेदों को समझता हो—ऐसी अनेक बातों की अपेक्षा हम आलोचक से करते हैं, क्योंकि कवि, उपन्यासकार और नाटककार यद्यपि जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने अनुभव को ही प्रेषित करते हैं, लेकिन उनके प्रेषण के माध्यम, ढंग और उपकरण भिन्न होते हैं। जीवन की वास्तविकता को मूर्त्त और कलात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित करने के लिए वे भाषा के साथ भिन्न-भिन्न ढंगों से प्रयोग करते हैं और उनके शिल्प, टेकनीक और रूप में अन्तर होता है। फिर प्रत्येक माध्यम के अन्दर भी देश-काल जनित विशिष्टताओं के साथ-साथ लेखक दर लेखक शैली और शिल्प का सूक्ष्म भेद रहता है, जो लेखक के विशिष्ट व्यक्तित्व, उसके जीवन-बोध, दृष्टिकोण और सर्जन-शक्ति का सूचक होता है। साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया के इस वैविध्यपूर्ण इतिहास की पूरी जानकारी आलोचक को होनी चाहिए। साहित्य क्या है, समाज से उसका क्या सम्बन्ध है, मानव-क्रिया के रूप में विज्ञान तथा अन्य कलाओं से भिन्न साहित्य का विशिष्ट प्रयोजन तथा कार्य क्या है, इन सब व्यापक प्रश्नों की समझ भी उसमें पर्याप्त होनी चाहिए—इस बारे में दो मत

नहीं है। लेकिन इन सब बातों का ताल्लुक आलोचक की योग्यता से है, उसके दायित्व से नहीं। आलोचक से इन सब बातों की अपेक्षा रखने का मतलब है कि वह निरा अनाड़ी न हो। अनाड़ी होने से वह अपने दायित्व का समुचित निर्वाह नहीं कर सकता।

मान लीजिए कि आलोचक अनाड़ी नहीं है, उसमें आलोचक बनने की पूरी योग्यता है। तब फिर उसका दायित्व क्या है? आलोचक निर्णता है और किसी रचना का मूल्य आंकना ही उसका मुख्य काम है। अपने मुख्य काम से ही हरेक का दायित्व पैदा होता है, वैज्ञानिक, कवि, कलाकार, बढ़ई, इन्जीनियर या आलोचक इन सभी का। मूल्य आंकना ही आलोचक का मुख्य काम है और यह काम वह समुचित ढंग से पूरा करे, सहानुभूति-पूर्वक किन्तु निष्पक्ष भाव से, हर रचना के वैशिष्टच को जाँच-परखकर किन्तु जीवन और इतिहास के व्यापक संदर्भ में रखके, अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को वस्तुपरक विवेचन से समन्वित करके—यही आलोचक का दायित्व है। मूल्यांकन एक बड़ा व्यापक शब्द है। एक ही चीज में अनेक मूल्य निहित रहते हैं। जब हम बाजार में जूते या कपड़ा खरीदने जाते हैं तो हमें दस किस्म के जूतों और इतनी ही किस्म या डिज़ाइन के कपड़ों में से चुनाव करना पड़ता है। सब अपनी-अपनी रुचि से चुनाव करते है, किसी को कोई रंग या डिज़ा-इन पसन्द होता है, किसी को कोई। यह तत्सामयिक फैशन और खरीदार के सांस्कृतिक स्तर की आवश्यकताओं से प्रभावित रहती है। फिर भी खरीदार जान-बूझकर घटिया जूता या कपड़ा नहीं खरीदना चाहता—घटिया से मतलब यहाँ सस्ते से नहीं है, बल्कि ऐसे से है जो टिकाऊ न हो। यह एक मूल्य है जो सभी पाना चाहते है। अपनी-अपनी समझ के अनुसार वे कपड़े को देखते ही कल्पना से उसके टिकाऊपन का अन्दाज़ भी लगाने लगते हैं।

इसी तरह आलोचकों की रुचियाँ और दृष्टिकोण चाहे भिन्न हों, किसी कविता, उपन्यास या नाटक को पढ़कर हर आलोचक को अध्ययन और अनुभव से विकसित अपनी विवेचन-बुद्धि से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या यह वास्तव में अच्छी रचना है, और साहित्य में जीवित रह सकेगी? मूल्यांकन के लिए यह प्रश्न ज़रूरी है, क्योंकि इसका अर्थ है अच्छी और बुरी रचनाओं में फ़र्क निकालकर बताना कि वह कविता क्यों काव्य-साहित्य के इतिहास में एक नया और महत्त्वपूर्ण योगदान है और वह उपन्यास क्यों घटिया और रद्दी है। दरअसल इसका अर्थ है, ऐतिहासिक दृष्टि से किसी आधुनिक कृति को जाँचकर यह देखने की चेष्टा करना कि क्या आगामी युगों के प्रबुद्ध पाठक भी उसे महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ समझेंगे या उसका महत्त्व केवल सामयिक और अस्थायी ही है।

लेकिन यह समस्या आसान नहीं है। मैं पहले कह चुका हूँ कि मूल्यांकन बड़ा व्यापक शब्द है, क्योंकि हर रचना में अनेक और अक्सर परस्पर-विरोधी मूल्य निहित रहते हैं। मानव-समाज का बाह्य और आन्तरिक संघर्ष उसकी चेतना में मूल्यों के संघर्ष के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इस संघर्ष में ही मूल्यों का निर्माण होता है और चूँकि मानव-समाज में स्वामी भी रहे हैं और दास भी साम्राज्यवादी भी हैं और गुलाम जातियाँ भी, पूँजीपति भी है और मजदूर भी—यानी समाज अब तक परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों के लोगों में बँटा रहा

है, इसलिए मनुष्य के विचार-जगत् में भी परस्पर-विरोधी मूल्यों का संघर्ष अनवरत चलता आया है। गोरी जातियों को सभ्य और काली जातियों को असभ्य समझने वाले व्यक्ति और मनुष्य-मात्र को बराबर समझने वाले व्यक्ति के विश्व-बोध और मूल्यों में निश्चय ही अन्तर है और यदि दोनों ही लेखक बन जायें और जीवन-वास्तव को अपने-अपने दृष्टि-कोणों से प्रतिबिम्बित करने लगें तो निश्चय ही उनकी रचनाओं में मूल्यों के संघर्ष का रूप भी भिन्न होगा। एक वास्तविकता के चित्र को अपनी ईमानदारी के बावजूद विकृत बनायेगा, दूसरा उसे सही रूप में अंकित करेगा। काली जातियों को असभ्य समझने वाले लेखक का विश्व-बोध संकीर्ण और परिस्थिति-जन्य है—मनुष्य की ऐतिहासिक प्रगति से परिचित होने के कारण आलोचक के लिए यह दिखाना सम्भव होना चाहिए। 'नये कवि' और 'नये आलोचक' इस बात को शायद नहीं मानते। जो शुद्ध कलावादी हैं, वे भी आलोचक को मूल्यों के आधार पर निर्णेता नहीं स्वीकार करना चाहते। लेकिन व्यक्ति लेखक को जो मन में आये लिखने की स्वतन्त्रता देने का समर्थन करके भी मैं इस हक़ीक़त से आँखें कैसे छुपा सकता हूँ कि आप जो लिखते हैं वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के साथ-साथ एक सामाजिक दस्तावेज़ भी है, जिसे आज के पाठक ही नहीं, बल्कि भावी पीढ़ियों के पाठक भी आपकी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में ही ग्रहण करेंगे, क्योंकि उसमें जीवन और जगत् के सम्बन्ध में आपके विचार व्यक्त हुए हैं, मानव-सम्बन्धों और मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है और आपने इन अभिव्यक्तियों द्वारा मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना को उदात्त और मानवीय बनाया है या संकीर्ण और कुंठित किया है। इसी प्रकार किसी रचना को पढ़कर तत्काल आनन्द पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। मज़ाक का उद्देश्य हँसाना होता है, लेकिन एक मज़ाक ऐसा होता है जिसे सुनकर हम हँसते तो हैं, किन्तु जो हमारी रुचि को अश्लील और भद्दा बनाता है, और एक मज़ाक ऐसा होता है जो हँसाने के साथ-साथ रुचि का परिष्कार करके उसे सूक्ष्म बनाता है। इसलिए हँसाने की क्षमता ही मज़ाक के अच्छे-बुरे होने की कसौटी नहीं है। जो समझदार हैं, वे दोनों के भेद को तुरन्त भाँप लेते हैं। इसी तरह साहित्यक कृति रोचक हो, अपने साथ पाठक को बहा ले जा सके, यह सब तो अनिवार्यतः हम सभी चाहते हैं, लेकिन इतने से ही वह अच्छी नहीं बन जाती। साहित्य के इतिहास में स्थायी महत्त्व पाने की शक्ति भी उसमें होनी चाहिए, तभी उसे श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। किसी रचना में यह शक्ति कहाँ से आती है? यह शक्ति तभी आती है जब लेखक किसी महत्त्वपूर्ण विचार-वस्तु या अनुभव को कलात्मक ढंग से प्रेषित करने में सफल हो जाता है। ऐसी कृति मनुष्य के विश्व-बोध और उसकी भाव-चेतना में अभिवृद्धि करने में समर्थ होती है, अर्थात् साहित्य की धारा में उसका विशिष्ट योगदान होता है और उसमें अपने युग की सबसे अधिक जागरूक प्रवृत्तियों, केन्द्रीय समस्याओं और सर्वोच्च मानव-मूल्यों को चेतना-विकासी अभिव्यक्ति मिलती है। आलोचक मानव-इतिहास की प्रगति-दिशा की गहरी चेतना से साहित्य की कृतियों और प्रवृत्तियों तथा उनमें व्यक्त विचारों और भावनाओं का

मूल्य ग्रांकता है और विवेचन से यह देखने की चेष्टा करता है कि उनमें जीवन-वास्तव कितनी कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित हुआ है। सत्य को अभिव्यक्ति देने के संघर्ष में आलोचक लेखक का सहयोगी है, क्योंकि मूल्यांकन द्वारा वह लेखक की कृति के सम्पूर्ण अर्थ को हर प्रबुद्ध पाठक की उपलब्धि बनाने में योग देता है।

इस प्रकार आलोचक का दायित्व बड़ा और रचनात्मक है। इस दायित्व का पालन यदि वह ईमानदारी से करे तो श्रेष्ठ-साहित्य के निर्माण को सही दिशा और स्फूर्ति मिलती है, यदि ईमानदारी से न करे तो साहित्य की रचनात्मक शक्तियाँ पथ-भ्रष्ट हो सकती हैं। लेखक का कर्त्तव्य है कि वे आलोचक को अपने दायित्व का पालन करने का अवसर दें, और आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह विपरीत परिस्थितियों के प्रभावों से अविचलित रह-कर साहित्य का सही मूल्यांकन करे। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमारा देश अपनी ऐति-हासिक महानता और गौरव के अनुरूप ही युद्ध और उपनिवेशवाद से आतंकित विश्व-राजनीति में शान्ति और स्वतन्त्रता के सर्वोच्च मानववादी मूल्यों की स्वीकृति के लिए संघर्ष कर रहा है। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के ज़िम्मेदार लेखक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि 'मूल्यों के विघटन' के इस संक्रान्ति-युग में हम साहित्य में भी मनुष्य के सर्वोच्च जीवन-मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सचेत संघर्ष करें। आलोचक का दायित्व है कि वह अपने गम्भीर विवेचन से साहित्य की इन प्रवृत्तियों और साहित्यकारों की इन चेष्टाओं को निरंतर बल प्रदान करे, क्योंकि स्थायी मूल्य की रचनाओं से ही किसी साहित्य या साहित्यकार की महानता और परिपक्वता कूती जाती है। हम आलोचक यही चाहते हैं कि हमारा साहित्य विश्व की अन्य बड़ी भाषाओं के साहित्यों में अग्रणी बने। इसीलिए मूल्यांकन के मानदण्डों को ऊँचा रखने का दायित्व आज हम पर है।

—नवम्बर, १९५५

१८

स्वाधीन भारत में हिन्दी सहित्य की गतिविधि

भारतीय इतिहास में १५ अगस्त सन् १६४७ का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। उस दिन दो सौ वर्ष पुरानी गुलामी के बन्धन टूटे और स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास की संभावनाओं के द्वार खुले। यह तिथि सच्चे अर्थों में एक युग की समाप्ति और एक नये युग के आरम्भ की सूचक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह तारीख न स्मरणीय है, न महत्त्वपूर्ण ही। हमारी स्वाधीनता अभी केवल आठ वर्ष पुरानी है। एक पीढ़ी से भी छोटी इस काल-अवधि में हमारे देश ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपने विकास की लम्बी मंज़िलें पार की हैं और आज विश्व में भारत का नैतिक सम्मान सबसे अधिक है। सभी हमारी शान्ति-नीति का आदर करते हैं। लेकिन क्या हमारा साहित्यिक विकास भी इतना महत्त्वपूर्ण रहा है? जो लोग राजनीतिक घटनाओं और परिस्थितियों के साथ साहित्य का सीधा सम्बंध जोड़ने की कोशिश करते हैं—और ऐसे लोगों में मार्क्सवादियों से लेकर समाजवादी, गांधीवादी आदि सभी विचारधाराओं के लोग हैं—उनको राजनीति और साहित्य की प्रत्यक्षत: इस विपरीत गति को देखकर लगातार हैरानी होती आई है। स्वाधीनता के इन आठ वर्षों में हिन्दी-साहित्य में किसी ऐसी नई बलशाली प्रवृत्ति का जन्म नहीं हुआ, जिसका वे स्वाधीनता से सीधा सम्बन्ध जोड़ सकें। प्रत्युत अभी तक हिन्दी-साहित्य में वे प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ ही चल रही हैं, जो प्रेमचन्द-प्रसाद के बाद दूसरे महायुद्ध के आरंभ में ही मुखर हो उठी थीं। जो पुराने, वयोवृद्ध लेखक हैं, इस बीच उन्होंने ऐसा कुछ नया नहीं दिया जो युगान्तरकारी हो। छायावादोत्तर कालीन या प्रेमचन्दोत्तरकालीन जो नये प्रगतिवादी कवि, या यथार्थ-वादी-प्रकृतिवादी उपन्यासकार हैं, उन्होंने भी ऐसी कोई प्रौढ़ और महान रचना साहित्य को नहीं दी कि उसके आधार पर स्वाधीनता-काल के हिन्दी-साहित्य को विशिष्ट गौरव प्रदान किया जा सके। प्रस्तुत: यदि ध्यान से देखा जाय तो इस बीच हिन्दी साहित्य का साधारण रचनात्मक स्तर कुछ नीचे ही गिरा है। कम-से-कम उसका नैतिक स्वर और उसमें व्यक्त होनेवाली सामाजिक भावना एक बड़ी सीमा तक विकृत होकर अनैतिक, उच्छृंखल, असामाजिक और व्यक्तिवादी बन गई हैं। ह्रास की इस प्रक्रिया को देखकर कुछ वर्ष पहले कई लोगों ने हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की कल्पना करके शोरगुल भी मचाया था। इस शोर-गुल से खिन्न होकर कुछ लोगों ने पूरे उद्धत भाव से यह सिद्ध करना चाहा कि साहित्य में गतिरोध जैसी कोई चीज़ नहीं है बल्कि हिन्दी साहित्य तो अब सही अर्थों में प्रौढ़ता प्राप्त कर रहा है। प्रयोगवादी रचनाएँ उदाहरण के रूप में पेश की गईं। लेकिन इस वाक्-युद्ध से

किसी समाधान तक पहुँचना संभव न था, क्योंकि समस्या गतिरोध या प्रौढ़ता के दावों तक ही सीमित न थी।

साहित्य का कोई सामान्य उद्देश्य नहीं होता, सिवाय इसके कि श्रेष्ठ, कलात्मक साहित्य मनुष्य की मानवीय भावनाओं, उसके विश्व-बोध और उसकी आत्म-चेतना को व्यापक, उदात्त और संस्कृत बनाता है। लेकिन यह साहित्य का पूर्व-निर्धारित उद्देश्य नहीं है, जैसे देश में एक समाजवादी ढंग की व्यवस्था क़ायम करना कम्युनिस्ट पार्टी का उद्देश्य है—यह तो साहित्य का श्रेय या उसका धर्म है, जो मनुष्य की इस विशिष्ट कलात्मक चेष्टा में स्वयं निहित है। लेकिन साहित्य की रचना व्यक्ति-लेखक द्वारा होती है, जो एक सामाजिक प्राणी होने के अतिरिक्त देश-काल की चेतना से प्रभावित भी होता है। भारतेन्दु के समय में जब खड़ी बोली हिन्दी का साहित्य जन्म ले रहा था, तब देश-काल की परिस्थितियों से प्रभावित होकर हिन्दी-लेखकों ने व्यक्तिगत रूप से जीवन-वास्तव का एक विशिष्ट दृष्टिकोण से चित्रण किया था। यह दृष्टिकोण सुधारवादी था। भारतीय विचार-जगत् में उन दिनों सुधार की चेतना जाग्रत थी। जीवन-वास्तव का कलात्मक चित्रण करने के लिए उस युग के लेखकों को अधिक विचार-मंथन नहीं करना पड़ा। वातावरण में सामाजिक सुधारों की आकांक्षा गूँज रही थी। युग की प्रगतिशील चेतना थी वह। लेखकों का हृदय इस चेतना से सहज ही तादात्म्य स्थापित करके साहित्य रचना के लिए प्रेरित हो उठा। इसके बाद जब राष्ट्रीय चेतना और आगे बढ़ी और ग़ुलामी से मुक्ति पाने और पश्चिम के राष्ट्रों की तरह स्वतंत्र जीवन-निर्वाह की कल्पनाओं ने राष्ट्र की चेतना को अनुप्राणित करना शुरू कर दिया तो हिन्दी कविता में छायावाद और हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रेमचंद के आदर्शवाद की प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। नई राष्ट्रीय चेतना ने भारतीय मानस के सामने जो सांस्कृतिक समस्याएँ उठाई थीं, छायावादी कविता ने उन्हें मार्मिक अभिव्यक्ति दी। सामाजिक समस्याओं का चित्रण हमारे कथा और नाट्य-साहित्य में हुआ। इस समय तक राष्ट्र-जीवन में सामाजिक पिछड़ेपन और अंग्रेजों की ग़ुलामी—ये दो तत्व ऐसे थे, जिनके प्रति प्रत्येक लेखक की प्रतिक्रिया विरोध और प्रतिवाद की होती थी। इस कारण उस युग के लेखकों में भी दृष्टिसाम्य दिखाई देता है। लगता है जैसे हमारा साहित्य किसी सामान्य उद्देश्य से अनुप्राणित है। किन्तु छायावादोत्तर काल में यह दृष्टि-साम्य टूटने लगा। गांधी-दर्शन से प्रभावित राष्ट्र-चेतना में मार्क्स-दर्शन से प्रभावित वर्ग-चेतना ने प्रवेश किया। दूसरी ओर व्यक्ति-चेतना पर फ्रायड के विचारों का भी प्रभाव पड़ने लगा। सरल समाधानों का युग बीत गया। जीवन की समस्त विकृतियों, समाज की समस्त कुरीतियों को केवल राजनीतिक ग़ुलामी के मत्थे मढ़कर साहित्यकार के लिए कलात्मक समाधान पा लेना सम्भव न रहा। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध भविष्य में किस आधार पर संगठित हों—साहित्य के सामने यह समस्या सबसे अधिक बुनियादी बन गई। चूँकि विभिन्न विचार-धाराएँ और प्रवृत्तियाँ विरोधी मतवादों से प्रेरित थीं, इस कारण उनमें कोई सामान्य तत्व देख पाना आसान नहीं रहा। प्रगतिवाद ने आर्थिक सामाजिक स्वतन्त्रता पर ज़ोर

दिया। मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रेरित प्रतीकवादी धारा ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर ज़ोर दिया। वस्तुतः देखा जाय तो दोनों के सामने समस्या यह थी कि स्वतंत्र भारत में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध किस आधार पर संगठित हों, कि उनके पूर्ण विकास की सम्भावनाएँ कुंठित न हो जायें। दोनों धाराओं ने मनुष्य-जीवन की आवश्यकताओं के भिन्न-भिन्न पक्षों पर एकांगी ज़ोर देकर विपरीत दिशाओं में विकास किया। इस प्रकार, जब हमें स्वाधीनता मिली, उस समय हिन्दी-साहित्य विभिन्न प्रवृत्तियों में बँटकर रचा जा रहा था। दोनों पक्षों के लेखकों में अपने-अपने मतवाद का दुराग्रह इतना अधिक रहा है कि स्वाधीनता प्राप्ति की घटना और उसके बाद के ये आठ वर्ष उनकी दृष्टि से अनदेखे ही गुज़र गये हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रगतिवादी, प्रतीकवादी, प्रयोगवादी और पुराने छायावादी साहित्यकारों को अपने मतभेद भुलाकर 'स्वतन्त्रता' के गीत गाते रहना चाहिए था या कि कथा-साहित्य में 'स्वतन्त्रता-दिवस' के समारोहों का चित्रण करना चाहिए था। कुछ लेखकों ने ऐसी सामयिक रचनाएँ भी कीं, किन्तु उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। मेरे कहने का आशय केवल इतना है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले सामाजिक जीवन को किसी नये, अधिक मानवीय आधार पर संगठित करने के बारे में जो विचार-मंथन हो रहा था, स्वतन्त्रता प्राप्ति करने के बाद उसकी कोई विषद, समन्वित कल्पना साहित्य में वे नहीं दे सके। अपने-अपने मतवादों के दुराग्रहों से प्रेरित होकर हिन्दी लेखक दलों में बँटते गये, और जीवन-वास्तव को चित्रित करने के स्थान पर अपने-अपने दलगत विचारों की ही विवृत्ति करने लगे। प्रगतिवादियों ने यह माना ही नहीं कि भारत पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया है, इसलिए उनके आगे कोई नई समस्या नहीं उठी। गुलामी के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते समय अब वे अंग्रेजों की जगह काँग्रेसियों का नाम लेने लगे। प्रतीकवादी-प्रयोगवादियों के सामने देश की आज़ादी या गुलामी का कभी कोई प्रश्न ही नहीं रहा। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर उसका मौलिक विरोध साम्यवाद से है, अतः देश गुलाम है तो, और आज़ाद है तो, अन्ततः उनको इससे कोई सरोकार नहीं। देश में प्रगतिवादी विचारधारा का होना ही उन्हें सबसे अधिक अकल्याणकारी खतरा दीखता रहा है, और वे चाणक्य की तरह शिखा खोलकर उन सभी नैतिक और सामाजिक तत्वों का भारतीय मानव की चेतना में से उन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध होकर अपने लेखन द्वारा आन्दोलन करते रहे हैं, जिनके प्रति प्रगतिवाद ने हमें उद्बुद्ध किया था। इस प्रकार स्वाधीनता ने देश और साहित्य के सामने जो समस्याएँ उठा दी थीं, उनकी ओर इस बीच हमारे साहित्यकारों का ध्यान बहुत कम गया है।

ये समस्याएँ क्या हैं? स्वतन्त्र होने के बाद भारतीय जीवन के पुनर्निर्माण का प्रश्न हमारे आगे सबसे बड़ी और मौलिक समस्या है। समाज का नया निर्माण 'डिमॉक्रेटिक'—अर्थात् समानता के आधार पर हो, इसके बारे में दो मत नहीं हैं। लेकिन भावना और मानवीय व्यवहार के स्तर पर इसे समझते कितने लोग हैं? समाज के नवनिर्माण का अर्थ ही है कि समाज में नये सम्बन्धों की स्थापना हो। ये नये सम्बन्ध केवल अर्थ-

नीति तक ही सीमित न हों, बल्कि समग्र सामाजिक जीवन में मनुष्य जितने असंख्य सम्बंधों में एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, उन सब का नियमन एक 'डिमॉक्रेटिक भावना' के अनुसार हो। युग-जीवन की आकांक्षाएँ व्यक्ति और समाज जीवन के हर क्षेत्र में और हर स्तर पर इस समस्या के सही और मानवीय समाधान की अपेक्षा रखती हैं। राजनीति या समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में ही नहीं, भावना और संस्कृति के सूक्ष्मतर, अध्यात्मिक क्षेत्रों में भी इस समस्या का समाधान हमें पाना है। अर्थात् सच्चे 'डिमॉक्रेटिक' जीवन का निर्माण तभी सम्भव है, जब हमारी भाव-प्रतिक्रियाएँ भी इतनी सचेत और उदात्त हों कि किसी भी परिस्थिति में हम समानता के व्यवहार को न त्यागें। ऐसा व्यवहार हमारे सहज संस्कारों का अंग बन जाए। यह बड़ी व्यापक समस्या है और इसके असंख्य रूप हैं। भारतीय समाज ऐसे नये जीवन के निर्माण के लिए संघर्षशील है। हिन्दी साहित्य का स्वर यदि इस बीच मतवादी आग्रहों के कारण विशृंखल न होता तो हमारे लेखक इस समस्या को जीवन की समग्रता में झलकाने का अपनी-अपनी दृष्टि से प्रयत्न करते, और तब हम स्वाधीनता के बाद के साहित्य को एक अर्थ में विशिष्ट कह सकते। किन्तु जो अवस्था रही है, उसको सामने रखकर ऐसा कहना सत्य नहीं होगा।

स्वाधीनता के बाद जीवन ने जो मोड़ लिया है और हमारे आगे भावी विकास की संभावनाओं के जो द्वार खुले हैं, उन्होंने जीवन-वास्तव को यथार्थ और मूर्त्त ढंग से प्रतिबिम्बित करने के लिए साहित्यकारों के आगे कलानिर्माण की नई समस्याएँ पैदा कर दी हैं, इस बात के प्रति किसी-किसी लेखक ने ही जागरूकता दिखाई है, अन्यथा अधिकांश लेखक स्वाधीनता से पहले के अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रहे हैं। इसीलिए साहित्य और जीवन की गति में वैषम्य दीखता है।

लेकिन इस वैषम्य के बावजूद कुछ ऐसी कृतियाँ रची गई हैं, जो अपने आपमें महत्वपूर्ण हैं। यशपाल का उपन्यास 'मनुष्य के रूप', नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा', जैनेन्द्र का उपन्यास 'सुखदा', फणीश्वरनाथ रेणु का पहला ही उपन्यास 'मैला आँचल', उदयशंकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' तथा इलाचन्द्र जोशी का नया उपन्यास 'जहाज का पंछी' ऐसी कृतियाँ हैं, जो स्वाधीनता से पहले के कथा-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों के मुक़ाबले में रखी जा सकती हैं। प्रेमचन्द कालीन उपन्यासों से इन उपन्यासों का शिल्प ही अधिक विकसित नहीं है, बल्कि युग-जीवन की अनेक केन्द्रीय समस्याओं की कलात्मक अभिव्यक्ति भी उनमें अधिक प्रौढ़, यथार्थ और अभिनव है। साधारणतया काव्य-साहित्य के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि दोनों पक्षों के मतवादी काव्य को लेकर ही अधिकतर विचार-युद्ध करते रहे हैं। लेकिन यह निर्विवाद है कि 'कामायनी', 'पल्लव', 'ग्राम्या', 'परिमल', 'अनामिका', 'कुरुक्षेत्र' या 'साकेत' के मुक़ाबले की कृतियाँ इस बीच विरल ही रहीं। नाटय-साहित्य में जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' के अतिरिक्त और कोई विशिष्ट कृति नहीं रची गई, यद्यपि उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों और एकांकियों का स्तर पहले से कुछ अधिक

ऊँचा अवश्य हुआ है। और लेखकों में भी नाट्य-साहित्य की रचना के प्रति आज पहले की अपेक्षा अधिक उत्साह है। कहानियों में भी साधारणता ही अधिक मिलती है। असाधारण कोटि की कलात्मक कहानियाँ गिनती की ही लिखी गई हैं।

इस प्रकार स्वाधीनता के बाद का हिन्दी-साहित्य अभी किसी विशिष्ट, किन्तु व्यापक, मूलभूत विचार से उत्प्रेरित साहित्य नहीं है, बल्कि स्वाधीनता से पहले ही उसकी विभिन्न विचारधाराओं और प्रवृत्तियों में जो दृष्टिगत संकीर्णता आ गई थी, उसमें ही सीमाबद्ध है। लेकिन उपन्यास और नाटक के क्षेत्रों में ये सीमाएँ टूटने लगी हैं और नये और पुराने प्रतिभाशाली रचनाकार हिन्दी-साहित्य को पुनः युग की नई आकांक्षाओं का समर्थ वाहन बनाने की आवश्यकता के प्रति जागरूक होते जा रहे हैं।

—जुलाई, १९५५

१६

भारत की जन-नाट्यशाला

कलाओं के संगठन की बात उठाई तो बार-बार जाती है, लेकिन उसके बुनियादी पहलू को हमेशा नज़रअन्दाज किया जाता है। लम्बी-चौड़ी योजनाओं में भी उस तत्त्व की कमी रहती है जो अमल में लाये जाने पर कला के अन्दर प्राण फूंक सकता है, उसे टिकाऊ और प्रभावशाली बना सकता है। इन योजनाओं में दो दृष्टिकोण प्रधान रहते हैं : व्यावसायिक लाभ और अवकाश-भोगी वर्ग का मनोरंजन। लेकिन आज के समाज में यह बात निर्विवाद है कि ये दोनों प्रेरणाएँ (incentives) कला को उत्तरोत्तर विकास अथवा स्थायित्व का गुण नहीं प्रदान कर पातीं, कुछ दिनों चमक-दमक दिखाकर कला के विविध रूप मुरझाने लगते हैं। इसलिए कला को सप्राण, सजीव, सबल और विकासोन्मुख बनाने के लिए हमें अपनी इन योजनाओं में से वे दोनों प्रेरक शक्तियाँ निकाल देनी होंगी और उनके स्थान पर मूल तत्त्वों को रखना होगा। ये मूल तत्त्व आधुनिक जीवन की वास्तविकता की चेतना पर आधारित हैं, इस कारण अधिक गतिशील (dynamic) हैं।

ये मूल तत्त्व क्या हैं ? हमारी कला को भारतवर्ष के तीस-पैंतीस करोड़ किसान-मजदूर और निम्न-मध्यमवर्ग से 'प्राण-सम्बन्धित' होना चाहिए, क्योंकि समाज का यह वर्ग ही आज ऐतिहासिक दृष्टि से समाज की असंगतियों पर विजय प्राप्त कर एक नये समाज का निर्माण करने की क्षमता रखता है, पूँजीपति वर्ग या उपजीवी, अवकाशभोगी वर्ग की क्षमता अब समाज को आगे बढ़ाने में नहीं वरन् पीछे ढकेलने में ही शेष रही हैं। अतः यदि कला शोषित वर्गों से अर्थात् जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' हो गई तो समझना चाहिए कि वह इतिहास के साथ क़दम मिलाकर चलने लगेगी और समाज की प्रगति में सक्रिय-सचेत रूप से सहायक होगी। इस कारण टिकाऊ भी होगी। अब प्रश्न उठता है कि जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' होने के लिए कला के रूप-विधान में किन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ेगी ? इसके लिए यहाँ केवल इतना जानना ज़रूरी है कि चूँकि कला का सम्बन्ध मनुष्य के भाव-जगत् से है, अतः कला को जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं का निरूपण कर उसके भाव-जगत् के धरातल को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना होगा, ताकि जनता में नवजीवन अथवा नये समाज का निर्माण करने की कल्पना स्पष्ट हो जाय। आज उसका यही सबसे बड़ा ऐतिहासिक लक्ष्य है।

कला के निर्माण के मूल में व्यावसायिक लाभ तथा उपजीवी वर्ग के कुत्सित मनोरंजन के स्थान पर शोषित जनता की आध्यात्मिक क्षुधा को स्वास्थ्यकर मानसिक भोजन

प्रदान करने तथा जनता को अपने मौजूदा तथा भावी कार्य के प्रति सजग और सचेत बनाने का तत्व चाहिए।

जनता से कला का 'प्राण-सम्बन्ध' स्थापित करने के लिए जनता के आध्यात्मिक जीवन को हमें हर पहलू से समझना होगा। इस जनता के आर्थिक-शोषण की कहानी से तो सभी परिचित हैं, यद्यपि वे यह नहीं जानते कि इस आर्थिक शोषण के साथ-साथ जनता का आध्यात्मिक शोषण कितना गहरा हुआ है। यह ठीक है कि हिन्दुस्तान में पूँजीवाद के आने से उत्पादन के तरीकों में उन्नति हुई है और कई क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ा भी है, लेकिन उसके अनुपात में यहाँ की 'मानसिक संस्कृति' नहीं बढ़ पाई, यद्यपि सामाजिक नियम के अनुसार ऐसा होना आवश्यक था, वैसे देखने को 'शिक्षित बेकारों' की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है, जब कि शिक्षित-वर्ग जनता की संख्या में पाँच-सात प्रतिशत से ज़्यादा नहीं है। इसका कारण साम्राज्यवादी शोषण और पूँजीवाद का अनैसर्गिक विकास कहा जा सकता है। आर्थिक शोषण से ग़रीबी पैदा हुई है, और इस ग़रीबी ने जनता को अशिक्षा, सामाजिक पिछड़ेपन, भावात्मक शून्यता और रोगों का शिकार बना दिया है। जनता का भाव-जगत् ऊसर बन गया है, रुक्ष एवं अनुर्वर; उसकी उच्च सुखमय जीवन की अभिलाषा पर शंका और सन्देहों का पाला पड़ा हुआ है, उसका कल्पना-जगत् एक ऐसा मरुस्थल बन गया है जहाँ मृगमरीचिका के भी दर्शन नहीं होते, उसके हृदय की आकांक्षाओं की सरिता, जिसमें उज्ज्वल भविष्य का श्वेत चन्द्रमा अपना प्रतिविम्ब डालकर उसकी लोल लहरों को अपनी ओर खींचता रहता था, अब शुष्क पड़ी है। यहाँ पर वाक्यालंकार का प्रयोग नहीं किया जा रहा, क्योंकि विक्षिप्त बना देने वाली जिस आध्यात्मिक क्षुधा की पीड़ा से आज हमारी जनता उद्भ्रान्त और किंकर्तव्य-विमूढ़ बनी हुई है, उसके जीवन की आन्तरिक विशृंखलता की अभिव्यक्ति के लिए यही भाषा सुगम है।

इस पर एक और पहलू से विचार करें। रेडियो, सिनेमा, नाच, थियेटर, उपन्यास, समाचार-पत्र, काव्य-साहित्य, कला-चित्र, और स्कूल-कालेज, ये हमारी 'मानसिक-संस्कृति' के प्रमुख वाहक हैं, अथवा यों कहिए कि मिलकर ये सब हमारी 'मानसिक-संस्कृति' की रूप-रेखा गढ़ते हैं। आज के जीवन में इन कला-कृतियों अथवा सांस्कृतिक केन्द्रों का फैलाव क्या इतना है कि वे अपनी परिधि में हमारी जनता को घेर लें? इसके ठीक विपरीत, जनता की इन चीजों तक कोई पहुँच प्राइमरी दर्जे की उन पुस्तकों तक भी नहीं है जिनमें 'हे प्रभो अन्नदाता, ज्ञान हमको दीजिए', पढ़कर विद्यार्थी प्रभु द्वारा भेजे ज्ञान की प्रतीक्षा में सारा जीवन गुजार देता है किन्तु प्रभु ज्ञान नहीं भेजता। इसी से स्पष्ट है कि कला, संस्कृति और साहित्य इस समय एक अवकाशभोगी वर्ग की सम्पत्ति हैं, असंख्य जनता से उनका कोई सम्बन्ध नहीं।

इधर कुछ दिनों से राजनीतिक उथल-पुथल, संगठन और प्रचार के कारण जनता में एक नई चेतना की लहर दौड़ गई है। उसकी वह नैराश्य-भावना जिसमें डूबकर उतराना भी सम्भव न था अब लुप्त होती जा रही है। यह जीवन केवल पिसने के लिए ही नहीं है,

बल्कि उसमें कुछ अपना भी हो सकता है, सुख और चैन मिल सकता है, इसकी अस्पष्ट अनुभूति उसे होने लगी है। लेकिन इस अनुभूति और चेतना की बुनियाद गहरी नहीं हो पाती, क्योंकि उसके हृदय आशंकित हैं, नित नये प्रश्न उठकर उसके सन्देहों को मजबूत करते रहते हैं। जनता सोचती है, 'क्या यह सच है ? क्या यह कभी सम्भव हो सकेगा ? यह सब कैसे हो जायगा ?' इन प्रश्नों के मूल में सन्देह है, उस चेतना और अनुभूति के प्रति जिससे वे विचलित हो रहे हैं। नेताओं के वक्तव्य, व्याख्यान, सभाएँ, प्रदर्शन, हड़-तालें, आन्दोलन इन प्रश्नों और सन्देहों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। कभी-कभी ये सन्देह और भी दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर और अपने वास्तविक जीवन में जो तारतम्य, जो संगति, जो सम्बन्ध है, उसे वह अपनी कल्पना के पर्दे पर चित्रित कर उसकी पूरी तस्वीर नहीं देख पाती। बीच की कोई-न-कोई कड़ी टूट जाती है और उसका दिल दहल उठता है। उसे सन्देह होता है, 'शायद ऐसा न हो सके!' अतः यदि जनता हमारे साथ संघर्ष में आती है, या संघर्ष में हमें अपने साथ खींच लेती है तो केवल जीवन की विषम परिस्थितियों से धक्का खाकर, तिलमिला कर; सजग रूप से, आवश्यकता की चेतना से नहीं। इसी कारण वह अभी तक अपने दिल के पूरे हौसले से संघर्ष में शामिल नहीं हो पाई, उसका नेतृत्व अपने हाथ में नहीं ले पाई।

किन्तु यह तो नहीं हो सकता कि जिस जनता ने अपने परिश्रम से आर्य-संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति और मुगल संस्कृति जैसी तीन महान् संस्कृतियों को गढ़ा हो, सींचा हो, और जिनका भार अपनी पीठ पर वहन किया हो, उसमें स्वयं एक आध्यात्मिक क्षुधा न उत्पन्न हो गई हो। यहाँ की जनता ने अपने हाथों बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का निर्माण किया है। इस कारण आज जब समाज की व्यवस्था ने उसे आधुनिक कला और संस्कृति से वञ्चित कर दिया है तो वह अपनी क्षुधा की तृप्ति सामन्त-काल की भग्नावशेष कला से करती है। गाँव के किसी मेले-ठेले में जाइए, किताबों की दूकानों पर ऐसे-ऐसे लेखकों की पुस्तकें मिलेंगी जिनका साहित्य-जगत् में कभी कोई अस्तित्व नहीं माना गया है।

इन पुस्तकों में गाने की किताबों की अधिकता रहती है, उपन्यासों और कहानियों की नहीं। अभी जनता की मानसिक संस्कृति पिछड़ी दशा में है, इस कारण वह उन्हीं पुस्तकों को चाहती है जो कण्ठस्थ हो सकें। साहित्य के विविध रूप-विधानों से उसका अभी-तक परिचय नहीं हो पाया। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा, ये ही कुछ बड़े-बड़े कवि हैं जो जनता तक अपनी पैठ कर पाये हैं, आज के कवियों की वहाँ गति नहीं। इससे दो बातें साबित होती हैं : पहली तो यह कि आधुनिक समाज ने हमारे लेखकों के साहित्य का जन-आधार अत्यन्त संकुचित कर दिया है, दूसरी यह कि आज की जनता की विकृत, मृतप्राय संस्कृति और हमारे लेखकों की संस्कृति में उसने जमीन-आसमान का अन्तर पैदा कर दिया है जिससे वे एक-दूसरे के सम्पर्क में आ ही नहीं पाते। फलतः हमारी ग्रामीण अथवा मजदूर जनता को साहित्य के अश्लील और कुत्सित रूप से ही सन्तोष करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त दृश्य-कलाओं की भी इस जनता में प्राचीन परिपाटी अपने विकृत

रूप में चली आ रही है। इन दृश्य-कलाओं में नाटक और नृत्य मुख्य हैं।

जनता की नाट्यशालाओं के कई रूप हैं—रामलीला, रासलीला, भँड़ैती, स्वाँग, नौटङ्की। ये नाट्यशालाएँ अपने जर्जरित रूप में हमारी जनता के हृदय में गत वैभव की स्मृति ताज़ी करती रहती हैं, उसको अपने अन्धकारमय, प्रताड़ित जीवन में प्रेम पालने को उत्प्रेरित करती हैं और छिछले-अश्लील मनोरञ्जन द्वारा उनके मानवी हृदय को गुदगुदा कर उनकी आध्यात्मिक क्षुधा को शान्त करती रहती हैं। इन नाट्यशालाओं तक आधुनिक जीवन की प्रकाश-किरणें नहीं पहुँचीं। यद्यपि ज़माना बदल गया, पर वे आज भी अकबर और राणा प्रताप के सामन्ती काल की मृत-श्वास भर रही हैं। इन नाट्यशालाओं में बड़े-बड़े सामन्तों, शूरमाओं, अवतारों के पराक्रम के दृश्य रहते हैं, उनके विरद् गाये जाते हैं—मज़दूर और किसान समझते हैं कि संसार से पराक्रम उठ गया; प्रजावत्सल, प्रजा की पुत्र-तुल्य रक्षा करनेवाले नरेश नहीं रहे, अतः प्रजा ग़रीब हो गई। इस प्रकार यह प्राचीन सामन्तों की कीर्ति-गाथा जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना को भी विकृत ढङ्ग से सन्तुष्ट करती है। वह साम्राज्यवादी शोषण से त्रस्त है, उसे नहीं चाहती; लेकिन यह दशा बदलेगी कैसे इसका उत्तर उसे भविष्य की आवश्यकताओं की ओर नहीं ले जाता बल्कि पुरातन के आदर्श-पूर्ण जीवन को पुनः पाने की टीस-भरी आकांक्षा पैदा कर देता है। फिर, नाट्यशालाओं में आधुनिक जीवन का उपहास भी किया जाता है, बी० ए० पास बीबी या विलायत से लौटे हुए बेटे की छीछालेदार होते तो सभी ने देखी होगी, किन्तु शिक्षा, मशीनों, स्त्रियों की स्वतन्त्रता आदि का मज़ाक भी उड़ाया जाता है। जनता समझती है कि चूँकि प्राचीन रहन-सहन, रस्म-रिवाज आचार-विचार नहीं रहे, बदल गये, इस कारण उसका जीवन इतना विषम और विषाक्त हो गया है। जनता आधुनिक जीवन और आधुनिक सभ्यता को दुश्मन की दृष्टि से देखने लग जाती है। और जब राष्ट्रीय-मज़दूर या किसान आन्दोलन का जाग्रत-सन्देश वह सुनती है तब इसी भाववस्तु में अपने भावी जीवन की कल्पना करने लगती है। लेकिन संगति नहीं बैठती, भावी-जीवन की कल्पना मूर्तिमान नहीं हो पाती। हो भी कैसे सकती है जब कि उसका जीवन एक तो वैसे ही विच्छिन्न है, उस पर ये नाट्य-शालाएँ, गाने की पुस्तकें और दूसरी एजेन्सियाँ धर्म और ईश्वर, वेद, क़ुरान और ऋषि-वाक्यों की आड़ लेकर उसमें जीवन-विरोधी विश्वास उत्पन्न करके उसके जीवन को और भी विच्छिन्न बनाती रहती हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन, मज़दूर-सङ्घों और किसान-सभाओं का इस जनता पर कितना भी प्रभाव क्यों न हो किन्तु इन नाट्यशालाओं तथा अन्य जीवन-विरोधी-विश्वास उत्पन्न करने वाली एजेन्सियों का भी कम प्रभाव नहीं है। हमने स्वयं देखा है कि दस-दस गाँव के बालक, जवान, बूढ़े पुरुष (और कभी-कभी स्त्रियाँ भी) जाड़े-पाले में ठिठुरते हज़ारों की तादाद में रामलीला, रासलीला, स्वाँग या नौटङ्की देखने को पहुँचते हैं। कौन शक्ति उन्हें वहाँ बरबस खींच ले जाती है? निस्सन्देह उनकी आध्यात्मिक क्षुधा, या कहिए कि जीवन की विडम्बनाओं को भूलकर कुछ मनोरञ्जक क्षण गुज़ारने की लालसा। ये क्षण उनके जीवन में बड़े क़ीमती होते हैं, इसलिए इन क्षणों में वे जो कुछ भी

देखते या सुनते हैं उनके मानस-पट पर उसकी मधुर-स्मृति अमिट प्रभाव छोड़ जाती है, उनकी भावनाओं को अपने अनुकूल बना लेती है। इन जन-नाटचशालाओं का यह प्रभाव (या दुष्प्रभाव) पड़ता है। इन एजेन्सियों द्वारा प्रतिक्रिया अपने छद्मवेश में जनता के मस्तिष्क पर आच्छादित हो जाती है और उसमें चेतना की रोशनी नहीं घुसने देती। हम लेखकों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है, क्योंकि अभी तक हम इस बात को ठीक तरह से नहीं समझ पाये हैं कि हमारी जनता के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन के वैषम्य में ज़हर की तरह घुल-मिलकर 'मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया' कितने सरल तथा निर्बोध रूप में उसे और भी खोखला और निस्पन्द बनाती जा रही है। कारण स्पष्ट है कि हमने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि जीवन की प्रत्येक करवट में एक बाह्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। इसी का सीधा परिणाम है कि जन-आधार पर किये गये कलाओं के सङ्गठन का विचार हमें आज भी आन्दोलित नहीं करता।

(२)

इस लेख में हमें अन्य कलाओं के सङ्गठन पर विचार न कर केवल नाटचकला पर ही विचार करना है। यह मेरा विश्वास है कि जनसाधारण तक कलारुचि पहुँचाने में नाटक ही सबसे ज़्यादा सहायक हो सकता है और प्रचार के साधनों में केवल नाटक या नाटचशाला ही सामूहिक प्रभाव डालनेवाला एक ऐसा साधन है जिस पर लेखकों का अधिकार हो सकता है; अन्यथा रेडियो, सिनेमा, प्रेस आदि अन्य सभी आधुनिक साधनों पर सरकार का नियन्त्रण है और उनका प्रयोग जनता की चेतना, उसकी कला या सौन्दर्य-भावना को परिष्कृत करने में कम किन्तु कुण्ठित करने में अधिक होता है। ये साधन साम्राज्यवादी-पूँजीवादी असत्य, सामाजिक दक़ियानूसीपन, जर्जर सांस्कृतिक रूढ़ियों तथा धार्मिक कठ-मुल्लापन को बना-सँवारकर, सुन्दर आदर्शवादी शब्दों के आवरण में ढँककर उसे सत्य का रूप देकर जनता के सामने पेश करते हैं। यह खोटा सिक्का बहुत दिनों से चल रहा है, चलता जा रहा है। नाटचशाला का भी इस कार्य के लिए प्रयोग किया जाता है। लेकिन नाटचशाला में खेले जानेवाले नाटक के लेखक पर कुछ दायित्व होता है, वह जनता और साहित्य की धारा से एकदम विमुख नहीं हो पाता, और अगर होता है तो उसके साहित्यिक जीवन का पौधा पनपने नहीं पाता। इसके अतिरिक्त नाटक का महत्त्व और भी कई दृष्टियों से बहुत ज़्यादा है। नाटचशाला द्वारा ही जनता से सजीव सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है, सिनेमा या रेडियो से नहीं, कम-से-कम अभी तो नहीं। सजीव पात्रों का अभिनय दर्शकों को ज़्यादा प्रिय लगता है और वे उसके द्वारा पात्रों के साथ एक सजीव सामीप्य भी अनुभव करने लगते हैं। बोले हुए शब्द में जादू की-सी शक्ति होती है, और जब नाटचशाला में स्त्री पुरुषों के सजीव कण्ठ से ही शब्द सुनने को मिलते हैं, उनके सजीव शरीर ही रूपक रचते हैं, तब दर्शक जनता उनके साथ इतने नैकटच का अनुभव करने लगती है, मानो पात्र और दर्शक दोनों एक विराट् रूपक में भाग ले रहे हों। इसीलिए योरप, अमेरिका या चीन के लेखकों ने अपने प्रचार और रचनात्मक कार्य में नाटचशाला को प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ इङ्ग-

लैन्ड, अमेरिका और चीन के उदाहरण यह बताने के लिए काफ़ी होंगे कि जन-नाट्यशालाएँ प्रचार और सांस्कृतिक उन्नति की कितनी प्रभाव-पूर्ण केन्द्र बन सकती हैं।

युद्ध छिड़ने से पहले इङ्गलैण्ड और अमेरिका के कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट तथा प्रजातन्त्रवादी लेखक युद्ध और फ़ासिज़्म के ख़तरे के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित हो गये थे। उन्होंने फ़ासिस्ट प्रतिक्रिया के प्रति जनता को सचेत करने के लिए नाटक को अपना मुख्य साधन बनाया, साथ ही परिपाटी के बोझ से दबे उसके मृतप्राय जीवन का उद्धार भी किया।

इङ्गलैंड में इब्सन और बर्नर्डशॉ के नाटकों ने रूपक शैली में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो किये थे, पूँजीवाद की धज्जियाँ तो उड़ायीं थीं, परन्तु वे मौजूदा संकट का कोई हल न पेश कर सके। इसके अतिरिक्त अन्य थियेटर व्यावसायिक दृष्टि से चलते थे। वे दृश्यों की तड़क-भड़क, प्रधान पात्र अथवा पात्री की वैयक्तिक प्रतिभा पर ही अधिक ज़ोर देते थे और उनका उद्देश्य धन कमाना अधिक, जीवन की अभिव्यंजना करना कम था। इसलिए वहाँ के प्रगतिशील लेखकों ने 'लेफ़्ट थियेटर' की नींव डाली। बाद में संयुक्त मोर्चे के दिनों में उस का नाम 'यूनिटी थियेटर' कर दिया गया। इस थियेटर में जो नाटक खेले गये उनमें ट्रिटियाशॅवका 'रोऽरचाइना', गोर्की का 'मदर', स्टीफ़न स्पेन्डर का 'दी ट्रायल ऑफ ए जज', क्लिफ़र्ड ऑडेट का 'वेटिंग फ़ॉर लेफ़्टी' आदि अनूदित तथा मौलिक नाटक प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों की यह विशेषता है कि इनके प्रधान-पात्र उच्चवर्ग के नहीं वरन् श्रमिकवर्ग के होते हैं। रंगमंच पर श्रमिक वर्ग का प्रवेश नाटकीय विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन नाटकों से कला में एक नये जीवन, एक नये सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। अमेरिका में क्रान्तिकारी नाटक की उन्नति एक दूसरे प्रकार से हुई। वहाँ पहले प्रचार-थियेटर की नींव पड़ी। छोटे-छोटे प्रचारात्मक, क्रान्तिकारी नाटक अभिनीत किये गये। इनमें जोश तो बहुत रहता था, लेकिन कला या अभिनय-कौशल कम। इसका कारण यह था कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वहाँ के क्रान्तिकारी थियेटर ने पूँजीवादी (व्यावसायिक) रंगमंच की शैली और वस्तु दोनों से अपने को मुक्त करना चाहा—मुक्त ही क्यों प्रतिक्रियावश उसकी शैली के सद्गुणों का भी बहिष्कार कर दिया। उसके संगठन कर्त्ताओं का विश्वास था कि एक क्रान्तिकारी थियेटर के अन्दर प्रचार वृत्ति की प्रधानता ही मुख्य चीज़ है और कलाहीनता तथा अभिनय की अकुशलता ही उसका विशिष्ट एवं स्वाभाविक गुण है। यह परिस्थिति अधिक दिनों तक न रह सकती थी, न रही, और वहाँ क्रान्तिकारी थियेटर में भी कला ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया। इस थियेटर ने हज़ारों मज़दूरों में नाटक देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी, मज़दूर-संघों से थियेटर का सम्बन्ध स्थापित कर दिया। वहाँ के क्रान्तिकारी थियेटर की एक विशेषता यह भी थी कि उसने ऐसे चलते-फिरते थियेटर स्थापित किये थे जिनमें रंगमंच की तड़क-भड़क नहीं रहती थी, केवल छोटे-छोटे व्यंग-प्रहसन खेले जाते थे, शिक्षित पात्रों की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी, साधारण मज़दूर ही कहीं भी इकटठे होकर अभिनय कर लेते थे। वैसे बड़े-बड़े नाटक थियेटर-हॉल के अन्दर ही खेले

जाते थे। इन नाटकों का प्रभाव सीधा और तीव्र होता था। इन नाटकों के कथानक मज़दूरों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले होते थे। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक लाउसन, डॉसन, पैसॉस, माइकेल गोल्ड, बेक्सले, पीटर मार्टिन, स्क्लार, क्लिफ़ॉर्ड ऑडेट्स आदि इन नाट्यशालाओं के लिए नाटक लिखने और उनका अभिनय करने में पूरी सहायता देते रहे हैं।

चीन में क्रान्तिकारी जन-नाट्यशाला का जन्म और विकास बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में हुआ। चीन एक कृषि-प्रधान देश है—अशिक्षित, पिछड़ा हुआ और अन्धविश्वासों में डूबा हुआ। उसकी समस्याएँ बहुमुखी है। लेकिन जापानी साम्राज्यवाद के आक्रमण ने वहाँ की सोयी हुई जनता में चेतना और आत्माभिमान की एक क्रान्तिकारी लहर दौड़ा दी, उसमें ऐक्य और संगठन पैदा कर दिया, और वह दैत्य की तरह आक्रमणकारी का मुक़ाबला करने के लिए उठ खड़ी हुई। इस कार्य में क्रान्तिकारी नाट्यशाला ने बड़ा सराहनीय हिस्सा लिया है। चीन की क्रान्तिकारी नाट्यशाला एक साथ ही आज जापान विरोधी भावना, शिक्षा, नवजाग्रति और संगठन की विद्युत-केन्द्र बन गयी है, जहाँ से आम जनता के हृदयों में आधुनिक जीवन की प्रकाश-रेखाएँ पहुँचायी जाती है और उनके जापान-विरोधी निश्चय को दृढ़ बनाया जाता है। इस समय चीन के सभी क्रान्तिकारी नाटकों का मौजूदा चीन-जापान युद्ध से ज़रूर सम्बन्ध रहता है, क्योंकि यही इस समय वहाँ की सबसे बड़ी वास्तविकता है। शहरों में कॉलेजों के प्रोफेसर, नाट्यकार, कवि, सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ इन नाटकों के लिखने और अभिनय करने में मदद दे रहे हैं, और गाँवों में नौजवानों की नाटक-मंडलियाँ जिन्हें चीन में Jen Min-kang Erh-Chii-She अर्थात् 'जनता की जापान-विरोधी नाटक-समिति' कहते हैं—ज़िले-ज़िले और गाँव-गाँव में क्रान्तिकारी नाटक खेलती फिरती है। शहरों के नाटकों में तो टिकट लगाया जाता है, और उसकी आय चीन के युद्ध-फण्ड में दे दी जाती है; लेकिन गाँवों में टिकट नहीं रहता। गाँवों के नाटकों में पर्दे वगैरह भी नहीं होते और वे मैदान में खेले जाते हैं। तीन घण्टे के प्रोग्राम में मुख्य नाटक के अतिरिक्त प्रहसन, व्यंग्य और क्रान्तिकारी नृत्य और संगीत भी रहता है। वहाँ 'आक्रमण', 'मंचूरिया-विजय' और '१८ सितम्बर में' आदि उपनाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके शीर्षक से ही पता लग जाता है कि चीन-जापान युद्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओं से उनका सम्बन्ध है। इनमें जापानी आक्रमण के असली दुष्परिणाम, जापानियों के पाशविक अत्याचार, चीनी जनता के ऐक्य और निश्चय के सुन्दर दृश्य रहते हैं। क्रान्तिकारी नृत्य इन नाटकों के प्रभाव को और भी बढ़ा देते हैं। लाल चीन में 'संयुक्त-मोर्चा नृत्य' और 'लाल मशीनों का नृत्य' बहुत प्रचलित है। इनमें जापानी आक्रमण के विरुद्ध जनता के संयुक्त मोर्चे और भावी लाल चीन में उद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि की कल्पना के दृश्यों का प्रदर्शन रहता है। इन नाटकों में निरर्थक बातें नहीं रहतीं, बल्कि चीनी जनता के मौजूदा जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातें होती हैं, जिनके द्वारा उसके हृदय में उठने वाले प्रश्नों और सन्देहों का सन्तोषप्रद उत्तर दिया जाता है; उसकी अकर्मण्यता, उसके अन्धविश्वासों

को तोड़कर उसे जनता के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के वास्ते लड़ाई के लिए तैयार होने को प्रेरित किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन नाटकों ने चीन की जनता को न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के एक भावी जीवन की कल्पना प्रदान की है। इन नाटकों में उच्च कला का अभाव रहता है, लेकिन उनकी कला इसी में निहित है कि वे आज चीन की विशाल मूक जनता की कल्पना में जीवन की सम्भावनाओं की एक नयी दुनिया बसा रहे हैं, उनमें आज़ाद रहने का निश्चय भर रहे हैं। चीन जिन परिस्थितियों में फँसा है उनमें एक ऊँची-से-ऊँची कला का लक्ष्य इससे ज्यादा ऊँचा नहीं हो सकता। यह बात नहीं है कि चीन के महान् कलाकार 'शाश्वत गीत' रचने के लोभ में इस महान् जागरण के प्रति उदासीन हों, या अशिक्षित ग्रामीणों के लिए उनकी ही भाषा में नाटक लिखने से विमुख होते हों। नहीं, ठीक इसके विपरीत चीन के महान् आलोचक और प्रसिद्ध लेखक इन नाट्य-समितियों के लिए नाटक लिखने में पूरा सहयोग दे रहे हैं।

संक्षेप में इन उदाहरणों से तीन बातें स्पष्ट हैं—पहली तो यह कि वहाँ जन-नाट्यशाला की उपयोगिता और महत्त्व के प्रति प्रगतिशील लेखक सचेत हैं और अपने-अपने यहाँ की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जन-नाट्यशालाओं का विकास कर रहे हैं; दूसरी यह कि इन जन-नाट्यशालाओं के नाटकों में राजनीतिक नाटकों की प्रधानता रहती है; तीसरी यह कि श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कलाकार और नाटककार इस प्रकार के नाटक लिखने में लज्जित ही नहीं होते वरन् पूरा उत्साह दिखाते हैं।

अन्य देशों की जन-नाट्यशालाओं के अनुभव को दृष्टि में रखकर अब हमें भारतीय रंगमंच की वर्तमान दशा और उसके भावी रूप पर विचार करना चाहिए।

प्राचीन भारत में नाट्यशाला का चाहे जो स्थान रहा हो, लेकिन आधुनिक युग में तो उसकी उपेक्षा ही की गयी है। वैसे बंगाल, संयुक्तप्रान्त, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा अन्य प्रान्तों में पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही रंगमंच स्थापित करने की कोशिशें हुई हैं किन्तु वे अधिक सफल नहीं हो सकी हैं—कम-से-कम वे एक जन-नाट्यशाला का निर्माण करने में एकदम असफल हुई हैं। इन रंगमंचों का उद्देश्य व्यावसायिक अथवा अधिक-से-अधिक समाज सुधार ही रहा है, उन्होंने कभी ग्रामीण जनता में जाग्रति और शिक्षा फैलाने का उद्देश्य सामने रखकर कार्य नहीं किया; इसी कारण वे टिकाऊ भी न हो सके और व्यावसायिक क्षेत्र की अराजकता के शिकार होते रहे। कहने का तात्पर्य यह कि ये सब रंगमंच जनता से 'प्राण-सम्बन्धित' न होकर नगरों के पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्यवर्ग की भावनाओं और विचारधाराओं के विज्ञापन केन्द्र बने रहे।

उदाहरण के लिए महाराष्ट्र को लीजिए, क्योंकि महाराष्ट्र में रंगमंच का विकास बंगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों की अपेक्षा ज्यादा हुआ था। वहाँ सन् १८८० में ही रंगमंच की स्थापना हो गयी थी और स्वर्गीय अन्ना साहब किर्लोस्कर की देख-रेख में पहले-पहल 'शकुन्तला' का अभिनय रंगमंच पर हुआ। उन दिनों समाज के आदर्शों के अनुसार स्त्रियों को रंगमंच से दूर ही रखा जाता था, अन्ध-विश्वास की पराकाष्ठा थी, अतः पुरुष

ही स्त्रियों का पार्ट भी अदा करते थे। जितने भी अभिनेता थे वे सब गायक होते थे, इस कारण नाटक में संगीत प्रधान था, अभिनय अथवा नाटक-कला एवं विचार श्रेष्ठता नहीं। किर्लोस्कर-संगीत-मण्डली, जो अब नाटक-मण्डली बन गयी थी, ख्याति प्राप्त कर गयी। स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक ने भी इस प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपना सह-योग प्रदान किया। इन नाटकों की नाट्यकला साधारण थी, छः-सात घण्टे में एक नाटक खेला जाता था, मेकअप साधारण होता था और लालटेनों और हन्डों की रोशनी होती थी। अन्ना साहब के बाद भाऊराव कोल्हटकर मण्डली के प्रधान हुए। अन्ना साहब के समय में जितने नाटक खेले गये उन सबके कथानक संस्कृत के नाटकों से लिये गये थ, किन्तु कोल्हटकर के समय में श्री गोविन्द वल्लाल देवल का प्रथम सामाजिक नाटक 'शारदा' अभिनीत किया गया। यह बाल-विवाह और धन की लिप्सा के विरुद्ध था। इसका यही महत्त्व है कि इसमें सबसे पहले समाज की समस्याएँ पेश की गयीं। इसके बाद श्रीकृष्णपाद कोल्हटकर आदि सामाजिक उत्थान के भावों से उत्प्रेरित नाटककार पैदा हुए और उन्होंने मदिरा पान, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह की समस्याओं पर नाटक लिखे। ये समस्याएँ हमारे मौजूदा समाज की समस्याएँ हैं; किन्तु इन नाटकों के पात्र, उनके चारों ओर का वातावरण महाराजों, महारानियों और राजप्रासादों से घिरा रहता था अर्थात् समाज के उन वर्गों से जो कि आधुनिक समाज के गलित अंग हैं। इस कारण कथानक में रोचकता लाने के लिए प्रेम और प्रणय का वातावरण भी खड़ा किया गया, किन्तु ये नाटक प्रभावशाली न हो पाये। दूसरे, जनता में नाटकों की कोई पैठ न थी, वे केवल मध्यमवर्ग के मनोरंजन के ही साधन थे। इस कारण उनका भावी विकास एक बड़े संकरे रास्ते से होकर गुज़र रहा था। यदि श्रीपाद कोल्हटकर के नाटकों को तड़क-भड़कदार सेटिंग, साधारण परिहास और कथानक में रहस्य-तत्व न होते तो भाऊराव कोल्हटकर की मृत्यु के बाद, जो स्त्री का पार्ट बड़ी खूबी से अदा करते थे, किर्लोस्कर संगीत-मण्डली बैठ जाती।

इसके बाद और भी कम्पनियाँ खुल गयीं, महाराष्ट्र-मण्डली और साहु-नगरवासी मण्डली इनमें से प्रमुख थीं। इनकी विशेषता यह थी कि ये गद्य में नाटक खेलती थीं। महाराष्ट्र मण्डली ऐतिहासिक नाटक खेलती थी और साहु-नगरवासी मण्डली अंग्रेजी नाटकों के आधार बनाये नाटक खेलती थी। महारष्ट्र-मण्डली का एक नाटक 'कीचक-वध', जिसके लेखक तिलक महाराज के शिष्य के० पी० खाडिलकर थे, सरकार ने ज़ब्त कर लिया था, क्योंकि उसमें राजनीतिक बातों का भी समावेश था। ये दोनों कम्पनियाँ क्रमशः सन् १९३० और सन् १९१७ में समाप्त हो गयीं।

इस बीच में दो महान् अभिनेता उत्पन्न हुए। एक केशवराव दाते और दूसरे किर्लोस्कर मण्डली के बालगन्धर्व। इन दोनों अभिनेताओं के कारण महाराष्ट्र के रंगमंच में एक नया जीवन आ गया। कुछ दिनों बाद बालगन्धर्व ने अपनी अलग कम्पनी खोली— गन्धर्व नाटक-मण्डली। खाडिलकर और रामगणेश गड़करी आदि नाटककारों के नाटक

अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये। बालगन्धर्व स्त्री का पार्ट करते थे। उन्होंने साड़ियाँ पहिनने के नये-नये फ़ैशन निकाले जो कि बम्बई के कुलीन समाज में प्रचलित हो गये। वे मेकअप के लिए पैरिस से सामान मँगाते थे, अतः वेष-भूषा और साज-सज्जा के कारण उनके नाटक उच्चवर्गों में इतने सर्वप्रिय हो गये कि उन्हें डेढ़ लाख रुपए की वार्षिक आय होने लगी।

सन् १९२९ से स्त्रियाँ भी रंगमंच पर आने लगीं। प्रारम्भ में वेश्याएँ ही अधिक होती थीं, शिष्ट समाज की एक-दो ही। अब नाटक स्त्रियों के बल पर चलाये जाने लगे, कलाकारों की ओर उतना ध्यान न दिया गया। इस कारण ये कम्पनियाँ एक-एक कर टूटने लगीं और जब सवाक् फ़िल्में चल निकलीं तो रंगमंच की रीढ़ ही टूट गयी। यहाँ तक कि दो-एक वर्ष के लिए बालगन्धर्व भी फ़िल्मों में काम करने चले गये। सन् १९३६ से वे फिर अपनी नाटक-मण्डली चला रहे हैं, लेकिन अब उसमें उतनी सफलता नहीं मिल रही।

यह तो महाराष्ट्र का हाल है जहाँ का रंगमंच एक क्रम-बद्ध इतिहास का दावा कर सकता है। हमारे हिन्द प्रान्त में तो रंगमंच के विकास के लिए इतना भी नहीं हुआ है।

महाराष्ट्र के रंगमंच के विकास और ह्रास का वर्णन पढ़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि——

(अ) रंगमंच उच्चवर्गों की रुचि और मनोरंजन का विचार कर उन्हीं वर्गों की विचारधारा के अनुकूल नाटक खेलता रहा;

(ब) आधुनिक जीवन की समस्याओं पर किसी क्रान्तिकारी सिद्धान्त का आधार लेकर उसने आक्रमण नहीं किया;

(स) उसका उद्देश्य व्यवसायिक था, सांस्कृतिक चेतना फैलाना नहीं;

(ड) उसके ह्रास का मुख्य कारण यह था कि उच्चवर्ग सवाक् चित्र-पट की ओर झुक गये, अतः रंगमंच का दर्शक-वर्ग उसके हाथ से निकल गया;

(ई) सवाक् चित्रपट ने रंगमंच से बाज़ी इस कारण मार ली कि रंगमंच में कृत्रिमता और व्यर्थ साज-सज्जा ही अधिक थी, कला अथवा जीवन की अभिव्यंजना कम। वह केवल अभिनेता-प्रधान था, ललित कलाओं के समन्वय का स्थान नहीं। सवाक् चित्रपट की खूबी यह थी कि वह उस रंगमंच की सस्ती ओर छिछली कला को उससे कहीं-ज़्यादा बड़े पैमाने पर दिखा सकता था, इस कारण रंगमंच के अस्तित्व की आवश्यकता न रही।

यहाँ पर इतने ब्यौरे में जाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि आजकल जो लोग भारतीय रंगमंच के पुनरुद्धार की चर्चा करते हैं, उनकी कल्पना में ऐसे ही वर्ग-रंगमंच की एक आदर्शपूर्ण तसवीर रहती है। मेरा विचार है कि इस प्रकार के प्रयत्न चाहे कुछ दिनों के लिए सफल हो जायें किन्तु वे एक स्थायी रंगमंच नहीं क़ायम कर सकते, और ऐसा सम्भव भी हो जाय तो वे जन-नाट्यशाला की नींव नहीं डाल सकते——ऐसी नाट्यशाला की जो जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हो। वे केवल व्यवसाय के क्षेत्र ही बन सकते हैं, अतः कला की उन्नति कहाँ तक कर सकते हैं यह संदिग्ध है।

इसलिए हम जिस जन-नाट्यशाला की कल्पना करते हैं वह पारसी कम्पनियों की

परिपाटी को लेकर नहीं चल सकती और न उच्चवर्गों की रुचि का विचार कर मानसिक-वेश्यालय का केन्द्र बन सकती है। उसे पूर्व-निर्दिष्ट जन-आधार पर ही खड़ा होना होगा और जन-संस्कृति को परिमार्जित और परिष्कृत कर उसे सौन्दर्य और सौष्ठव प्रदान करना होगा।

मेरी सम्मति में भारत की जन-नाटयशाला का नाम 'राष्ट्रीय जन-नाटयशाला' (People's National Theatre) होना चाहिए। भारत की सबसे बड़ी हक़ीक़त उसकी राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई है, इसलिए यहाँ की नाटयशाला 'राष्ट्रीय' होकर भी प्रगतिशील, क्रान्तिकारी हो सकती है। इस राष्ट्रीय जन-नाटयशाला की रूपरेखा क्या होगी, उसका संगठन कैसे होगा ?

मेरा अपना विचार है कि अभी हमें अपनी 'राष्ट्रीय जन-नाटयशाला' के दो भाग करने पड़ेंगे। एक नगरों की निम्न मध्यवर्गी जनता के लिए, दूसरी किसान-मज़दूरों के लिए, क्योंकि दोनों की समस्याएँ एक होकर भी दो भिन्न रूपों म हमारे सामने आती हैं। पहले हम किसान-मज़दूरों की नाटयशाला की रूपरेखा पर विचार करेंगे।

किसान-मज़दूरों की नाटयशाला का महत्त्व इस बात में निहित होगा कि वह किसान-मज़दूर जनता में केवल चेतना—वर्गचेतना—ही नहीं उत्पन्न करेगी वरन् उसके लिए एक शिक्षा का केन्द्र भी होगी। मैं ऊपर मौजूदा ग्राम्य-नाटयशालाओं का ज़िक्र कर चुका हूँ। रामलीला, रासलीला, स्वाँग, भड़ैती, नौटंकी आदि उनकी नाटयशालाएँ हैं। मेरा विचार है कि इनमें से नौटंकी का विकास कर हम उसे राष्ट्रीय नाटयशाला का रूप दे सकते हैं।

कुछ लोगों को नौटङ्की पर आपत्ति हो सकती है। क्योंकि इस समय वह कला की ही दृष्टि से निकृष्ट नहीं वरन् अन्य सभी दृष्टियों से दक़ियानूसी विचारों की पोषक और प्रतिक्रिया की संरक्षक है। किन्तु मेरी निश्चित धारणा है कि नौटङ्की में विकास किया जा सकता है, उसकी अभिनय-कला और रूपक-शैली में उन्नति की जा सकती है और प्रगतिशील-क्रान्तिकारी नौटङ्कियाँ लिखकर उनका अभिनय कराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मैं नौटङ्की के माध्यम द्वारा जन-नाटयशाला की रूपरेखा इसलिए भी बनाने के पक्ष में हूँ कि हमारे सामने इससे अधिक प्रभावशाली दूसरी शैली नहीं है। हम पूँजीवादी रङ्गमंचों का वर्णन पढ़ चुके हैं और उनकी सीमाओं को भी जान गये हैं। हमारे पास न इतने साधन हैं कि व्यावसायिक रङ्गमंचों की तरह वेश-भूषा और पर्दों पर पानी की तरह रुपया बहायें और न हमारे दर्शक ऐसे होंगे जो गद्देदार कुर्सियों पर बैठकर ही खेल देखना स्वीकार करें। किसान-मज़दूर जनता खुले मैदान में बैठकर ही देखती आयी है। फिर नौटङ्की में पर्दों की ज़रूरत नहीं पड़ती, मैदान में या एक शामियाने में चार-छः तख़्त बिछाकर या ऊँचे चबूतरे पर कपड़ा बिछाकर एक-दो गैसों की रोशनी में पूरा अभिनय हो जाता है। बाजे भी बहुत कम लगते हैं—पूरा आर्केस्ट्रा रखने की क़तई ज़रूरत नहीं—एक नगाड़ा, एक नगड़िया, एक जोड़ी तबला, हारमोनियम और मजीरा, बस। नौटङ्की की

पहुँच भी किसान-मज़दूर जनता तक बहुत ज़्यादा है। यह उन्हीं की चीज़ है और हमें जनता में विशेष कर उन्हीं कला-रूपों (art forms) का उपयोग करना चाहिए जो उसमें प्रचलित हैं, और जिनका उस पर प्रभाव है। राष्ट्रीय कला-रूपों में प्रगतिवादी विचार-वस्तु (content) ही किसी भी क्रान्तिकारी जन-जागरण का उद्देश्य और कार्य-क्रम होगा।

आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले नाटकों के लिए हमें ज़्यादा वेश-भूषा बनाने की भी ज़रूरत न पड़ेगी, इस प्रकार बहुत सस्ते में काम चल जायगा। इन जन-नाट्यशालाओं के लिए नौटंकियाँ किसान मजदूर के दृष्टिकोण से ही लिखी जानी चाहिएँ। उनमें किसान-मज़दूरों की मुसीबत, उनके दुःख-दर्द, उन पर होने वाले शोषण-अत्याचार, उनके संगठन-आन्दोलन-संघर्ष का चित्रण होना चाहिए। इसके साथ ही किसान-मजदूर-विरोधी शक्तियों—महाजन, ज़मींदार, कारकुन, पटवारी, अदालत, थानेदार, फोरमैन, मैनेजर, पूँजीपति और सरकारी अहलकार आदि—की हास्यास्पद व्यंगपूर्ण तसवीर खींचने के लिए हमें गाँवों में प्रचलित स्वाँग, विदूषक, भाँड, व्यंग, मुद्रा आदि का भी प्रयोग करना चाहिए। नौटंकियों को अधिक प्रभावोत्पादक एवं जनप्रिय बनाने के लिए हमें उनमें लोक-संगीत और लोक-नृत्य को भी स्थान देना आवश्यक होगा। किसान-मज़दूरों में विरहा, कजली, आल्हा, साखी, चौताल, पूर्वी, कबीर, होली, फाग, कवित्त, सावनी, चैती, बिरौनी, जुतौनी, बुओनी, कतकी, शहनाई, कहरवा आदि अनेक प्रकार के गीत प्रचलित हैं जिन्हें वे अनेक ढंग से गाते हैं। कई इनमें से सामूहिक ढंग से गाये जाते हैं। इन गीतों का उनके जीवन के विविध कार्यों से सीधा सम्बन्ध होता है, अतः किसी भी जन-नाट्यशाला में उनका प्रयोग महत्त्वपूर्ण होगा। इन्हीं गीतों के छन्दों में प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रगतिशील गीत लिखकर हम उन्हें रंगमंच से गा सकते हैं।

मथुरा ज़िले के प्रसिद्ध ग्राम-कवि श्री सात्यकि शर्मा ने कुछ क्रान्तिकारी चौमासे और बारहमासे लिखे हैं, जिनमें उन्होंने किसानों के अनुभवों, आशाओं और निराशाओं का मार्मिक चित्र खींचा है। फ़रीदाबाद के ग्राम-कवि-सम्मेलन में जब उन्होंने ये चौमासे-बारहमासे सुनाये तो किसानों पर उनका जादू का-सा प्रभाव पड़ा। अतः ग्राम-कवियों की सहायता से हमें ऐसे गीत लिखने-लिखाने चाहिएँ। हम पहले ही देख चुके हैं कि अभी तक हमारी मजदूर-किसान जनता में कविता-साहित्य ही प्रचलित है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ही दिनों में वे प्रगतिशील गीत उनकी ज़बान पर चढ़ जायेंगे।

इन गीतों के साथ ये लोग अनेक प्रकार के बाजे भी इस्तेमाल में लाते हैं, जैसे हुड़क, मृदंग, पखावज, ढोल, बाँसा, कड़ा चिकारा, तम्बूरा, रोशन चौकी, भाँझ, मजीरा, ताशा, तुरही, ढपला, खंजड़ी आदि। हम उनका भी प्रयोग कर सकते हैं। गाँवों में ये बाजे भी मिल जाते हैं, और उनके बजाने वाले भी। इन जनवाद्यों को एकत्र कर हम यदि एक जन-आर्केस्ट्रा की सृष्टि कर सके तो वाद्य-संगीत के विकास में एक बड़ा क़दम उठाएँगे। इसी प्रकार लोक-नृत्य का भी हम उपयोग कर सकते हैं। नाटक ही एक ऐसी कला है जिस में सभी ललित कलाओं का समन्वय होता है, अतः लोक-नृत्य, लोक संगीत, लोक-गीत

आदि से समन्वित जन-नाट्यशाला आज की नौटंकी की तरह छिछली कला का प्रदर्शन न करेगी।

जन-नाट्यशाला का दूसरा अंग वह होगा जिसके दर्शक अधिकांश में नगरवासी निम्न मध्यवर्ग या मध्यवर्ग के उदार विचार-सम्पन्न व्यक्ति होंगे। विद्यार्थी, वकील, डॉक्टर, दुकानदार आदि इसमें शामिल हैं। इनमें नौटंकी न प्रचलित हो सकेगी। इसलिए यहाँ की नाट्यशाला का बहुत कुछ रूप वही होगा जो कि इङ्गलैंड के यूनिटी-थियेटर का था। प्रारम्भ में यूनिटी-थियेटर में खेले गये नाटकों के आधार पर लिखे नाटक खेले जा सकते हैं। अन्यथा नगरवासी जनता की समस्याओं पर लिखे मौलिक नाटक ही खेल जाने चाहिएँ। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसान-मजदूर-जीवन की वास्तविकता उनमें दिखाई ही न जाय बल्कि आधुनिक समाज-व्यवस्था ने इस वर्ग के लोगों के लिए जो समस्याएँ उपस्थित करदी हैं——राजनीतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत——उनके प्रदर्शन की ही प्रधानता होनी चाहिए। जहाँ तक सेटिंग और मेक-अप का सम्बन्ध है वहाँ हमें सादगी से ही काम लेना आपेक्षित होगा।

इन नाटकों की शैली के बारे में हमें दो-तीन बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं। पहली यह कि हमें अपने नाटकों में 'क्लासिकी' शैली एकदम नहीं छोड़ देनी चाहिए। हाँ, नाटकीय संघर्ष का तरीक़ा बदल जायगा। यह एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से व्यक्तिगत संघर्ष न होगा और न यह संघर्ष मशीन-जनित आधुनिक संस्कृति को गर्हित-वर्जित साबित कर प्राचीन आर्य अथवा मध्यकालीन मुग़ल संस्कृति की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए नवीन और पुरातन में संघर्ष होगा। इन नाटकों में दो शक्तियों के परस्पर संघर्ष का चित्रण होगा : प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील। इस संघर्ष का एक सामाजिक उद्देश्य होगा, सामाजिक निश्चय होगा, और उसी के आधार पर संकट (crisis) का विकास होगा। किसी सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति का चित्रण करके ही यह संघर्ष दिखाया जा सकता है। व्यंग, विदूषक और प्रहसन इस संघर्ष के विकास में सहायक होंगे। इसलिए उनका प्रयोग इन नाटकों में रहेगा।

यह मोटे तौर पर हमारी जन-नाट्यशाला की रूपरेखा हुई। इसका निर्माण कैसे होगा, उसके लिए नाटक कहाँ से आयेंगे, अब यही सवाल रह जाते हैं। यह तो निर्विवाद है कि जन-नाट्यशाला का जो रूप हमने निर्दिष्ट किया है उसमें विश्वास रखने वाले व्यक्ति या संस्थाएँ ही उसका निर्माण कर सकती हैं। प्रगतिशील लेखक-संघ, विद्यार्थी-संघ, मज़दूर-यूनियन और किसान सभाएँ मिलकर इस सांस्कृतिक कार्य को उठा सकते हैं और एक राष्ट्रीय-जन-नाटक समिति (Peoples' National Dramatic Society) क़ायम कर सकते हैं जिसमें कवि, लेखक, नाट्यकार और संगठनकर्ता और प्रगतिशील विचारों के अन्य व्यक्ति रखे जायँ। इस नाट्यशाला के स्थापित करने और उसके लिए सारे उपकरण साधन जुटाने का भार इस समिति के ऊपर रहे। प्रारम्भ में किसी एक नगर और जिले में उसकी स्थायी रूप से स्थापना की जाय। उसके पश्चात् विभिन्न स्थानों के उत्साही

कार्यकर्त्ताओं और अभिनेता-अभिनेत्रियों का नाटयशाला-सम्बन्धी एक शिक्षा-शिविर खोला जाय। यदि एक नगर और एक ज़िले में यह योजना सफल हो गई तो हर जगह की जनता में जन-नाटयशाला के प्रति उत्साह उमड़ पड़ेगा और इसकी शाखाएँ आसानी से स्थान-स्थान पर खुल सकेंगी।

जन-नाटयशाला की स्थापना करना साधारण कार्य नहीं है। एक-दो नगरों और ज़िलों में ही उसे स्थापित कर सन्तोष नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम पहले ही देख चुके हैं कि जन-नाटयशाला को भारत के तीस-पैंतीस करोड़ किसान-मज़दूरों के आध्यात्मिक एवं मानसिक विकास का गुरुतर भार उठाना होगा, यदि हम वास्तव में उसे जन-नाटयशाला बनाना चाहते हैं। अतः प्रबुद्ध व्यक्तियों और प्रगतिशील संस्थाओं की शक्ति का प्रत्येक तोला उसके निर्माण में लगना चाहिए।

—फरवरी, १९३९

१६

मानव-आत्मा के शिल्पियों से---

(१)

दूर कहीं, शायद छावनी का सन्तरी अपने ओवरकोट के कालर को कानों तक खींचता हुआ बारह का घण्टा बजा रहा है, जिससे गहन रात की निस्तब्ध दिशाएँ गूँज गई हैं।

दिन भर नीले कोहरे की भीनी चादर से छनकर नीचे उतरी रेशम-सी मुलायम धानी रंग की धूप पहाड़ियों और मैदानों पर अलसाई-सी निश्चेत लेटी रही थी---उसमें रक्त को उत्तेजित करने वाली गरमी न थी, पर एक ठिठकी हुई मन्द सुनहरी स्मिति और आभा तो थी ही, जो नेत्रों को सुखद लगती थी।

शाम को भी ऊँचे हिम-शिखरों से उतर कर बोझल वर्फ़ानि बादलों ने घाटी पर अपना सघन वितान नहीं ताना और खुले आसमान से सितारों की सर्वज्ञ आँखें कोहरे की घनी चादर के आर-पार झाँकती रहीं। गोपादरी की सूच्याकार पहाड़ी के शिखर पर स्थित शंकराचार्य मंदिर का आकाशदीप निरावरण टिमटिमाता रहा, और तारों भरे आकाश की पृष्ठभूमि पर पहाड़ी का त्रिभुज काला और भीमकाय रूप धारण करता गया।

एक महीने से यहाँ के पहाड़, पेड़-पौधे और खेत अपना फूल-पत्तों का वस्त्राभरण उतार कर बरफ़ की शुभ्र, निर्मल चादर ओढ़ने के लिए सरनंगू खड़े हैं और कोहरे, पाले और शीतवायु के झकोरों से ठिठुर रहे हैं। औरतों ने खिजां के मौसम में सरदियों के लिए सुखाई मिर्चों और मछलियों की गुच्छियाँ बारजे से उठाकर कब से कमरों में टाँग दी हैं, जिन पर बुलबुलें फुदकती फिरती हैं। लेकिन वह स्निग्ध, दूध से धोई चाँदनी अभी तक जमीन पर आकर नहीं सोई, जिसकी पुरनम भरकती गोद में क्यारियों की मिट्टी के नीचे मुँह छिपाये पड़े गेहूँ, सरसों और अलसी के बीज प्रस्फुटित और अंकुरित होने के लिए वसन्त के सूरज की जीवनदायी किरणों का इन्तज़ार करते हैं। जिसके कोमल वक्ष पर अपने फटे सूती पैरहन के नीचे काँगड़ी उठाये ग़रीब कश्मीरी जनता के गुलाब की कली जसे सुन्दर बच्चे किलकारियाँ मारते हुए नंगे पाँव कुचालें भरते हैं, लोट-पोट होते हैं और अपने नन्हें-नन्हें हाथों से अपनी अटपटी, अबोध, सुकुमार कल्पना की विचित्र मूर्त्तियाँ बनाते हैं, और उनके उल्लसित गोरे-गोरे गाल सेव की तरह लाल हो जाते हैं! जब कमरे में बन्द होकर बैठना एक गुनाह लगता है और कुमारी के गात के समान कोमल और अछूते बरफ पर क्षितिज के ओर-छोर तक अपने पद-चिन्हों की अटूट पाँत अंकित कर देने की इच्छा

दुर्दमनीय हो जाती है; जब बाहर की पुरसकून, अथाह शान्ति मन पर उन्माद बनकर छा जाती है ! ···पर अभी तक बरफ़बारी नहीं हुई और घण्टे की टन-टन ने घोषणा करदी है कि पुराना साल बीत गया और अब नया साल शुरू हो गया है !

बीसवीं सदी के मँझधार में खड़ा आज मैं अपने उन असंख्य देशवासियों के, जिन्होंने अपने दीर्घ, कठोर जीवन की अनुभवी प्रौढ़ आँखों से पिछले पचास वर्षों के अविराम संघर्ष की विडम्बनाओं को देखा और झेला है––और उन असंख्य नौनिहालों के, जो पचास साल के बाद इस शताब्दी के अन्त पर मानव की अन्तिम विजय का उत्सव मनायेंगे––और अपने-आपके जैसे उन असंख्य नौजवानों के, जिन्होंने न शताब्दी का आरम्भ देखा और न अब उसका अन्त देखेंगे, पर जिन्हें अब तक विकट-संघर्ष करना पड़ा है और आगे भी बहुत संघर्ष करना है––मैं अपने उन असंख्य देशवाशियों के, जिनमें किसान हैं, मज़दूर हैं, विद्यार्थी हैं, निम्न-मध्यवर्ग के नौकरी पेशा अवाम हैं, कारीगर और दस्तकार हैं, छोटे-मोटे व्यापारी और दुकानदार हैं, प्रोफ़ेसर और अध्यापक हैं, डाक्टर और वकील हैं, समाज शास्त्री और वैज्ञानिक हैं, जो बंगाली या आसामी हैं, उत्कली या बिहारी हैं, कनारी या मलयाली हैं, तामिल या तेलुगु हैं, महाराष्ट्री या गुजराती हैं, हिन्दुस्तानी या राजस्थानी हैं, पहाड़ी या पंजाबी हैं, डोगरे या कश्मीरी हैं, बल्ती या लद्दाखी हैं; जो हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई हैं या मेरे सरीखे केवल मानववादी हैं; जो भौतिक साधनों के उत्पादक हैं या जो नैतिक और सौन्दर्य-मूल्यों के निर्माता हैं, जो मानव-समाज के मेमार हैं या जो मानव-आत्मा के शिल्पी हैं––मैं अपने इन असंख्य मेहनतकश देशवासियों के गरम-गरम हृदय की समवेत धड़कनें सुन रहा हूँ, और देख रहा हूँ, उनकी आँखों की वह मानव दर्प से पैनी दृष्टि जिसकी अथाह गहराइयों में निरंतर के संघर्ष, दुःख-दर्द, दमन, शोषण की यातनाओं का संवेदन है, और उनकी वह सहज स्नेहशील, हार्दिक चितवन जिसमें प्रिया के आलिंगन की मादक स्मृतियाँ अंकित हैं, शिशु की अस्फुट मुस्कान झूलती हैं, और एक दोस्त की सहानुभूति का अमृत है।

पिछले पचास वर्षों में दुनियाँ में या हमारे देश के जीवन में कितने परिवर्तन आये, मनुष्य की गुलामी को चिरंतन बनाने के लिए साम्राज्यों ने कितने भयानक प्रपंच रचे, कितने संहारकारी नरमेध कराये और इसके विपरीत देश-देश की जनता ने सजग होकर पूँजीवादी दासता की काल-रात्रि का अन्त करने के लिए कितने इन्क़लाब किये, कितना संघर्ष किया, कितने देशों में साम्राजियों को परास्त करके वह आज़ाद हुई, फिर उसने मानव-जीवन का कैसा और कितना पुनर्निर्माण किया––इस सारे घटना-चक्र का ब्यौरेवार लेखा-जोखा तैयार करने का अवकाश मुझे नहीं है। अपने देश के असंख्य जनों की ये आँखें और उनके हृदय की धड़कनें जो मैं देख-सुन रहा हूँ, बहुत संक्षेप में कहती हैं :

'इन पचास वर्षों में इन्सान ने अपनी आज़ादी हासिल करने के लिए जितनी क़ुर्बानी दी है, उतनी क़ुर्बानी अपने तीन-चार हज़ार साल के इतिहास में कुल मिलाकर भी नहीं दी। और इन पचास वर्षों में जनता ने अपने दुश्मनों पर जितनी महान विजयें प्राप्त की

हैं, उतनी महान विजयें भी उसने अपने इतिहास-काल में कभी नहीं प्राप्त कीं, जिससे जनता ही आज सर्वशक्तिमान है।···जनता आज अजेय है।'

इन तीन सरल वाक्यों में पिछले पचास वर्षों का सम्पूर्ण लेखा-जोखा है, जिसमें मानव-इतिहास की समस्त संघर्ष-वेदना, समस्त आशावादिता, संकल्प, विश्वास और आकांक्षा अंकित है।

'जनता आज अजेय है'—यह मनुष्य के रक्त-स्वेद से निर्मित सभ्यता-संस्कृति के संरक्षक, प्रहरी की गगन-भेदी ललकार है!

'जनता आज अजेय है'—यह दुनियाँ का आज सबसे बलशाली संगीत है, सबसे हसीन नग़मा है।

इसकी वरद-छाया में ही आज इन्सान के और तमाम हसीन नग़मे पलते हैं, फलते-फूलते हैं और जवान होते हैं—दुनिया का अमन; गुलाम क़ौमों की आज़ादी का संघर्ष; आज़ाद देशों में मानव-समाज का जनवादी नव-निर्माण; देश-देश की जनता की परस्पर दोस्ती, भाई-चारा, प्रेमभाव; मनुष्य की प्राचीन सभ्यता-संस्कृति की सजीव-सप्राण परम्पराओं की सुरक्षा; मानव-आत्मा के वर्तमान शिल्पियों द्वारा नई कला, संस्कृति, साहित्य और जीवन-मूल्यों का नव-नव निर्माण; जाति-धर्म, रंग-नस्ल, छूत-अछूत के अमानवीय, फूट और कलह पैदा करने वाले भेद-भाव मिटाकर पारस्परिक सहयोग, सहिष्णुता और बराबरी के मानवीय सिद्धान्तों पर आधारित जन-जन की एकता; इन्सान-दोस्तों का आदर-सम्मान, बुज़ुर्गों का आराम, माताओं का वात्सल्य, ललनाओं की मांग का सिंदूर, बच्चों की पाठशाला, किसानों की खेती, मज़दूरों का कारखाना, कलाकार का स्टूडियो, वैज्ञानिक की प्रयोगशाला, कवि के मार्मिक गीत, प्रेमियों के सुख-सपने, दोस्त की वफ़ादारी—एक सच्चे मानव समाज के मानवीय समाज-सम्बन्ध, मानवीय जीवन-मूल्य, मानवीय विकास-पथ—कितने महान, कितने हसीन नग़मे हैं ये, जिन्हें आज की जागरूक अजेय जनता अपना अतुल रक्त-दान देकर परवान चढ़ा रही है!

रक्त-दान देकर इसलिए कि अभी दुनिया में चन्द साम्राजी, जंगबाज़, मौत के व्यापारी धनकुबेर भी हैं, जो इन हसीन नग़मों के दुश्मन हैं—जो मनुष्य-मात्र के दुश्मन हैं; मनुष्य के परिश्रम, मनुष्य के निश्छल प्रेम, मनुष्य के अद्भुत सौन्दर्य, मनुष्य के गंभीर सत्य और मनुष्य के गर्वीले स्वाभिमान के दुश्मन हैं; जो मनुष्य की संस्कृति, मनुष्य के स्वतन्त्र विचार, मनुष्य की कविता, मनुष्य के शिल्प, मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान के दुश्मन हैं—संक्षप में जो इन्सान को इन्सान बनाने वाली हर चीज़ के दुश्मन हैं, जो क़ब्रिस्तानों की शान्ति के गाहक हैं और श्मशान की धधकती चिताओं की लपटों से अपने नेत्र शीतल करते हैं। ये लोग यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि 'जनता आज अजेय है', क्योंकि उन्होंने सदियों से जनता को भेड़-बकरी की तरह हाँका-दुत्कारा है। ये सर्व-ग्रासी, सर्व-भक्षी दानव केवल सत्य न्याय को ही सच्चा न्याय मानते रहे हैं और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' को ही सबसे ऊँचा नैतिक-सिद्धान्त समझते आए हैं। मनुष्य की आह-कराह, हाय-

चीत्कार सुनने के शौकीन उनके कान, 'जनता आज अजेय है' जैसा नये मानव-सम्बन्धों की रागिनी का उत्प्रेरक संगीत गवारा नहीं कर सकते—और वे आज जंग की तबाहकारियों में इस हसीन नग़मे को ग़र्क कर देने पर तुल गये हैं। हर देश में इस नग़मे के इर्द-गिर्द मौत का घेरा डाला जा रहा है, फ़ितने उठाये जा रहे हैं, ज़हर उगला जा रहा है। एटम बमों की बारिश से इन्सान की नस्ल को ही नेस्तनाबूद कर देने की हौसलाशिकन धमकियाँ दी जा रही हैं।

लेकिन जंग में लड़ने के लिए 'लोग' चाहिए, एक दो नहीं, लाखों करोड़ों। और 'लोग' ही आज सचेत हो गए हैं और बिना जाने समझे, केवल फ़र्मान सुनकर ही कटने-मरने को तैयार नहीं हैं। लोग आज जंगबाज़ों से पूछने में समर्थ हैं कि उन्हें किस बात के लिए अपना क़ीमती ख़ून बहाने को कहा जाता है?

यह बहुत टेढ़ा सवाल है। निश्चय ही साम्राज्यवादी डंके की चोट पर अपने मानव-द्रोही उद्देश्यों का ऐलान करके, अपने लिए कहीं भी जनता का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकते। सचेत जनता मानवीय उद्देश्यों और लक्ष्यों के लिए ही अपना बलिदान देती है। अतः जनता को अँधेरे में रखने के लिए साम्राज्यवादी उद्देश्यों को महान जनवादी लक्ष्यों की वर्दी पहनाई जाती है। "दुनिया की क़ौमों की आज़ादी", "जनवादी सामाजिक जीवन", "पाश्चत्य संस्कृति" और "विश्व-शान्ति" की रक्षा का नारा देकर हथियार उठाने के लिए जनता को ललकारा जाता है। निस्सन्देह ये महान लक्ष्य हैं, परन्तु दुर्भाग्य से साम्राज्यी उद्देश्यों पर जनवादी लक्ष्यों की वर्दी फिट नहीं बैठती, क्योंकि यह उसका असली लिबास नहीं है, और ट्रूमन और अचेसन जितनी चाहे वाक-चातुरी क्यों न दिखायें, उनके उद्देश्यों की असलियत अपना विकराल सर्वभक्षी 'सुरसा-रूप' छिपा नहीं पाती और विश्व की जनता को उत्तरोत्तर सावधान करती जाती है। जनता की यह जागरूकता ही साम्राज्य-वादियों को अपने कुटिल उद्देश्यों की पूर्ति के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट नज़र आती है, जो हर दिशा से बढ़कर उनके हाथ थाम लेती है। इस रुकावट को हटाये बग़ैर रेडियो से ज़हर में बुझे आतिशी शब्दों के गोले दागे जा सकते हैं, पर हवाई जहाज से एटम बम नहीं गिराये जा सकते। फलतः जनता की जागरूकता ख़त्म करने के लिए लेखकों और कला-कारों को बड़े-बड़े प्रलोभन देकर ख़रीदा जा रहा है। अमरीका में आज क्या हो रहा है, यह किसी भी विचारशील व्यक्ति से छिपा नहीं है।

दो-तीन दिन पहले का अख़बार मेरे सामने है, जिसमें प्रकाशित एक ख़बर बताती है कि वहाँ के मनोवैज्ञानिकों ने नई पुस्तकें तैयार की हैं, जिनके द्वारा बच्चों को अब नये ढंग से वर्णमाला सिखाई जायेगी। अर्थात् 'ए' से 'एटम' 'बी' से 'बम' और 'सी' से 'सिविल डिफेन्स' पढ़ाया जायेगा। और इनकी तशरीह करते समय बताया जायेगा कि 'एटम बम' एक आतिशी बम है जो हवाई जहाज़ से गिराया जाता है और उससे बच्चे-बूढ़े-जवान सभी मर जाते हैं और मकान तबाह हो जाते हैं। और 'सिविल डिफेन्स' के मानी यह हैं कि जैसे ही 'सायरन' (भोंपू) बजे वैसे ही बच्चों को पेट के बल चलकर पास की खन्दक़

या 'शेल्टर' में घुस जाना चाहिए नहीं तो उनके चिथड़े-चिथड़े उड़ जायेंगे ! आगे के अक्षर ख़बर में नहीं दिए हैं । सम्भवतः 'ई' से 'एनीमी' (दुश्मन), 'एफ' से 'फाइट' (लड़ या लड़ना); 'एम' से 'मर्डर' (हत्या करो या करना), 'आर' से 'रशियन' (रूसी) 'एस' से 'स्ट्रैन्गल' (गला घोंट दो या गला घोंटना)—कुछ ऐसी ही हौलनाक तशरीहें होंगी ! और सम्भवतः अबोध शिशुओं को इन वस्तुओं और क्रियाओं से परिचित कराने के लिए 'शिक्षा-प्रद' फिल्मों का प्रदर्शन भी साथ-साथ चलेगा ! इन सब बातों का अनुमान कर लेना अवास्तविक न होगा ।

मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज वृत्तियों, आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय, संस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निर्देश करना मनोविज्ञान का काम है । परन्तु ये मनोविज्ञानिक !

इन लकड़बग्घों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इन्सान का स्वाभिमान गवारा नहीं कर सकता । भय, हिंसा, घृणा, हत्या, अपहरण, बलात्कार, जाति-द्वेष, छल, कपट, अहंकार आदि पाशविक वृत्तियों और कृत्यों को मनुष्य-मात्र की सहज-वृत्तियाँ और वांछित कृत्य बनाने का स्वप्न देखने वाले, केवल अमरीका के ही नहीं, वरन् जहाँ-जहाँ साम्राजियों के चरण जमे हैं, वहाँ के भी तमाम लोगों को हिंस्र, फाशिस्त दरिन्दों की जाति के रूप में तबदील कर देना चाहते हैं, और उनके इस अन्तर्राष्ट्रीय दानवी षड्-यन्त्र की आज कोई सीमा नहीं । मानवीय विचार, नैतिक मर्यादा, मानवीय भाव, सांस्कृतिक परम्परा, समाज सम्बन्ध, कला, दर्शन, विज्ञान—आज कोई चीज़ भी तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नहीं है । मानव-आत्मा और मानव-विवेक की हत्या करके वहाँ पर एक विक्षिप्त, नरभक्षी कुम्भकरण को जगाना आज उनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है । उनका दुःस्वप्न कभी भी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है । परन्तु जीवन को ख़तरा तो है ही ।

(२)

बीसवीं शताब्दी के मध्य लड़ा जाने वाला 'शान्ति' और 'युद्ध' की शक्तियों का यह 'विश्व-व्यापी-देवासुर-संग्राम' मनुष्य के भाग्य का अन्तिम निर्णयकारी संग्राम है ।

इस गम्भीर और नाज़ुक मौके पर मैं अपने देश के तमाम जनवादी लेखकों, विशेष-कर हिन्दी लेखकों से—उनमे जो प्रगतिशील लेखक आन्दोलन में भाग लेते रहे हैं, और उनसे भी जो इस आन्दोलन के कभी हमदर्द थे, पर आज नादान साथियों के उच्छृङ्खल और अप-मानजनक व्यवहार से खिन्न होकर स्वयं दूर हट गये हैं, या हटा दिये गये हैं, या जो अनेक छोटे-मोटे सैद्धान्तिक विरोधों के कारण जानबूझ कर इस आन्दोलन से अलग रहे हैं—आज मैं एक मार्क्सवादी प्रगतिशील लेखक की हैसियत से आप सब बुज़ुर्गों और साथियों से बहुत कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, और आपसे बहुत कुछ सुनना चाहता हूँ, क्योंकि 'मानव आत्मा के शिल्पी' होने के नाते 'शान्ति' और 'युद्ध' की शक्तियों के इस विकट संघर्ष में हम में से कोई भी तो तटस्थ नहीं है । फिर हम एक-दूसरे से दामन खींचकर क्यों बैठे

हूँ ? यह स्वयं एक गम्भीर परिस्थिति है । ऐसे समय स्पष्ट निवेदन न करना मानव-द्रोह होगा, क्योंकि तब हमारे दिलों में सन्देह और मनोमालिन्य, अनादर और अविश्वास के घातक कीटाणु छिपे-छिपे पलते रहेंगे, और मेरी बातों में परिस्थिति की गम्भीरता का आग्रह न होकर केवल शिष्टाचारी आडम्बर होगा । स्पष्ट बातें करके मैं आपमें से किसी का दिल नहीं दुखाना चाहता, बल्कि आपके उस मानवीय विवेक को जगाना चाहता हूँ, जो कतिपय साथियों की क्षुद्रताओं और संकीर्णताओं से क्षुब्ध और आहत होकर स्वयं भी क्षुद्र और संकीर्ण होता जा रहा है और हमारे बीच अलंघ्य दीवारें खड़ी कर रहा है। निश्चय ही शिष्टाचारी आडम्बर या कुओ० मो० जो के 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' संबंधी लेख का अनुवाद छाप करके रस्म अदायगी के रूप में अपनी 'असंगतियों' का उड़ता-उड़ता हवाला दे देने मात्र से ये दीवीरें नहीं गिरेंगी । इसके लिए ज़रूरी है कि हम अपने गिरेबान में मुँह डालकर देखें, ताकि व्यक्तिगत द्वेष, विवेकहीन आक्रोश, और क्षुद्र अहंकार हमें फिर ऐसा संकीर्ण मतवादी न बना दे कि हम मूल बातों की उपेक्षा करके सिर्फ एक-दूसरे के मुख पर कालिख पोतना ही अपना परम क्रान्तिकारी कर्त्तव्य समझ बैठें । वर्तमान संघर्ष में हम लेखकों का सामाजिक दायित्व बढ़ गया है तो यह भी साफ़ है कि साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में 'नौ कनवजिओं के तेरह चूल्हे' बनाकर हम इस महान दायित्व को पूरा नहीं कर सकते । इसके लिए ज़रूरी है कि इन चूल्हों के इर्द-गिर्द खिंची कल्पित भेद भाव की लकीरों को लांघकर हम मुक्त-हृदय से एक-दूसरे के निकट आयें, एक-दूसरे को समझें, एक-दूसरे के कृतित्व का आदर-सम्मान करें, एक-दूसरे की ईमानदारी पर भरोसा रखकर ही केवल रचनात्मक आलोचना-प्रत्यालोचना करें और सद्भावना से ही विचारों का आदान-प्रदान करें, एक-दूसरे की सूझ-बूझ से लाभ उठायें, एक-दूसरे के हमदर्द और हमनवा बनें और इस महान दायित्व का भार उठायें, 'अमन, आज़ादी और जम्हूरियत' के इस महान संघर्ष में एक-दूसरे से हम-क़दम होकर शाना-ब-शाना आगे बढ़ें ।

यह एक लम्बा, दुखदायी प्रसंग है । तीन साल से ज़्यादा हो गये, तबसे मैं काश्मीरी जनता की सांस्कृतिक शक्तियों के संगठन में इतना अधिक व्यस्त रहा हूँ कि अपने साहित्य की बहसों में भाग लेने का मुझे अवकाश नहीं मिला है । इस बीच दुर्भाग्य से 'प्रगतिशील लेखक आन्दोलन' में 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' (Vulgar Sociology) के समर्थक साथियों का बोल-बाला रहा है, जिन्होंने साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में बुद्धि-विवेक, वास्तविक जीवन के अनुभव और सिद्धान्त की मर्यादाओं को तिलांजलि देकर जो अकाण्ड-ताण्डव रचा है, उससे मैं अपरिचित नहीं हूँ और मुझे मालूम है कि इससे न केवल प्रत्येक विचारशील लेखक और व्यक्ति तिरस्कृत और अपमानित महसूस करता है, बल्कि मार्क्स-वाद और जन-हित को भी अपार क्षति पहुँची है । अपने कृत्यों के लिए उन्हें आज या कल प्रगतिशील भारतीय जनता और उसकी विभिन्न भाषाओं के साहित्य और हमारे इतिहास के सामने स्वयं उत्तरदायी बनना पड़ेगा, क्योंकि इनमें से कोई भी खोट और असत्य को अधिक समय तक न प्रश्रय दे सकता है न 'क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात' वाली

उक्ति के अनुसार विग्रहकारी 'उत्पात' के प्रति क्षमाशील ही बना रह सकता है, क्योंकि मनुष्य के इतिहास को प्रगति करना है। अतः इन साथियों की गुमराहियों से उत्पन्न दुष्परिणामों को जाँचना सार्थक होगा, ताकि उन्होंने मार्क्सवाद और साहित्य के पथ में जो विषैले कांटे बिछाये हैं, उनको बीनकर फेंक दिया जाये और इसको पुनः तमाम जनवादियों के मिलन और संघर्ष पथ के रूप में प्रशस्त किया जाये।

इतिहास की पृष्ठ-भूमि में रखकर 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' की जन-संस्कृति विरोधी विचारधारा का हर पहलू से विवेचन ज़रूरी है, परन्तु यहाँ पर ऐसा करना विषयान्तर होगा। यहाँ मैं केवल इसके कतिपय परिणामों का उल्लेख करके सावधान कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।

चार साल पहले 'साहित्य की परख' लेख में मैंने प्रगतिवाद के नाम पर डा० रामविलास शर्मा और अमृतराय द्वारा प्रतिपादित 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखा था कि इन दोनों साथियों ने "···व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामन्ती संस्कारगत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, विद्रूपों और उपदेशों को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है,"···"अपने दृष्टिकोण की विसंगतियों और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज में साम-दाम दंड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारों की झड़ी भी लगाई है और अन्त में मार्क्सवाद की अज्ञानतावश कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने में अपने को असमर्थ पाकर—'विजयी-विश्व तिरंगा प्यारा को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा?'—इस प्रकार की कटूक्तियों के सहारे राष्ट्रीय अवसरवादिता (chauvinism) को ही साहित्य के मूल्य निरूपण का चरम सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखकों और 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी लखकों की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते है, क्योंकि वे जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मापदण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक, ये मापदण्ड बदलते जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश की तीव्र गति से बदलती हुई परिस्थिति के साथ-साथ भी इन मापदण्डों को बदलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक जो कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरन्त प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्तक था, इनकी दृष्टि में एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।"

गत चार वर्षों में इन साथियों ने दायें बाज़ू से छलांग लगाकर बायें बाज़ू तक पहुँचने में चाहे जैसी कलाबाज़ी दिखाई हो; 'तिरंगे झण्डे' को अकस्मात् 'तिरंगे-कफ़न' बनाकर शब्दों का तिलिस्मी हेर-फेर करने में एक ताश-तराश का-सा अद्भुत कमाल भी हासिल कर लिया हो; अपने साहित्य-संस्कृति तथा जनता-विरोधी मन्तव्यों को ही मार्क्सवादी अतः जन-हितकारी साबित करने के लिए मार्क्स-लनिन-स्टालिन को बात-बात पर गवाह

के रूप में अपने अष्टावक्र दिमागी चौखटे में जबरन ला खड़ा कर 'सत्य' से 'असत्य' को प्रत्यक्षतः प्रमाणित भी करा लिया हो, पर उनके साहित्यिक कृतित्व का परिणाम असलियत को झुठला नहीं सकता था। इतना ही नहीं, जो बात चार वर्ष पहले ही उनकी रचनाओं से सिद्ध थी, उसे आज इतिहास ने भी सिद्ध कर दिया है। उक्त निबन्ध में इलाचन्द्र जोशी के 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' और रामविलास-अमृतराय के 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' वाले दृष्टिकोणों में आन्तरिक साम्य प्रमाणित करके जिस 'मात्रा और दिशाओं के भेद' की ओर संकेत किया गया था, उसे इतिहास ने इस प्रकार उघाड़ कर रख दिया है कि इलाचन्द्र जोशी शब्दों से साम्राज्यवादियों का समर्थन करते रहे हैं तो ये साथी अपने व्यवहार से जन-शक्तियों को कमजोर करके साम्राज्यवादियों के हाथ मज़बूत करते आये हैं। नाक चाहे सामने से पकड़िये, चाहे सिर के पीछे से हाथ घुमा कर—बात एक ही है, श्वास दोनों तरह बन्द होता है। इन साथियों ने उस चेतावनी से कोई सबक़ सीखना तो दूर, उल्टे 'मार्क्सवाद का दुश्मन' 'जनता का दुश्मन' 'इसका दुश्मन' 'उसका दुश्मन' 'सब का दुश्मन' का शोरगुल उठाकर शिवदानसिंह चौहान को साहित्य की दुनिया से ही देशनिकाला देने का षड्यन्त्र रचा और इस 'सत्य-कथन' पर चुपचाप कुण्डली मारकर बैठ गये। ये दोस्त अपने क्षुद्र अहंकार को फुला-फुलाकर इतने बौराये कि दोस्त-दुश्मन, भले-बुरे की तमीज़ करना भूल गये, और उन्होंने जनून में भरकर गाली-गलौज, धमकियों और अनर्गल प्रलापों से ऐसा दम घोंटने वाला विषाक्त वातावरण पैदा किया कि उसमें जन-जीवन और साहित्य के वास्तविक प्रश्नों पर रचनात्मक दृष्टि से विचार करना दुर्लभ हो गया।

दूसरी तरफ, वास्तविकता का एकांगी, पिष्टपेषणकारी, उथला-पुथला, वस्तु-सत्य के गम्भीर वेदन से अछूता, जीवनानुभव से असंगत, भाव-रूप-रंग-हीन, विलावस्ता चित्रण करके उन्होंने केवल कुघड़, 'घासलेटी' साहित्य पैदा किया और बड़े-बड़े जनवादी सिद्धांतों की चित्ताकर्षक तहों में लिपटी, पर वस्तुतः रुचि-वैचित्र्यवादी, अनैतिहासिक, अतः अवसरवादी, प्रगतिवाद-विरोधी और सिद्धान्तहीन आलोचा ही लिखी।

मैं स्वयं क्षुब्ध हूँ, क्योंकि इन साथियों की किस रचना को उठाकर विश्वास से कहूँ कि इसमें मेरे देश का जन-जीवन मूर्त-सम्पूर्ण-सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है, इसे साहित्य में गौरवशाली स्थान मिलेगा? किस लेख को पढ़कर बताऊँ कि इसमें साहित्य और समाज की समस्याओं का हमारे देश की यथार्थ परिस्थितियों की पृष्ठभूमि को सामने रखकर वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और वह किसी लेखक की रचना या साहित्यिक विचार-धारा के कलागत-सामाजिक मूल्य को समझने में सहायक होती है? किस वस्तुगत आधार पर विश्वासपूर्वक कहूँ कि पिछले तीन-चार वर्षों में इन साथियों की कविताओं और कहानियों में कहीं भी वास्तविक जीवन का स्पर्श है, जो उनकी रचनाओं को कलात्मक बनाता हो, जिनसे जन-रुचि का परिष्कार होता हो, जो मानव-मन को उन्नत और उदात्त बनाती हो, जो जनता को अपने जीवन की वस्तु-स्थिति से परिचित कराके संघर्ष-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हों? कैसे कहूँ कि उनकी आलोचनाओं ने लेखकों को अपने सामा-

जिक दायित्व के प्रति सजग करके उन्हें एकता के सूत्र में बाँधा है ? किस बुनियाद पर दावे करूँ कि उन्होंने अपनी रचनाओं और लेखों से पिछले पाँच-सात वर्षों में मानव-संस्कृति में रत्ती बराबर भी संवृद्धि की है ?

इसके विपरीत, मार्क्सवाद और वर्ग-युद्ध के नाम पर उन्होंने 'जन-साहित्य और संस्कृति' के निर्माण की समस्या का समाधान करने के लिए व्यवहारत: जिस नीति को चलाया है उसका सार यह है कि कला की कलात्मकता, इतिहास की ऐतिहासिकता, जीवन-वास्तव की वास्तविकता और विज्ञान की वैज्ञानिकता से हमें आज प्रयोजन नहीं, क्योंकि हम जन-क्रान्ति में लगे हैं ! यह मार्क्सवाद नहीं, कोरा अबुद्धिवाद और अवसर-वाद है।

लोक-प्रिय जन-साहित्य के नाम पर और जनता की अशिक्षा और अज्ञानता की दुहाई देकर उन्होंने 'श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य' का प्रश्न उठाने वालों को 'शाश्वतवादी', 'रूपकवादी' आदि घोषित किया है; लेखकों को अपनी 'प्रतिभा' अर्थात् 'वस्तु-सत्य की संवेदनशीलता' का हनन करके थोथे किताबी ज्ञान के आधार पर प्रेरणाहीन, निष्प्राण तुकी-बेतुकी रचनाओं में राजनीतिक इश्तहार लिखने पर विवश किया है और इन रचनाओं का खूब ढोल पीटा है। पर जनता ग़रीब को इन 'जन-कवि' नामधारी महारथियों के हाथों भी ओस चाटकर ही अपनी साहित्यिक प्यास बुझानी पड़ी है।

प्रगतिशील लेखक संघ को अपनी साहित्यिक गुटबाज़ी का अखाड़ा बनाकर उन्होंने पूरे जासूसी अन्दाज़में हर मास और हर पखवारे प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, जनवाद आदि के दुश्मन लेखकों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ तैयार की हैं, उन पर 'कड़ी निगाह' रखने के लिए बाक़ायदे नोट किया है कि अमुक ने किस दफ़्तर में नौकरी पा ली है, किस प्रकाशक के यहाँ किताब छपा ली है और किसके यहाँ उठक-बैठक जमा ली है, और अन्त में अपने 'वैज्ञानिक अनुसन्धान' मे पूरी तरह सन्तुष्ट होकर कि उनके गुट के दोस्तों के अलावा और सारे लेखक मार्क्सवाद और जनता के दुश्मन हैं, उन्होंने बड़े गर्व-स्फीत स्वर में 'राहुल सांकृत्यायन, सुमित्रानन्दन पंत, 'अज्ञेय' 'दिनकर', हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, नरेन्द्र शर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बच्चन, उदयशंकर भट्ट, देवेन्द्र सत्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवदानसिंह चौहान आदि-आदि के नाम गिना कर इन जन-द्रोही मुजरिमों के गलों में तख्तियाँ लटकाई हैं, जिनमें से किसी पर लिखा है 'टाटा-बिड़ला का एजेन्ट', किसी पर 'पूँजीपतियों का दलाल' किसी पर 'ईमानफ़रोश' किसी पर 'दैत्य' और किसी पर 'दानव' ! इन बेचारों को अन्त में सज़ा क्या सुनाई जायेगी, इसका तो अनुमान ही लगाया जा सकता है, परन्तु एक नोटिस में दी गई फ़ाश्ती धमकी के आधार पर इतना तो निश्चित है कि "सब ऐसों को ठीक करेंगे मार-मार कम्युनिस्ट !" साहित्य की परम्परा के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का प्रदर्शन करने के लिए ये साथी इस बीच महमूद गजनवी और काश्मीर के सिकन्दर बुत-शिकन की धर्मान्धता को भी मात देने वाले दर्प और दम्भ से चूर होकर साहित्य-मन्दिर की तमाम प्रतिष्ठित, सजीव प्रतिमाओं में से किसी को 'लतियाते', किसी को 'धतियाते'

किसी की 'बखिया उधेड़ते' किसी को 'खदेड़ते', बस अपनी पहलवानी गदा घुमाते फिरे हैं, ग़रज़ यह कि उन्होंने बड़ों-बड़ों के मान चूर कर दिये हैं, बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ खंड-खंड करदी हैं; जो बची हैं उनमें से कुछ मुँह छिपाकर 'औंधी पड़ी' हैं, कुछ 'आत्म-हत्या' करने वाली हैं, कुछ अपनी पुस्तकें पेट से बाँधकर समुन्दर में छलांग लगाने का मौक़ा तलाश कर रही हैं। जो भी हो, यहाँ तो बारिश के बिना ही 'छुद्र नदी भरि चलि इतराई' का दृश्य है और कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के लिए मैदान साफ किया जा रहा है। पर यह मार्क्सवाद नहीं विशुद्ध फ़ाश्ती-भावना का अंकुरित रूप है।

भाषा के प्रश्न पर भी 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के इन साथियों ने अपने खोखले किताबी ज्ञान का पाण्डित्य प्रदर्शन करके प्रगतिशील लेखक आन्दोलन से एक ऐसी अन्धाधुन्ध नीति को मनवा कर चलाना चाहा है जो साम्राज्य-दोस्तों को ही शक्ति पहुँचाती है, और जनता में न केवल विग्रह और वैमनस्य के बीज बोती है, बल्कि भविष्य में एक 'महत्तर हिन्दुस्तानी जाति या राष्ट्र' के विकास की रामविलासी पूर्व-कल्पना के संदिग्ध आधार पर ही एक बड़े भूभाग (बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत और सम्भवतः राजस्थान आदि) की मातृभाषाओं का हक़ भी छीनती है और इस प्रकार इस समस्या का जनवादी समाधान न होकर, यह सारी नीति जनहित-विरोधी है।

अन्त में ये दोस्त साहित्य में 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के गुट का इजारा और आभिजात्य स्थापित करने के लिए अपनी दुकान पर 'मार्क्सवाद' का साइन बोर्ड टाँग कर बैठ गय। जो प्रगतिशील लेखक इस गुट में 'मन-वचन-कर्म' से शामिल न थे, उनको 'घर का भेदी लंका ढाये' की उक्ति के अनुसार 'सुधारवादी' घोषित करके पहले ही इन्होंने निकाल दिया। इसके बाद दुकान चालू होने पर अगर किसी अन्य लेखक ने कभी चाह कर भी अन्दर क़दम रखने की कोशिश की तो उसके साहित्य की पोटली में से, चाहे आती हो या न आती हो पर इनकी नाकें दूर से ही 'पराजयवाद', 'पलायनवाद', 'निराशावाद', 'छायावाद', 'राष्ट्रवाद', 'पुनरुत्थानवाद', 'अध्यात्मवाद' आदि की भयानक दुर्गन्धियों को सूँघकर सड़ने लगती थीं, और वे उन्हें धक्के मार-मारकर अगल-बगल की जन-विरोधी विचारधाराओं के महलों तक खदेड़ आते थे! और जिन लेखकों ने इनकी शोहरत सुनकर उधर से भूले-भटके भी गुज़रने की जुर्रत नहीं की उनको कोसने में कोर कसर रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। और इस 'सरापे' में अपनी बात का 'वज़न' बढ़ाने के लिए उन्होंने बड़े-से-बड़े लेखक की खिल्ली उड़ाई, उस पर फब्तियाँ कसीं, व्यंग्य किये, तीरोनश्तर से वार किये। और प्रतिक्रियावादी तो ये सब हुए ही। इन दोस्तों का स्वेच्छाचारी पूर्वग्रह इस सीमा तक बढ़ा कि अपनी व्यक्तिगत रुचि अरुचि को आधार मानकर उन्होंने जो नीति बरती उसका दुरंगा स्वरूप यह था कि: 'प्रेमचन्द को उछालो और शरत् को गिराओ', 'निराला को उछालो और पंत को गिराओ'। जिसे उछालना है उसे एक धार्मिक की श्रद्धा से 'महान लेखक', 'महा मानव' और 'जनवादी विचारक' साबित करो। जिसे गिराना है उसे 'तुच्छ और घटिया लेखक', 'मधुबालाओं की आपाधापी' में ही लगा रहने वाला

'लम्पट मानव' और 'प्रतिक्रियावादी विचारक' घोषित करते जाओ!——तात्पर्य यह कि बजाय इसके कि हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के साथ-साथ विकासमान हमारे राष्ट्रीय नव-जागरण को अपनी महान रचनाओं से नया उन्मेष और नया उत्थान देकर भारतीय वाङ्मय को समर्थ और समृद्ध बनाने वाले इन मेधावी कलाकारों और कवियों की महत्ता के सामने ये साथी समान रूप से नमनशील होते और इतिहास की पृष्ठ-भूमि में रखकर ही उनके साहित्य की उदात्त, ओजस्विनी, जीवन्त परम्पराओं का मूल्यांकन करते, उन्होंने अपनी रुचियों, पूर्वग्रहों और सम्भवतः गुट के स्वार्थों को ही सर्वोपरि माना और इस भेद-नीति को चलाने के लिए समीक्षा-सिद्धान्तों को उठाकर ताक पर रख दिया। स्पष्ट है कि ऐसी नीति अर्ध-सत्यों पर ही आश्रित हो सकती है। इसके विपरीत, इन साथियों ने दुकान को अपनी 'जन-साहित्य' नामधारी जिन रचनाओं से सजाया वे सिर्फ बेजान तुकबन्दियाँ और प्रलापकारी कहानियाँ ही नहीं हैं, उनमें अधिकतर अर्थ-हीन, बे-सिर-पैर की हवाई चीजें हैं, और वस्तुतः ऐसे मध्यवर्गी, प्रतिभाहीन, नक्कू-शाह (philistine) दिमागों की उपज हैं, जो जीवन की वैविध्यपूर्ण, विरोध-जन्य गति-शील वास्तविकता को मूर्त रूप में देख-समझ ही नहीं सकते और जिनका विक्षिप्त मानस हमारे लोक-जीवन मे सर्वथा असम्पर्कित है। इसीलिए 'समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप-विधान'——इस मार्क्सवादी सिद्धान्त को उलट कर ये साथी ऐसी रचनाएँ करते रहे, जिसकी टेकनीक और शैली तथा भाव-भूमि, वस्तु-चित्र, रूप-प्रकृति, संगीत-लय से समन्वित रूप-विधान राष्ट्रीय-जीवन और इतिहास के न होकर अन्तर्राष्ट्रीय——वह भी अत्यन्त कुवड़-कॉस्मोपॉलिटन हैं, और जिसकी विषय-वस्तु जनवादी या समाजवादी न होकर मध्यवर्गी 'लिबरलिज्म' से प्रभावित है। इसी कारण उनकी रचनाएँ अक्सर बोध-गम्य भी नहीं रहीं, मूर्त जीवन-चित्रों (images) के अभाव से उनमें आन्तरिक तारतम्य और केन्द्रीयता दुर्लभ रही है और उनमें अर्थ का अनर्थ करने वाली थोथी अन्योक्तियाँ और दुर्ज्ञेय संकेत-कथनों की ही भरमार रहती है, और उनका व्यंग भी जीवन से उत्पन्न नहीं, बल्कि कृत्रिम होता है और एक-सी रुचि रखने वाली छोटी-सी मित्र-मण्डली में ही एक अस्वाभाविक हास का उद्रेक कर सकता है। कुल मिलाकर ये रचनाएँ इतनी अध-कचरी, छिछली और कुरुचिपूर्ण होती हैं कि उन्हें 'रचनात्मक साहित्य' की कोटि में रखा ही नहीं जा सकता, और 'प्रचार-साहित्य' की दृष्टि से भी उनका मूल्य नगण्य है। इसी-लिए इस नक़ली 'जन-साहित्य' को जनता हाथ भी नहीं लगाती। उसमें लोकरंजन का कोई तत्त्व नहीं और न वह जन-जीवन से 'प्राण-सम्बन्धित' है। फिर भी ये साथी अपनी दुकान में 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बने बैठे रहे, और 'मन तुरा हाजी बिगोयम, तू मरा हाजी बिगो' के आधार पर 'भविष्य रामविलास का है···भविष्य नागार्जुन का है···' (और इनके लिए दावा पेश करने वाले अमृतराय का तो खैर हुआ ही)——बस वे 'भविष्य' की सारी संपदा का अभी से आपस में बटवारा करते रहे हैं।

यह है 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के प्रतिपादकों का सारा साहित्यिक कृतित्व

और उनका साहित्यिक व्यवहार !

इस स्थान पर एक लम्बा उद्धरण देने के लिए विवश हूँ। 'प्रतीक' के दसवें अंक में 'अज्ञेय' ने इन साथियों का रेखा-चित्र 'हिन्दी-पाठक के नाम' अपनी खुली चिट्ठी में खींचा है। वह इस प्रकार है :

"और यह पाठक (कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का प्रतिपादक–शि०) पढ़ता ही नहीं। यों किताबें वह काफी चाटता है, और भारी-भारी शब्द, नाम, फ़िकरे और आँकड़े हर वक्त उसकी ज़बान से फिसले पड़ते हैं, लेकिन वह पढ़ता नहीं, केवल पढ़ाता है। पढ़ाता किसे है, यह कहना ज़रा मुश्किल है, क्योंकि उसने सारी दुनिया को अलग-अलग डिब्बों में बाँट रखा है—एक डिब्बे में वह हैं जो कभी पढ़ ही नहीं सकते; दूसरे में वह हैं जिन्हें पढ़ाना व्यर्थ है; एक में वह हैं जो पहले ग़लत पढ़ गये हैं, और जिनकी विद्या को मिटाना है; और एक में वह हैं जो सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद और परम-गुण-निधान हैं। इस प्रकार यह पाठक केवल पढ़ाता है, और अपने को ही पढ़ाता है, क्योंकि और किसे पढ़ाये ?—और है ही कौन, मानव तो होता नहीं, केवल वर्ग होते हैं, और मानववाद स्खलन है, और शाश्वत कुछ नहीं है, उन्होंने जो कुछ कह दिया वह शाश्वत है और उसमें परिवर्तन लाना चाहना गुरुतर अपराध है।"

चूँकि इस रेखा-चित्र के लेखक 'अज्ञेय' हैं, इस कारण ही यह उपेक्षणीय है, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। 'अज्ञेय' के आलोचनात्मक दृष्टिकोण की जितनी निर्मम (पर सैद्धान्तिक) आलोचना मैंने की है, सम्भवतः किसी दूसरे ने नहीं की। परन्तु न पहले कभी और न आज ही मैं यह मानने को तैयार हूँ कि अज्ञेय एक जन-विरोधी लेखक हैं, केवल इस लिए कि उन्होंने प्रगतिवादियों से मतभेद रखा है, और इधर 'नेहरू-अभिनन्दन-ग्रन्थ' का सम्पादन किया है। बल्कि इतने सशक्त कलाकार के मन में यदि साथियों के रवैये के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया हो तो ठंडे दिल से सोचना चाहिए कि कहीं वे मार्क्सवाद को संकीर्ण मतवादी के रूप में ग्रहण कर बदनाम तो नहीं कर रहे। सही बात का जवाब ढेला फेंककर नहीं दिया जाता, न उस दर्पण को ही तोड़कर चूर्ण-चूर्ण कर दिया जाता है जिसमें आपकी सही प्रतिच्छवि दिखाई देती है। 'अज्ञेय' का अपराध यही है कि उन्होंने आपके सामने दर्पण रख दिया। साहित्य, संस्कृति और भाषा के प्रश्नों पर 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' का दृष्टिकोण निश्चय ही मार्क्सवाद का दृष्टिकोण नहीं है। इसमें किसी साथी या मित्र को लेशमात्र भी भ्रम या सन्देह नहीं रहना चाहिए।

मार्क्सवाद की दृष्टि से कला एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना और मानव क्रिया है, व्यक्ति और समाज के विकास के लिए जिसका आत्यन्तिक महत्त्व है। कलाकार अपनी प्रतिभा (अर्थात् वस्तु-सत्य की संवेदनशीलता) से वस्तु-सत्य को मूर्त-सम्पूर्ण, सक्रिय, गत्यात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करके मनुष्य के मन अर्थात् उसके सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन, उसकी भावनाओं, उसके विचारों, उसकी चेतना और उपचेतना को प्रभावित करता है, और भाव-विचार के रूप-चित्रों (images) के इन्द्रिय-बोध द्वारा मनुष्य में एक

नये प्रकार की मानवीय क्रियाशीलता और विचारसरणि जाग्रत कर देता है। इस सामाजिक चेतना का प्रेषण वह विशेष रूप से तीव्र, सुखद और प्रभावकारी ढंग से करता है। श्रेष्ठ कला शिक्षाप्रद होती है, क्योंकि वह मनुष्य में उदात्त भावों और विचारों को जगाकर उसमें मनुष्य के उच्चादर्शों के प्रति सहज आसक्ति पैदा करके उसे मानवोचित गुणों से विभूषित करती है, उसकी रुचियों को संस्कृत, सुष्ठु और सौन्दर्य-प्रिय बनाती है। इसी व्यापक अर्थ में कला प्रोपैगैण्डा है, क्योंकि उसका अपना सामाजिक प्रयोजन और संविधायक पक्ष है। इसीलिए एक मार्क्सवादी की दृष्टि में श्रेष्ठ और पुरअसर प्रोपैगैण्डा अच्छी कला भी हो सकता है। परन्तु श्रेष्ठ और सारपूर्ण कला का श्रेष्ठ और पुरअसर प्रोपैगैण्डा होना अनिवार्य नहीं है। एक वर्ग-समाज में कला भी मनोजगत के अन्य सामाजिक ढाँचों की ही तरह वर्गों में बँटी होती है। इसका प्रयोग मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को संस्कृत और बलवान बनाने के लिए भी किया जा सकता है और उसकी कुत्सित, पाशविक, मानवद्रोही वृत्तियों को उभारने के लिए भी, यद्यपि उस समय कला का भी हनन हो जाता है।

मार्क्सवादी इसीलिए कला के महत्त्व की उपेक्षा नहीं करते। उनकी दृष्टि में वर्ग संघर्ष से कला का अन्तरंग सम्बन्ध है, क्योंकि कला इस संघर्ष को प्रतिबिम्बित करके प्रभावित करती है और उसके परिणाम के निर्णय में सहायक होती है। कला अपनी महान प्रभविष्णु शक्ति के कारण संघर्षशील-मानवता को सचेत बनाने का साधन बन सकती है। अतः इन दोनों दृष्टियों से—इस दृष्टि से भी कि कला मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को सुसंस्कृत, भरपूर और व्यापक बनाती है, और इस दृष्टि से भी कि कला वर्ग-समाज में संघर्षशील-मानव को चेतना, संकल्प, मनोबल और साहस प्रदान करती है—सच्चे मार्क्सवादियों के हृदय में इस अमोघ अस्त्र के निर्माता कलाकार या साहित्यकार के प्रति सर्वदा असीम आदर और सम्मान का भाव रहा है, जिसके कारण ही वे लेखक और कलाकार को 'मानव-आत्मा का शिल्पी' मानते आये हैं, और पूँजीवादी-समाज की उन कला-विरोधी प्रवृत्तियों का विरोध करते आये हैं, जिनके भँवर में पड़कर कलाकार और लेखक की प्रतिभा और उसके व्यक्तित्व का हनन होता है, विकास नहीं।

मार्क्सवाद मनुष्य की संस्कृति का विरोधी नहीं, बल्कि महान सामाजिक दायित्वों की चेतना प्रदान करके साहित्य और कला के अभूतपूर्व विकास की सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक एक रचनात्मक दृष्टिकोण है। मार्क्सवाद लोगों में फूट डालने या अपने से दूर हटाने का सिद्धान्त नहीं है, बल्कि जनवादी व्यवहार द्वारा सामान्य जनवादी लक्ष्यों के आधार पर लोगों को सामान्य संघर्ष के लिए एकजुट करने का सिद्धान्त है। मार्क्सवाद को विज्ञान और वस्तुगत-सत्य से कोई आशंका नहीं कि वह लेखकों और वैज्ञानिकों पर आतंक जमाकर अपने आदेशों पर उनसे अवसरवादी और घासलेटी साहित्य तयार करवाये, क्योंकि मार्क्सवाद का स्वयं अपना आधार द्वन्द्वमूलक वस्तुगत सत्य और विज्ञान है, जिसके कारण ही वह एक निरन्तर विकासमान वैज्ञानिक जीवन-दर्शन और

कार्य-पद्धति है, और जिसके कारण ही मार्क्सवाद प्रत्येक लेखक और कलाकार से भी यही अपेक्षा रखता है कि वह अपनी प्रतिभा का भरपूर उपयोग करके वस्तु-सत्य को अपनी कला में सम्पूर्णतः प्रतिबिम्बित करे और समाजवादी लेखकों से अपेक्षा रखता है कि 'समाजवाद' उनके निकट एक शुष्क विचार-सिद्धान्त ही न हो बल्कि उनकी भावना बन गया हो, जिससे प्रेरित होकर वे अपनी सहज प्रतिभा या वृत्ति से साहित्य की रचना करें और इस प्रकार स्वयं भी दूसरे के लिए प्रेरणा का केन्द्र बन जायें।

कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण इसका ठीक उल्टा है, इसी कारण जन-साहित्य और जन-संस्कृति का विरोधी है, अर्थात् जन-विरोधी और मार्क्सवाद-विरोधी है। पुरानी कहावत है कि 'लाल के पाँव पालने में देखने चाहिएँ'। यह कुत्सित दृष्टिकोण सबसे पहले एक निषेधात्मक, अबुद्धिवादी मनोवृत्ति के रूप में प्रकट होता है, फिर मार्क्सवाद का जामा पहनकर हुक्मराना अहंकार और संकीर्ण मतवाद के रास्ते वैसा ही घोर तानाशाही रूप धारण कर लेता है जैसा जर्मनी में पैदा हुआ था, जैसा आज अमरीका में पैदा हुआ है, और जिसके विरुद्ध विश्व की शान्तिप्रिय जनता अविराम संघर्ष कर रही है।

भारत ही नहीं, किसी भी देश के जनवादी साहित्य में 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' का कोई स्थान हो सकता। इसीलिए सोवियत संघ में, फ्रान्स में, इंग्लिस्तान में, चीन में, और हर देश में मार्क्सवादी इस 'अबुद्धिवाद' के विरुद्ध और भी अधिक सतर्कता से संघर्ष करते आते हैं, क्योंकि यह मार्क्सवाद का लबादा ओढ़कर जन-शक्तियों के शिविर में दाखिल होता है, और मार्क्सवाद ही नहीं बल्कि मनुष्य की समूची सांस्कृतिक और कलात्मक प्रगति के मार्ग में अंगद का-सा पाँव रोपकर खड़ा हो जाता है।

परन्तु इन साथियों से मैं एकदम हताश नहीं हो गया हूँ। निश्चय ही इनमें से अधिकांश साथी इस हीन दृष्टिकोण के वास्तविक स्वरूप से वाकिफ़ नहीं हैं और इस प्रवृत्ति के प्रतिपादकों ने अपनी विकृत सामन्ती-मध्यवर्गी रुचियों पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ाकर उन्हें 'साहित्य-सिद्धान्त' के रूप में जो कुछ दिया है, वे अपनी अनुभवहीनता के कारण उसे ही सही मानकर ग़लत मार्ग पर दौड़ते आये हैं। उनसे मेरा आग्रह है कि वे अपने साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों की भयानक ग़लतियों को, पुस्तक से पढ़कर ही नहीं, वरन् इतिहास और जन-जीवन की द्वन्द्वात्मक वास्तविता से सीखकर सुधारने की ईमानदार कोशिश करें। यह स्मरण रखने की बात है कि पिछले पाँच-सात वर्षों से यह कुत्सित दृष्टिकोण हिन्दी के इन लेखकों के अलावा अन्य भाषाओं और साहित्यों के अनेकानेक लेखकों, असंख्य पाठकों और जन-संघर्षों में भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओं के केवल 'सचेत विचारों' को ही नहीं प्रभावित करता आया है, बल्कि उनके मानस में बहुत गहरे पैठकर उनके नफ़्स और मज़ाक को भी बिगाड़ चुका है—एक तरह से उनका संस्कार और मनोवृत्ति बन गया है। इससे मुक्त होने के लिए बहुत व्यापक और बहुत लम्बा संघर्ष करना पड़ेगा—स्वयं अपने से ही। केवल काट-छाँटकर शब्दों की तरतीब बदल देने से

अन्तरस्थ भावों, विचारों, राग-द्वेषों, मनोवेगों और दृष्टिकोणों का संस्कार और काया-कल्प नहीं हो जाता। न वस्तु-सत्य की संवेदनशील प्रतिभा के बिना साहित्य की रचना ही सम्भव है—ऐसे साहित्य की जो वस्तुगत जीवन-चित्रों की भाषा में सामयिक जीवन-वास्तव का मूर्त-सम्पूर्ण-सक्रिय कलात्मक प्रतिबिम्ब हो। जो केवल किसी खास राज-नीतिक पार्टी की ग़लत-सही नीतियों और अख़बार में पढ़ी खबरों का ज्यों-का-त्यों, शुष्क, नीरस, भावहीन पद्यानुवाद ही न हो। जिसमें लेखक की कल्पना से गढ़े गये पात्र बस कठ-पुतलियों की तरह लेखक के इशारे पर ही न नाचते हों, लेखक की इच्छा से ही न उठते-बैठते और पैदा होते या मरते हों;—अर्थात् जिनका न कोई अपना व्यक्तित्व हो, न मान-सिक या दैहिक जीवन हो, जो इस जीवन के वैविध्य और ऐक्य से निर्मित वर्ग-समाज के वास्तविक निवासी न होकर बस लेखक की कल्पना के शून्य-आकाश में 'त्रिशंकु' की तरह कहीं अधर लटके हों। दुर्भाग्य से कृष्णचन्द्र की प्रतिभा का लेखक भी इस प्रवृत्ति से अपने को बचा नहीं पाया और उनके अधिकांश पात्र भी कल्पना-जन्य कठपुतलियाँ हैं, व्यक्तित्व-हीन, जिसके कारण वह अपनी कल्पना से एक क्रुद्ध, निर्दयी राजा की सवारी निकालने के लिए ख़तरनाक पहाड़ी के आर-पार लट्ठों की जगह ज़िन्दा किसानों के शरीर बिछाकर पुल बनवा लेते हैं और उस पर से राजा और उसके अमला को गुज़ार देते हैं।

परन्तु जिनमें न प्रतिभा हो, न मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सीखने-समझने का धैर्य हो, उनके उतावले अहंकार के लिए और भी अनेक सरल मार्ग खुले हैं—साहित्य या कला उनका क्षेत्र नहीं है; इसमें प्रचार साहित्य भी शामिल है।

'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' के साथियों से यहाँ इतना ही निवेदन है। और जो इस प्रवृत्ति के नेता हैं, वह स्वयं 'सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद और परम-गुणनिधान' हैं, बाक़ी बातें किताबों से पढ़ ही लेंगे।

(३)

अन्य बुज़ुर्ग तथा नई पौध के लेखकों से, जो इन साथियों के विवेकहीन व्यवहार से क्षुब्ध हैं, इस सम्बन्ध में क्या कहूँ? बातों की मरहमपट्टी कोई अर्थ नहीं रखती। पर एक सरल बात जानता हूँ कि अगर कोई 'असत्य' से 'सत्य' की पैरवी करे तो उससे 'सत्य' 'असत्य' नहीं हो जाता। 'सत्य' की यही महानता है कि 'असत्य' से उसे न झुठलाया जा सकता है, न सिद्ध ही किया जा सकता है। उसे न असत्य की नक़ाब चाहिए, न बैसाखी ही। इसलिए किसी के सही या ग़लत सोच और व्यवहार को ही उन महान युग-विधायक विचारों के प्रति अपनी आसक्ति या विरक्ति का आधार बना लेना क्या आपके विवेक को उचित सजेगा, जो हमारी जनता के मानस को उद्वेलित करते आये हैं, जो हमारे इतिहास और जन-जीवन की प्रगति का आग्रह लेकर पैदा हुए, हमारी जनता के मुक्ति-संघर्ष ने जिनको परवाना चढ़ाया, जिनका सत्य ही हमारे साहित्य की मूल प्रेरणा बना? जन-धरणी को चेतना की प्रकाश-किरणों से निरन्तर जगाने वाले इन महान विचारों के सूर्य को ही निगलने के लिए आज चतुर्दिक से राहु-केतु लपक रहे हैं, क्या ऐसे समय हम एक-

दूसरे से कुंठित बने बैठे रह सकेंगे, केवल इसलिए कि किसी ने वह सौजन्य नहीं बरता जो मानवोचित है ?

सोचिए तो, हमारा देश कितना विशाल है ! इसमें कितने किस्म की जलवायु है, कितने किस्म की वनस्पति है, कितने किस्म की धरती है ! और इसमें कितने किस्म के लोग रहते हैं, कितनी जातियाँ बसती हैं, कितनी भाषाएँ बोली जाती हैं—भाँति-भाँति की सभ्यताएँ हैं, संस्कृतियाँ हैं, कलाएँ हैं, नैतिक आचार-विचार और जीविकोपार्जन के ढंग हैं ! कितने धर्म और सम्प्रदाय हैं, कितने दल और संगठन हैं, वर्ग और स्वार्थ हैं ! कन्याकुमारी से लेकर काराकोरम की पर्वतमालाओं और आसाम की घाटियों से लेकर अरबसागर तक फैले इस देश का आकाश भी तो एक नहीं ! फिर भी इस महादेश और इसमें बसने वाली विभिन्न क़ौमों को किसने एकता के सूत्र में बाँध रखा है ? निश्चय ही साम्राजी ग़ुलामी ने नहीं, जिसने सदा फूट और कलह के बीज ही बोये हैं; बल्कि हमारे पूर्वजों के इतिहास की गौरवशाली परम्पराओं की उत्प्रेरक स्मृति ने और साम्राजी-सामंती ग़ुलामी से मुक्ति पाने के लिए हर इलाके की जनता के सामान्य संघर्ष ने ही जन-मन में एकता की भावना को जीवित रखा है और प्रबल बनाया है।

परन्तु एकता की यह भावना अपने आप तो नहीं सजग हो गई कि उसने स्वतः उठकर इस विशाल देश की समूची जनता को अनायास अपने बन्धन में बाँध लिया हो। इसे बड़ी लगन से जगाना पड़ा है। और इसे जगाने के लिए हमारे गौरवशाली इतिहास के गीत किसने गाये ? मुक्ति संघर्ष की आवश्यकता का एहसास पैदा करने के लिए साम्राजी-सामन्ती ग़ुलामी, शोषण, हिंसा, अन्ध-विश्वास, ग़रीबी, अशिक्षा और क्रूर अमानवीय समाज-सम्बन्धों की हक़ीकत से आगाह करके जनता को किसने उभारा ? जन-जन के पद-मर्दित स्वाभिमान को किसने ललकारा ? इसमें अन्य भाषाओं के लेखकों के साथ-साथ हमारे भारतेन्दु-युग से लेकर द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और आज निराला-पंत-युग तक के असंख्य लेखकों और कवियों का योग-दान है, जिन्होंने किसी प्रलोभन से नहीं लिखा, किसी का आदेश पालन करके नहीं लिखा, बल्कि इसलिए लिखा कि उनका संवेदनशील, वस्तुदर्शी कलाकार मन यह गवारा नहीं कर सकता था कि हमारे देश और हमारी जनता की आत्मा की सुन्दर-सजीव प्रतिमा को, जिसे कभी वाल्मीकि और व्यास ने, कालिदास और भवभूति ने, सूर और तुलसी ने, मीर और ग़ालिब ने अपने-अपने युग की वास्तविकता में अन्तर्निहित विकास-सम्भावनाओं के अनुकूल अपनी सहज प्रतिभा से जन आकांक्षित नये जीवनादर्शों और नये मानव-मूल्यों के साँचे में ढाला था, उसे आततायी साम्राज्यवाद और विगलित सामन्तवाद खण्डित करके कुरूप और निष्प्राण बना दे। इसलिए असह यातनाओं, दुर्निवार आर्थिक कठिनाइयों, भद्र-लोक की तीव्र उपेक्षा और सरकारी कोप-दृष्टि की अवहेलना करके भी उन्होंने जीवन्त साहित्य की रचना की है।

एक ग़ुलाम देश का लेखक 'स्वान्तः सुखाय' रचना नहीं करता, न 'कला के लिए कला' का निर्माण करता है—यह दूसरी बात है कि उसकी रचना में वेदना का स्वर इतना

मुखर हो कि गहरे निराशावाद की झलक मिलती हो, या कोई लेखक राजनीति में सचेत रुचि न रखता हो, या उसका राजनीतिक दृष्टिकोण इतना अपरिपक्व और पिछड़ा हो कि वह स्वयं अपने ही रचे साहित्य के संविधायक और प्रयोजनशील तत्त्वों को न देख पाकर साम्राजी देशों में प्रचलित साहित्यिक प्रवादों का बिल्ला बाँधे 'कला के लिए कला' का नारा देता फिरता हो। ऐसी आत्म-विलासी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ मरणासन्न साम्राज्यवाद के देशों में ही पूँजीवादी साहित्य की धारा बन सकती हैं, एक गुलाम देश में नहीं। हमारे देश की दस-बारह बड़ी और उन्नत भाषाओं के आधुनिक साहित्य का इतिहास इस वक्तव्य का स्वयं ही प्रमाण है।

हमारी भाषाओं का विकास और आधुनिक साहित्यों का जन्म ही साम्राज्यवाद सामन्तवाद-विरोधी जन-संघर्ष के उषःकाल में हुआ है। इस संघर्ष में निरंतर अग्नि परीक्षा देकर ही इन्होंने विकास और उन्नति की है, और आज भी यह क्रम जारी है। इस राष्ट्रीय नव-जागरण के मंगल-प्रभात में हमारी पिछड़ी भाषाओं का सतत मार्जन और परिष्कार करके उनके शब्द-भंडार को असंख्य नये शब्दों से समृद्ध करके, उन्हें नये संघर्ष-युग के अनुकूल विचार-विनिमय का समर्थ साधन बनाने की ओर कौन प्रयत्नशील रहा है? और क्या वह स्वयं अपने में एक साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी, जन-ऐक्य विधायक युग-चेष्टा नहीं थी? अन्धविश्वास, अशिक्षा, अविज्ञान और अनैक्य के जिस अन्धकारपूर्ण दुर्ग में गुलाम बनाने वाली शक्तियों ने हमारी जनता को बन्द कर रखा था, उस पर जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य की मशाल उठाकर किसने चढ़ाई की? अभी जबकि देश की राजनीति मध्यवर्गी स्वार्थों की संकीर्ण सीमाओं में सिमटी-सिकुड़ी कुल-वधू की तरह अपने लिए विदेशी भाषा में अंग्रेज प्रभुओं से कतिपय सुख-सुविधाओं की माँग कर रही थी कि उस समय हमारी जनता के बीच से उठे सरस्वती के वरद-पुत्र जन-मानस में नई परिस्थितियों का आग्रह लेकर त्वरित जन्मे भावों और आकांक्षाओं के मूक, अव्यक्त पर उद्वेलित स्वरों को पहचान कर उन्हें सचेत विचारों की उत्प्रेरक सरगम में बाँध रहे थे। हमारे स्वतन्त्रता संग्राम का यह एक अलग ही रचनात्मक मोर्चा रहा है, जिसका नेतृत्व जनवादी साहित्यकारों और विचारकों ने किया है, राजनीतिज्ञों ने नहीं। राष्ट्रीय नव-जागरण के इस दीर्घ रचनात्मक संघर्ष में हमारे साहित्यकारों ने जीवन-वास्तव की कोख से उठाकर असंख्य जीवन-पात्रों (images) का अंतरंग और सामान्य, मूर्त्त-संपूर्ण चित्रण करके व्यक्तित्वहीन अज्ञात-नाम, समाज-शोषण से उत्पीड़ित किसानों, औरतों, वेश्याओं और अशिक्षित-मूक जनों को मानव व्यक्तित्व की गरिमा से मंडित करके इतिहास-पट पर उनकी वास्तविक भूमिका से हमारा साक्षात्कार कराया है। उन्होंने हमारे इतिहास के विभिन्न सूरमाओं, नीतिज्ञों और देश-भक्त नरेशों की विस्मृत कीर्ति के आख्यान लिखे हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने प्राचीन परम्परा में से उन्हीं चरित्रों (images) को चुना है जो किसी-न-किसी मुक्तिकामी मानवीय आदर्श—सत्य, न्याय, समानता, एकता, आजादी—के प्रतीक थे या बन सकते थे, जिनके उत्प्रेरक जीवन-चित्रों

को जन-मानस में मूर्त्त रूप से जगा कर जनता के स्वाभिमान को पुनः जीवित किया जा सकता था, मायावाद के छाये अबुद्धिवाद से उत्पन्न निराशा, विरक्ति और आत्म-भीरुता की भावनाओं का उन्मूलन करके नया आशावाद, नई जीवन-शक्ति और नया आत्मबल पैदा किया जा सकता था और व्यक्तिगत स्वार्थों से आबद्ध विग्रहकारी प्रवृत्तियों का दमन करके व्यापक सामाजिक स्वार्थों की एकताजनक प्रवृत्तियों को उजागर किया जा सकता था। साम्राज्यवाद ने जिस इतिहास की जीवन्त परम्पराओं से अपरिचित रखकर और सामन्तवाद ने जिस धर्म को अमानवीय समाज सम्बन्धों और प्रतिक्रियावादी नैतिकता का प्रचारक बनाकर जनता को अपने क्रूर भाग्य से समझौता करने के लिए विवश बना रखा था, हमारे साहित्यकारों ने इतिहास और धर्म के उन अस्त्रों को शासक-शोषकों के हाथ से छीन कर जनता के हाथ में पकड़ा दिया; अर्थात् उन्होंने जनता को इतिहास और धर्म के उन तत्त्वों का ही साक्षात्कार कराया जो एकता और जाग्रति के वाहक थे। इसमें पुनरुत्थानवाद की चेष्टाएँ न थीं, न सतयुग की ओर लौटकर वल्कल वस्त्र धारण करने का निमंत्रण था, वल्कि इस समाज के जीवन में किसी भी भाव, विचार, सम्बन्ध या स्थिति को अपरिवर्तनीय समझ कर भाग्य या दैव के आसरे छोड़ देने के विरुद्ध आमूल परिवर्तन लाकर नये मानवीय जीवन-निर्माण का आग्रही कर्म-प्रेरक आह्वान था; जीवन को क्षण-भंगुर मानने वाले मायावाद के विरुद्ध जीवन की सत्यता और नित्यता का आशाप्रद सन्देश था।

हमारे साहित्य की शैली इतिवृत्तात्मक रही हो या छायावादी या यथार्थवादी, इतना तो निर्विवाद है कि हमारे साहित्यकारों की कला का रूप-विधान इतिहास की प्राणवन्त परम्पराओं और जनता की मनोभूमि की समष्टि से विकसित सर्वथा देशज या राष्ट्रीय रहा है, उसमें यहाँ की मिट्टी की ही चिरपरिचित गन्ध है, यहाँ के ही फूलों का रंग है, यहाँ की नदियों का ही 'कल-कल निनाद' संगीत है, यहाँ की ही ऊषा और संध्या का सौन्दर्य है। इस देशज रूप-विधान के माध्यम से ही उन्होंने नये भाव-विचारों की विषय-वस्तु को मूर्त्त अभिव्यक्ति दी है और रूप-विधान का भी स्वाभाविक विकास किया है। अधिकतर सचेत रूप से सोच-समझकर पूर्व-निश्चय द्वारा नहीं, बल्कि जीवन-वास्तव के अव्यक्त निर्देशों का पालन करके, जो अपने प्रतिबिम्ब के रूप-विधान का स्वयं निर्णेता होता है। और यह नई विचार-वस्तु—एकता, आज़ादी, समानता, भाईचारा, प्रजातंत्र और बाद में समाजवाद आदि के महान विचार—हमारे साहित्य में कहाँ से आये? ये विप्लव-कारी विचार केवल हमारे सामाजिक जीवन की परम्परा से तो निश्चय ही उद्भूत नहीं हुए, यद्यपि एक निराकार अव्यक्त भावना के बीज-रूप में शोषित-पीड़ित जनता के हृदय में अवश्य सोये पड़े थे। इसलिए वस्तुतः वे देश-देश की प्रगतिशील जनता के इतिहास—विशेषकर फ्रान्स की प्रजातान्त्रिक और रूस की समाजवादी क्रान्तियों की प्रतिध्वनि के रूप में हमारे देश की उद्‌बुद्ध चेतना में आकर गूँजने लगे थे और शेली, बायरन, तॉल-स्टॉय और गोर्की की रचनाओं से जीवन की भाषा के द्वारा हमारे मानस में मूर्त्त और

साकार होकर हमारी जीवन-दृष्टि की अखण्ड ज्योति बन गये थे। यह कोई विचित्र और अनहोनी बात नहीं है कि हमारे साहित्यकार 'जनवादी या समाजवादी विषय-वस्तु और राष्ट्रीय रूप विधान' को व्यवहारतः अपने साहित्य-सर्जन की पद्धति के रूप में अपनाते आये हैं, यद्यपि मार्क्सवादी सिद्धान्त से परिचित तो आज भी सब नहीं हैं। जीवन-वास्तव पर पाँव जमाकर खड़े रहने का ही यह अनिवार्य परिणाम है। इस सिद्धान्त को ठुकराकर और हमारे साहित्य की परम्परा से हठात् अलग होकर विचारों के मरुथल से बह निकलने की अगर किसी ने कोशिश की है तो वह 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' और 'कुत्सित-समाज-शास्त्रीयता' की अ-साहित्यिक और अ-समाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो अपनी फूहड़ कल्पना द्वारा निर्मित यन्त्रवत् कठपुतली पात्रों से एक दुर्बोध, संकेतमय भाषा में मनोविज्ञान और मार्क्सवाद की पैरोडी गवाती हैं, और इस प्रकार अपने अन्तर्मन की पशुवृत्तियों का, या कमरे के दर्पण में अपनी रोषपूर्ण मुद्राओं के अनुकूल बदलते प्रति-बिम्ब को देख-देखकर क्रान्ति का ऐहसास कर लेने वाली विक्षिप्तता का मूलतः व्यक्ति-वादी 'दृष्टान्त साहित्य' तैयार करती हैं।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन दो असामाजिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त हमारे विशाल साहित्य की धारा में और कोई विकृतियाँ आई ही नहीं। आखिर हमारा साहित्य भी एक वर्ग-समाज की संकीर्ण सीमाओं के अन्दर ही विकसित हुआ है, चाहे वह इन सीमाओं को तोड़ने के लिए ही निरन्तर सचेष्ट क्यों न रहा हो।

हमारे साहित्य निर्माता इसी वर्ग-समाज के प्राणी रहे हैं, जिसके समाज-सम्बन्धों ने परस्पर-विरोधी वर्ग-स्वार्थों, वर्ग-संस्कारों, वर्ग-मान्यताओं, वर्ग-नैतिकताओं, वर्ग-मनो-वृत्तिओं और वर्ग-दृष्टिकोणों को जन्म देकर मनुष्य को इस प्रकार बाँट रखा है कि प्रेम, त्याग, सत्य, आज़ादी और जनवाद के प्रति विभिन्न वर्गों की अपनी-अपनी धारणाएँ बन गई हैं, और मनुष्य के स्वभाव और कर्म पर भी वर्ग-भेद की अनिवार्य छाप पड़ी है। हमारे साहित्कार अपने जीवन के इस विरोधपूर्ण वातावरण से निर्लिप्त और निस्संग न हो सकते थे। इसी कारण हमारे साहित्य के प्रारम्भिक उत्थान पर 'सामन्ती-सभ्यता-संस्कृति' की छाप है, जिससे प्रेमचन्द तक मुक्त नहीं हैं। इस साहित्य में जहाँ-जहाँ हमारे लेखकों की व्यक्तिगत सहानुभूतियों ने जीवन-वास्तव के मूर्त्त-सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब पर ऊपर से छाया डाली है, वहाँ-वहाँ सामन्ती संस्कारों और सामन्ती नैतिक मान्यताओं के प्रति लेखक का पूर्वग्रह भी मुखर हो गया है, और साम्राज्य-विरोध पर अन्धराष्ट्रवाद या पुनरुत्थानवाद का रंग चढ़ गया है। इसके पश्चात् क्रूर, अनैतिक पूंजीवादी समाज-सम्बन्धों ने मध्यवर्गी संकीर्णताओं को जन्म दिया, जिसकी प्रतिच्छाया उस 'अरण्य रोदन' में मिलती है, जो हमारे छायावादी कवियों के गीतों में इतनी मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। इस प्रकार हमारे आधुनिक साहित्य की इस अटूट जनवादी धारा में 'आओ, बैठ लें कुछ देर' या साथी, सब कुछ सहना होगा' जैसी तट की मध्यवर्गी झाड़ियों की जड़ों में अटकी हताश, गतिहीन, लहरें भी हैं, जिनमें 'जागो फिर एक बार!' या 'तीर पर कैसे रुकूँ मैं, आज

लहरों में निमन्त्रण' जैसा बीच-धारा का उदात्त, मानवोचित दर्प और चुनौती नहीं है। ऐसे विषम और विकृत स्वर लेखक की प्रतिभा पर कुठाराघात करने वाल उस आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व के सूचक हैं, जिनमें से होकर वर्ग-समाज में जन्म लेने वाल प्रत्येक लेखक और कलाकार को अनिवार्यतः लगातार गुज़रना पड़ता है। अन्यथा हमारे विशाल बहुमुखी साहित्य की मुख्य-धारा के अहरह गर्जन में तो प्रतिवाद के स्वर ही फूटे हैं, गम्भीर मानववाद का संगीत ही मुखरित हुआ है, चाहे वह हमारे कवियों के इतिवृत्तात्मक पद्य हों, छायावाद के रोमानी गीत हों, या प्रगतिवाद की यथार्थवादी कविता हो। राष्ट्रीय नव-जागरण के इस रचनात्मक संघर्ष में हमारे साहित्य-निर्माताओं की सहज सहानुभूतियाँ, उनकी युग-विधायक सचेत-अचेत विचारणाएँ अधिकांशतः मध्यवर्ग की संकुचित सीमाओं को तोड़कर जन-जन तक प्रसरित हुई हैं, और उन्होंने शोषित-उत्पीड़ित श्रमजीवी जनता के मूल हितों का ही समर्थन किया है। इसीलिए हमारे साहित्यकारों की श्रेष्ठ-कृतियों में वह परिव्याप्ति और सार्वजनीनता है, जो हमारी विभिन्न भाषाओं के साहित्यों को सच्ची देश-भक्ति से ओत-प्रोत जन-साहित्य होने का अधिकारी बनाती है; उनमें हमारे देश के जीवन-वास्तव का भावी सम्भावनाओं के दृष्टिकोण से मूर्त्त-सम्पूर्ण चित्रण है। उनका एक-एक शब्द गुलामी के ताबूद में मेखें गाड़ता है और सामन्ती समाज-सम्बन्धों और तज्जनित नैतिक मान्यताओं तथा मध्यवर्गी संकीर्णताओं से आत्मा को मुक्त करके, उसमें नये मानवीय भाव-विचारों, नये नैतिक मूल्यों, नये जनवादी समाज-सम्बंधों की आकांक्षाओं का व्यापकत्व और गरिमा भरकर उसे नया निखार देता है। जो व्यक्ति हक़ीकत के इस सत्य को नहीं देख-समझ सकता, उसके मन में हमारे इतिहास, साहित्य और जन-संघर्ष की गौरवशाली परम्पराओं के प्रति घोर अवज्ञा और अनादर का भाव है। हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के आधुनिक साहित्य की अटूट धारा का यह साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-विरोधी, मुक्तिकामी, संघर्षोन्मुखी स्वर ही तो हमारे अगणित ज्ञात-अज्ञात साहित्य-निर्माताओं की कठोर जीवन-साधना की सबसे मूल्यवान प्राप्ति है, जिसने नये जनवादी लक्ष्यों का दरस देकर हमारी जनता की एकता का शिलान्यास किया है।

कोई इस सत्य को देखे या न देखे, पर मेरा अनुरोध है कि किसी क्षणिक आवेश में भरकर हम आप इसको न भुला दें, क्योंकि अभी हमारे मुक्ति-संघर्ष का अन्त नहीं हुआ और हमें अपनी जनता की एकता के सूत्रों को दृढ़तर बनाते जाना है, क्योंकि अभी हम उस आकांक्षित लक्ष्य से बहुत दूर हैं, जो हमारा जीवन-साध्य रहा है, और जिसे प्राप्त करने के लिए हमें एक ऐसे शोषण-रहित जनवादी समाज का निर्माण करना है, जिसके वातावरण में हमारे विशाल देश की प्रत्येक जाति, प्रत्येक भाषा, प्रत्येक संस्कृति अपने-अपने इतिहास की मानवताबोधिनी परम्पराओं की गोद में नये जनवादी दर्शन और विज्ञान की दीक्षा पाकर अपनी प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास कर पायेगी और जिसके साधन-सुविधा-सम्पन्न, मुक्त समाज में प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण आत्म-विकास ही समाज के योग-क्षेम की एक-मात्र कसौटी बन सकेगा।

महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी अनेकानेक कविताओं में जिस जनाकांक्षित भावी मानव-समाज के स्वप्न गूँथे हैं, वह हमारे अधिकांश साहित्यकारों की भी (कवि 'दिनकर' के शब्दों में) 'अभिलाषाओं की मंज़िल' है। पर अभी तो,

'ओ ज्वलंत इच्छा अशेष !'

इसलिये अगर कोई कहे कि हम आज़ाद हो गए या कहे कि नहीं, अभी हम ग़ुलाम हैं तो हमें इन बहसों में पड़ने से ग़रज़ नहीं है, और न इन बहसों में पक्ष और विपक्ष में दिए गए वक्तव्यों को आवेशपूर्ण तुकबन्दियों में बाँधने से वह प्राणवान् कविता ही पैदा होगी जो हमारे जीवन-वास्तव को मूर्तरूप से प्रतिबिम्बित कर सके। क्योंकि ग़ुलामी काग़ज़ पर लिखा दस्तावेज़ नहीं होती कि वापस कर दिया तो आज़ाद हो गए और छीन लिया तो ग़ुलाम बन गए। ग़ुलामी शोषण-उत्पीड़न को न्यायपूर्ण क़रार देने वाले अमानवीय आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों का रौरव नरक है, जिसका वातवरण भी शोषक वर्गों की अनैतिकता और अ-संस्कृति से भाराक्रान्त होता है। ग़ुलामी या आज़ादी मनुष्य जीवन की परस्पर-विरोधी मूर्त वास्तविकताएँ हैं, जिनकी पीड़ा या पुलक प्रत्येक व्यक्ति अपनी रग-रग में अनुभव करता है। ये केवल अमूर्त्त विचारों और बहसों की चीजें नहीं हैं।

इन बहसो में भाग लेना तभी सार्थक और प्रयोजनीय हो सकता है जब हम इस तथ्य को विस्मृत न होने दें कि हम लेखक हैं और मानव-आत्मा के शिल्पी हैं और इतिहास ने हमारे कन्धों पर बहुत भारी ज़िम्मेदारियाँ रख दी हैं। इसलिए हमारे चाहे जो दार्शनिक विचार, साहित्य-सिद्धान्त या लेखन शैलियाँ क्यों न हों, पर लेखक की हैसियत से काले को सफ़ेद और सफ़ेद को काला सिद्ध करने से हमारा काम नहीं चल सकता, अर्थात् तब हम श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रतिभा रखकर भी सच्ची कला का निर्माण नहीं कर सकते। स्वयं हमारे साहित्य की परम्परा साक्षी है कि यह बात कल तक सच थी, और आज भी सच है, क्योंकि कोई भी रचना तभी कलात्मक होती है, जब उसमें परिवर्तनशील वस्तु-सत्य का मूर्त्त, पार्थिव, अंतरंग, सम्पूर्ण, सक्रिय, सजीव और सामान्य प्रतिबिम्ब ग्रहण हो। वास्तविकता ही सत्य है, इसे कोई लेखक जितनी व्यापकता और मूर्त्तिमत्ता के अपनी रचना में प्रतिबिम्बित करता है उसकी रचना उतनी ही अधिक कलात्मक और सार्वजनीन होती है, इसीलिए 'असत्य' को आज तक कोई कलात्मक नहीं बना पाया, यद्यपि शासक-शोषक वर्गों के हाथ अपनी प्रतिभा का विक्रय करके बड़े-बड़े नामवर लिक्खाड़ों ने ऐसा करने के लिए अपनी एड़ी-चोटी का पसीना एक किया है, और आज भी कर रहे हैं, लेकिन वास्तविकता को 'असत्य' का 'बुरक़ा' नहीं ओढ़ा पाते। विश्व के महान् लेखकों की महान् कृतियाँ इसीलिए अमर और सुन्दर हैं कि, बलिन्स्की के शब्दों में, वे 'जीवन की भाषा, बोलते हैं', उनमें अपने देश-काल के जीवन का वस्तु-सत्य, जो इतिहास का सत्य भी है, अपनी सम्पूर्ण मूर्त्तिमत्ता और गत्यात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है, जिसके कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में न केवल वर्ग-समाज के अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धों की क्रूरता को स्पष्ट रेखाओं से चित्रांकित किया है बल्कि उस वर्ग-समाज में उभरती हुई संघर्षशील

मानव शक्तियों के ऐतिहासिक सत्य को भी बरबस अपनी सहानुभूति देकर चित्रित किया है—चाहे उस समय प्रत्यक्षतः सत्ताधारी वर्ग की विचारधारा की ही तूती बोलती रही हो और स्वयं उन लेखकों के संस्कार इस वर्ग की संस्कृति से निरूपित क्यों न रहे हों, पर वास्तविकता ने उनके संवेदनशील हृदय पर आच्छादित होकर उन्हें सत्य का आकलन करने के लिए विवश कर दिया। साहित्य के इतिहास में गेटे और बाल्ज़क, शेक्सपियर और तॉलस्तॉय ऐसे ही महान् लेखक और कवि हैं, और इसीलिए ये मनीषी मानव-आत्मा के महान् शिल्पी माने जाते हैं। उन्होंने समाज के सम्पूर्ण वास्तव का कलात्मक चित्रण करके मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का अधिक मानवीय संस्कार किया है और राग-द्वेषों का अधिक मानवीय आधार पर नियमन करके मनुष्य को अपनी मुक्ति के पथ पर अग्रसर होने की व्यापक प्रेरणा दी है।

सच्ची कला का यह द्वंद्वात्मक सत्य है, क्योंकि जीवन की जिस हक़ीकत को वह प्रतिबिम्बित करता है, वह स्वयं द्वंद्वात्मक है, गतिहीन और एकांगी नहीं।

जीवन-वास्तव गतिहीन और एकांगी नहीं, बल्कि बहुमुखी, वैविध्यपूर्ण, नाना रूपात्मक और विकासमान है, जिसमें कोई घटना, कोई शक्ति, कोई तत्त्व और कोई रूप आत्म-निर्भर और अनन्य नहीं है, बल्कि असंख्य विरोध-जन्य सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों में एक-दूसरे से आबद्ध है, निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित करता रहता है और इन सम्बन्धों के गुण, रूप और आधार को बदलता रहता है। एक वर्ग-समाज को लें तो उसका जीवन-वास्तव उत्पादन-क्रिया में लगे मनुष्यों का शोषक और शोषित के रूप में वह वर्ग-विभाजन है जो उनके बीच असंख्य परस्पर विरोधी समाज-सम्बन्धों का केन्द्र बनता है। वर्ग-भेद पर आधारित आर्थिक-सामाजिक-सम्बन्धों द्वारा निरूपित जीवन-परिस्थितियाँ परस्पर विरोधी विचारधाराओं, नैतिकताओं, न्याय-धारणाओं, रहन-सहन और आचार-विचार के व्यवहारों, कार्य पद्धतियों और संस्कृतियों की जनक होती हैं, जो मानव-स्वभाव, प्रेम-सुख-सौन्दर्य आदि की सहज भावनाओं पर भी छाप डालकर वर्ग-मनोवृत्तियाँ पैदा करती हैं। इस पर आन्तरिक विरोध के बावजूद समाज का विघटन होकर अराजकता नहीं फैलती क्योंकि वर्ग-समाज में भी एक आन्तरिक ऐक्य है जिसके कारण ही परस्पर-विरोधी स्वार्थ रखने वाले शोषक-शोषित वर्ग उत्पादन-क्रिया में एक-दूसरे के साथ असंख्य आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में आबद्ध होते हैं, यद्यपि साथ ही साथ वे अपने-अपने वर्ग-स्वार्थों और वर्ग-हितों की दृष्टि से उत्पादन सम्बन्धों को—और इस प्रकार तमाम आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों को भी—आमूल बदलकर नए उत्पादन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए या उन्हें ज्यों का त्यों स्थायी बनाए रखने के लिए चेतन-अचेतन रूप से आपस में अनवरत संघर्ष भी करते जाते हैं। इस संघर्ष के फलस्वरूप समाज की प्रगति-विरोधी मरणशील शक्तियाँ इतिहास-पट पर अपनी लीला समाप्त करती जाती हैं और प्रगतिशील शक्तियाँ अपनी भूमिका खोलने के लिए उभरती आती हैं। एक गुलाम समाज में यह संघर्ष ही इतिहास की संचालिका शक्ति है, जो निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य नहीं है। मनुष्य

के इतिहास ने ही इसके प्रयोजन और उद्देश्य को निर्दिष्ट किया है, और यह जीवन-वास्तव के मूल में अंतर्निहित उसका सार तत्व है। मानव पर मानव का शोषण समाप्त करके न्याय, समानता, प्रेम और मुक्त-सहयोग पर आधारित एक सच्चे वर्ग-मुक्त, शोषण-मुक्त, अज्ञान-मुक्त मानव-समाज का निर्माण ही इस अविराम संघर्ष की मूल-प्रेरणा, इसका लक्ष्य और प्रयोजन है, जो इतिहास को गति प्रदान करता है। यही वस्तु-सत्य है। इसको सचेत रूप से हम पहचानें या न पहचानें पर इसके घात-प्रतिघात हमें निरन्तर सहने पड़ते हैं, जो हमें गतिमान रखते हैं और इस संघर्ष के प्रति उदासीन और तटस्थ नहीं रहने देते—कोई न कोई पक्ष लेने को विवश कर देते हैं।

समाज की मरणशील और उभरती हुई शक्तियों का यह ऐतिहासिक संघर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि पहले त्वरित और अवचेतन रूप से और फिर धीरे-धीरे सचेत और संगठित रूप से उसके समस्त सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को भी घेर लेता है और संघर्षशील मानवता की चेतना में प्रतिबिम्बित होकर उन युग-विधायक विचारों को जन्म देता है जो इस ऐतिहासिक संघर्ष के प्रयोजन और लक्ष्य के सारवाही प्रतीक होते हैं। जीवन-सत्य के ये सारवाही विचार अपने जीवनानुभव से संघर्षशील मानवता की चेतना में उन मानवीय आकांक्षाओं, आदर्शों और संकल्पों का भावनाजन्य मूर्त्तरूप धारण करते जाते हैं जो उसकी समस्त पीड़ा-वेदना, हर्ष-विमर्ष, सुख-दुःख आशा-निराशा, कामना-लालसा, इच्छा-संकल्प का सहज, दुर्दमनीय आग्रह लेकर उसके हृदय को आन्दोलित करते आये होते हैं। और इस प्रकार के विचार एक ऐसी प्रवल एकता-विधायक, संगठनकारी शक्ति बन जाते हैं, जो व्यक्तिगत स्वार्थों और शोषक-वर्ग की विचारधाराओं की संकीर्ण सीमाओं से निकालकर लोगों को अखिल मानवता के प्रगति संघर्ष में एक होकर भाग लेने के लिए उत्प्रेरित करने लगते हैं, कोटि-कोटि जनों के हृदय में प्रतिध्वनित होकर वह सच्चे मानववाद की भावना को जगाने में इतिहास-शक्तियों की युगवाणी बनते हैं, जन-जन के अंतर की ऐसी ज्योति बनते हैं, जिसके ज्वलंत प्रकाश से उनका भावी पथ आलोकित होता जाता है, और मानवता अपने संघर्ष के स्वरूप को पहचानती है, परिणामों को जाँचती-परखती है और उसकी गति और दिशा का नियमन करती है। ये युग-विधायक, जीवन-वास्तव के सारवाही विचार ही कलाकार की प्रतिभा को वह सहज अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं जिनके सहारे वह इन्द्रिय-बोध कर पाता है कि कौन-सी शक्तियाँ मरणशील हैं, और कौन उभरकर सामने आ रही हैं, जिससे वह अपनी रचना में भावी सम्भावनाओं के दृष्टिकोण से जीवन-वास्तव का मूर्त्त, सम्पूर्ण, सक्रिय प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए जो प्रासंगिक है, उसको ही स्वीकार करता है और जो अप्रासंगिक है और वास्तविकता को विकृत और एकांगी बनाता है, उसे अस्वीकार कर देता है। ये विचार सचेत विचार भी होते हैं और मूर्त्त भावना भी, और कला की विचार-वस्तु बनते हैं। वे कला में अभिव्यक्त प्रत्येक भाव, विचार, जीवन-चित्र या घटना में पिरोए होते हैं और उन्हें अन्दर से ही उद्भासित करके जीवन-वास्तव के ऐतिहासिक सत्य

को निरावृत करते रहते हैं। एकता, समानता, भाईचारा, न्याय, आज़ादी, प्रजातन्त्र और समाजवाद ऐसे ही महान विचार हैं जो न्यूनाधिक मात्रा में हमारे जनवादी-साहित्य की विचार-वस्तु और प्रेरणा बनते आए हैं। श्रेष्ठ प्रतिभा का लेखक इन विचारों को सिद्धांत-रूप में ग्रहण किए बिना भी केवल सहज भावना से ही रचना में व्यक्त कर सकता है, जिसके आधार पर ही लेखक की 'विचारधारा' का निरूपण किया जाता है, न कि उसके सचेत, अमूर्त्त विचारों और विश्वासों के आधार पर जो वस्तुतः वर्ग-समाज के संस्कारों और संस्कृति से निर्दिष्ट होते हैं, और जिनसे प्रत्येक वस्तुवादी लेखक भी पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। कोई लेखक जितनी मूर्त्तिमत्ता और मार्मिकता के साथ अपनी रचना में अपने युग के प्रगतिविधायक महान विचारों को प्रतिबिम्बित करता है, उसकी रचना उतनी ही सार-पूर्ण और उत्प्रेरक होती है।

इसलिए अपने लेखक और कलाकारों से संघर्षशील मानवता की पहली माँग यह है कि वह जीवन-वास्तव को सही, मूर्त्त-सम्पूर्ण-सक्रिय रूप से प्रतिबिंबित करें, और दूसरी माँग यह है कि वह अपनी कला के माध्यम से उन महान युग-विधायक विचारों को एक मूर्त्त सहज-भावना के रूप में और जीवन और इतिहास की भाषा में अभिव्यक्ति दें जो आज जन-जन को 'शान्ति', 'आज़ादी', और 'जनवाद' के संघर्ष में भाग लेने के लिए अनुप्राणित कर सकें, उनको मनोबल और साहस दे सकें।

(४)

यहाँ पर लेखक के सचेत दृष्टिकोण का प्रश्न स्वतः उठ जाता है। इस सम्बन्ध में काफ़ी भ्रम फैला हुआ है, इसलिए सविस्तर स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है।

आज लेखक के लिए सचेत राजनीतिक या सामाजिक दृष्टिकोण का प्रश्न इस-लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हो गया है कि उसके बिना वह श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्य की रचना कर ही नहीं सकता, जैसा कि कुछ दोस्तों का ख्याल है और वे राजेन्द्रसिंह बेदी की तरह साहित्य-रचना में "असल चीज़ लेखक का दृष्टिकोण है" का नारा दिए जाते हैं। ऐसा नारा ऐसे संकीर्ण मतवाद को जन्म देता है जिसकी अंतिम परिणति इसके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती कि जो सचेत मार्क्सवादी लेखक नहीं है। वह प्रगतिशील नहीं हो सकता—और इसमें भी एक सूक्ष्म भेद पैदा हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी, अर्थात् जो मार्क्सवादी बाक़ायदे कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य होगा, वह तो हक़ीक़ी मानी में प्रगतिशील लेखक समझा जायगा और जो सदस्य न होगा वह 'चार घुड़सवारों' के साथ लगे उस 'पाँचवें' हमसफ़र की तरह ही समझा जायेगा जो अपनी शान बढ़ाने के लिए दूर से ही जवाब देता था कि 'हम पाँचों सवार दिल्ली जा रहे हैं।'

परन्तु ऐसा दावा साहित्य और कला के इतिहास और रोज़मर्रा के अनुभव की अवहेलना करता है। इतिहास ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है जिनसे साबित होता है कि अनेक श्रेष्ठ और प्राणवन्त रचनाओं के लेखकों का सचेत दृष्टिकोण अत्यन्त पिछड़ा हुआ और अपने युग की प्रगतिशील विचारधाराओं की सापेक्षता में प्रतिक्रियावादी भी रहा

है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि एक कलाकार की हैसियत से उनमें से कोई भी अपने युग के संघर्षों से तटस्थ था, या प्रगतिशील शक्तियों का विरोधी था। अगर ऐसा होता तो उनकी रचनाओं में वस्तु-सत्य प्रतिबिम्बित न होता और उनकी रचनाओं में आज कोई उल्लेखनीय प्राणवन्त तत्व भी न होता—वे अब तक स्वयं ही मर चुकी होतीं। वस्तुतः उनकी वस्तु-सत्य की संवेदनशील प्रतिभा अपने युग की संघर्षशील मानवता की इतिहास-पट पर उभरती हुई शक्तियों और उन्हें अनुप्राणित करनेवाले उन युग-विधायक विचारों का सहज इन्द्रिय-बोध करने में समर्थ रही जो अधिक मानवीय नैतिकता, अधिक मानवीय न्याय-भावना और अधिक मानवीय समाज-सम्बन्धों की कामना के प्रतीक थे; और उन्होंने अपनी संकीर्ण वर्ग-सहानुभूतियों, वर्ग-विचारधाराओं और वर्ग-संस्कारों के बावजूद अपनी आत्मा के पूरे बल और आवेग से संघर्षशील मानवता का पक्ष-समर्थन किया और वर्ग-समाज की क्रूर वास्तविकता को निरावारण करके उसका अन्त करने में अपनी कृतियों से मदद पहुँचाई। अगर लेखक वस्तु-सत्य का दामन छोड़कर कोरा कल्पनावादी न बन जाए तो यह बात आज भी सच है, और आगे भी सच रहेगी। 'अगर असल चीज लेखक का दृष्टिकोण है' तो फिर जैनेन्द्रकुमार के 'त्याग-पत्र' को किस कसौटी पर रखकर जाँचेंगे ? इसलिए सचेत दृष्टिकोण या विचारधारा कला की सृजन-शक्ति नहीं है, उसकी अत्यन्त शक्तिशाली सहायक या संरक्षक ही हो सकती है।

इसके विपरीत जो इस बात का दावा करते हैं कि दृष्टिकोण या विचारधारा कला पर बन्धन बन जाती है, इसलिए लेखक को उससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए, वे भी गलत हैं, और एक ऐसे भयानक पथ पर चलने के आग्रही हैं जिस पर उनकी कला के लिए ही काँटे बिछे हैं। यह दुरुस्त है कि यदि दृष्टिकोण और विचारधारा को ही सामने रखकर 'दृष्टान्त साहित्य' रचने की कोशिश की जाय तो उससे साहित्य या कला का निर्माण नहीं होगा, और विचारधारा कला-निर्माण में सहायक न होकर उस पर बन्धन बन जायेगी। परन्तु यदि विचार लेखक की चेतना की पिटारी में ही बन्द न रहकर उसके मानस में आत्मसात् हो जायें और उसकी सहज वृत्तियों को जगाने वाली सहज भावना, मनोवृत्ति या संस्कारी भाव बन जायँ, अर्थात् अगर लेखक इन विचारों के साथ 'रहने' लग जायें तो ये विचार उसकी रचना को अधिक सार्वजनीनता, व्यापकत्व और सारपूर्णता दे सकते हैं। कला को विचार-बन्धनों से बचाने की इच्छा रखनेवाले या तो प्रगतिशील विचारों को बन्धन और प्रगति-विरोधी तथा असामाजिक विचारों को कला की निसर्ग सामग्री मानकर प्रतिक्रिया की गोद में चले जाते हैं, या फिर सचमुच ही अपनी कृतियों में से विचारों को इस तरह चुन-चुनकर निकाल फेंकते हैं कि अंत में कविता अर्थहीन, भावहीन, लयहीन, असम्बद्ध, विषम ध्वनियों का समूह बन जाती है, और कहानी पात्र-हीन, घटना-हीन, वाक्य-विन्यासहीन निरर्थक वाक्यों का शब्दजाल बन जाती है। कहा जाता है कि चूंकि विचारों का सम्बन्ध चेतना से है, इसलिए ये रचनाएँ उपचेतन या अवचेतन के 'स्वच्छन्द-सम्बन्ध' की 'अति वास्तविकता' को प्रतिबिम्बित करती हैं। विचारों या दृष्टि-

कोण को कला का बन्धन मानने की अन्तिम परिणति ऐसे ही अबुद्धिवाद या विक्षिप्तता में जाकर होती है जो कला को सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप न रहने देकर कला का ही हनन कर देती है; यद्यपि इस घोर असामाजिक प्रतिक्रिया को साम्राज्यवादी देशों में 'चित्र-कल्पनावाद', 'प्रतीकवाद', 'अतिवस्तुवाद', 'क्यूविज़्म' आदि अनेक साहित्यिक-प्रवादों के नाम से बड़ी ख्याति मिली है।

इस प्रकार सचेत दृष्टिकोण न लेखक की प्रतिभा का स्थान लेकर कला की सृजन-शक्ति बन सकता है और न कलाकार की प्रतिभा को अपना बन्धक ही बनाता है।

दृष्टिकोण का प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है और आज साहित्य और कला से उसका संयोग कराना इसलिए अत्यन्त ज़रूरी हो गया है कि इस युग के विश्व-व्यापी संघर्ष में साम्राजी-प्रतिक्रिया की जो शक्तियाँ मनुष्य की गुलामी को स्थायी बनाने के लिए 'युद्ध' की तैयारियाँ कर रही हैं वह सचेत रूप से कला और साहित्य का प्रयोग हिंस्र और पाशविक वृत्तियाँ जगाकर मनुष्य को अपनी मनुष्यता से च्युत करने और 'अपराजेय जनता' की एकता को तोड़ने के लिए कर रही हैं। अबुद्धिवाद और बर्बरता के इस आक्रमण के विरुद्ध संघर्षशील मानवता के साथ एक मन और एक प्राण होकर अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक शक्तियों द्वारा संघर्ष में सचेत रूप से भाग लेना एक लेखक के लिए केवल इसलिए ही ज़रूरी नहीं हो गया है कि यह उसका सामाजिक कर्त्तव्य है, बल्कि इसलिए भी ज़रूरी हो गया है कि ऐसा करके ही वह अपने साहित्य, अपनी कला और अपनी प्रतिभा की भी रक्षा कर सकेगा। शान्ति, आज़ादी और जनवाद के लिए लड़ने वाली हमारे देश और अन्य देशों की जनता ही आज हमारी कला और प्रतिभा की प्रहरी और संरक्षक है। जनता ही उन तमाम मानव-मूल्यों का उद्गम स्रोत है, जिनको मार्मिक अभिव्यक्ति देकर हम 'मानव-आत्मा' का रूप-निर्माण करते हैं। लेखक और कलाकार आज अगर सचेत दृष्टिकोण को अपनाने से इन्कार करते जायें तो उन्हें व्यक्तिगत रूप से ही अपनी प्रतिभा, ईमानदारी और कला पर नित्य-प्रति होने वाले प्रहारों के वार झेलने पड़ जाते हैं, और इस बात की सम्भावना पैदा हो जाती है कि वह या तो इस सामाजिक संघर्ष की कठोरता से आतंकित हो जाएँ और अपनी ईमानदारी का अस्त्र फेंककर प्रतिक्रिया के सामने आत्म-सम्पर्ण कर दें—इस युग का इतिहास ऐसे अनेक लेखकों के दयनीय उदाहरणों का साक्षी है—या फिर वह अनजाने ही वर्ग-समाज द्वारा निरूपित संकीर्ण मनोवृत्तियों या 'दृष्टिकोण' को वस्तु-सत्य के स्थान पर अभिव्यक्ति देने लगें और व्यापक जीवन-सत्य की चेतना खोकर अपनी व्यक्तिगत आशा-निराशा को ही 'मानवता' की आशा-निराशा की कसौटी समझ बैठें। अपने व्यक्तिवादी ढंग से संघर्ष में लगे ऐसे अनेक ईमानदार लेखकों के उदाहरण भी हमारे सामने हैं, जो अपने अन्तर्द्वन्द्व में ही उलझे हुए हैं। इस प्रकार "यह महान् दृश्य है, चल रहा मनुष्य है!" के रूप में जीवन-सत्य की मूर्त्त, उदात्त मानववादी अभिव्यक्ति करने वाले कवि बच्चन को हम अन्यत्र व्यक्तिगत निराशाओं के आधार पर मध्यवर्गी 'दृष्टिकोण' से अपनी प्रतिभा को बाँधकर यह घोषणा करते हुए भी पाते हैं कि 'जग

बदलेगा, किन्तु न जीवन !' अगर लेखक का सचेत दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यापक होता तो अपनी व्यक्तिगत निराशा और वेदना के क्षणों में भी वह इतना पराजित न महसूस करता कि जीवन सत्य को ठुकरा कर अपनी कल्पना से ही 'जग' और 'जीवन' के अलग-अलग नियम गढ़कर उन्हें इतने साधारण तर्कों से सिद्ध करने बैठ जाता। 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' का आशावाद सत्य है या 'आओ सो जायें मर जायें' का घोर निराशावाद ? एक ही लेखक की रचनाओं में दो परस्पर-विरोधी 'दृष्टिकोण' वस्तुतः उसकी वस्तुदर्शी' प्रतिभा और मध्यवर्गी संकीर्णताओं से आबद्ध 'दृष्टिकोण' या मनोवृत्तियों के उस वैषम्य और द्वन्द्व की सूचना देते हैं, जिस पर वह अपने व्यक्तिवादी ढंग से संघर्ष करके क़ाबू नहीं पा सका है। उसका कवि और उसका 'विचारक' एक-दूसरे के सहयोगी नहीं, बल्कि विरोधी हैं।

इस युग में संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, यह उतना ही ज़्यादा जरूरी होता जाता है कि लेखक और कलाकार का 'दृष्टिकोण' उत्तरोत्तर सचेत और व्यापक होता जाये ताकि यह अपने सम्पूर्ण हृदय से संघर्षशील मानवता का साथ दे सके और उसका प्रेरक, पथ-प्रदर्शक और उसकी आत्मा का शिल्पी बन सके। ऐसा न हो कि कभी तो उसकी सहानुभूतियाँ जन-जन तक प्रसारित हों, उनमें आशा और विश्वास का सन्देश हो, और कभी अपनी व्यक्तिगत वेदना से वह इतना हताश हो जाये कि 'आप डूबे तो जग डूबा' को चरितार्थ करके जनता से भी अस्त्र डालने का आग्रह करने लगे। एक व्यापक मानववादी जीवन-दृष्टिकोण ही लेखक को अपने वर्ग-समिति दृष्टिकोण पर विजय पाने में, अर्थात् अपनी वस्तु-सत्य की संवेदनशील प्रतिभा पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को हटाने में सहायक हो सकता है।

साहित्य में आशा और कर्म-चेतना जगाने वाले "वैज्ञानिक बुद्धिवाद के मानववादी, प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देना और हमारे साहित्य में सक्रिय उन तमाम अबुद्धिवादी, प्रतिगामी और प्रतिक्रियाशील प्रवृत्तियों का विरोध करना जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष और मानव-पर-मानव के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करके जनता में उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करती हैं"—यह प्रारम्भ में प्रगतिशील लेखक आन्दोलन का घोषित लक्ष्य था, ताकि हमारे साहित्यकार अपने 'रचनात्मक और विवेचानात्मक साहित्य के माध्यम से उन सभी शक्तियों को बल प्रदान कर सकें जो हमारे देश को उस नये जीवन की ओर ले जायेंगी जिसके लिए वह संघर्ष कर रहा है।' इसमें किसी लेखक के लिए कोई आदेश नहीं था। साहित्यकारों को अपने सामाजिक कर्तव्यों से आगाह करके केवल इस बात का आग्रह किया गया था कि वे समय-समय पर एकत्र होकर अपने साहित्य की गतिविधि का जायज़ा लिया करें और यदि कहीं हमारे साहित्य में कोई प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति जाने-अनजाने, व्यक्त-अव्यक्त रूप से घुसने की चेष्टा कर रही है तो लखक आपस में विचार-विनिमय और सैद्धान्तिक आलोचना-प्रत्यालोचना करके स्वयं को और देश की अन्य साहित्यिक शक्तियों को उससे सावधान

करते रहें। प्रगतिशील लेखक संघ को भारत के तमाम लेखकों का ऐसा ही व्यापक और सामान्य मंच बनाने का उद्देश्य था। उसे किसी भी राजनीतिक दल या पार्टी का खुला या प्रच्छन्न प्लेटफार्म बनाने का प्रश्न न था। यह भी प्रश्न न था कि उसमें यथार्थवादी शैली के लेखक ही सम्मिलित हो सकेंगे, छायावादी या अन्य शैलियों के लेखक नहीं; और न यह मन्तव्य था कि मार्क्सवादी विचार-दर्शन को अपनाने वाले लेखक ही प्रगतिशील समझे जायेंगे, दूसरे नहीं, और न यही आशय था कि जो लेखक तुरन्त या बाद में भी प्रगतिशील लेखक संघ में सम्मिलित नहीं होंगे, वे केवल इस आधार पर ही प्रतिक्रियावादी समझे जायेंगे। प्रगतिशील लेखक संघ और आन्दोलन इतने संकीर्ण उद्देश्यों को लेकर नहीं जन्मा। उसे किसी भी पार्टी का प्रचार-केन्द्र बनाना हमें अभीष्ट न था। किसी भी दल और पार्टी के लेखक को एक लेखक की हैसियत से उसमें सम्मिलित होने की खुली दावत थी। बाद में किस प्रकार संकीर्णतावाद ने धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ा और अन्त में प्रगतिशील लेखक संघ पर "कुत्सित समाज-शास्त्रीयता" के समर्थक लेखकों ने एक प्रकार से अपना आधिपत्य जमा करके "बेकार मवास कुछ किया कर, कपड़े फाड़कर ही सिया कर" के अनुसार "आज के दिन प्रगतिशील कौन है ?" के प्रश्न की उधेड़बुन करके नित्यप्रति "प्रगतिशीलता" की स्वेच्छाचारी परिभाषाएँ और कसौटियाँ गढ़ना और साहित्यकारों के विरुद्ध मनमाने फ़तवे देना ही अपना काम बना लिया, यह एक लम्बी दास्तान है, और इससे आप सभी कुछ-न-कुछ तो परिचित हैं ही। इससे बेहद नुक़सान हुआ है, लाभ कुछ नहीं—यह भी प्रत्यक्ष है।

इसलिए और भी आज की गम्भीर परिस्थिति में इस बात की आवश्यकता बढ़ गई है कि भारत की विभिन्न भाषाओं के वे तमाम लेखक जो विश्व पर, मानवता पर, मनुष्य की कला-संस्कृति और शिल्प-विज्ञान पर छाये महायुद्ध के ख़तरे के प्रति सजग हैं, उन तमाम मानववादी लेखकों को जो "विश्व-शान्ति" और "आज़ादी" और "जनवाद" के समर्थक हैं, उन तमाम लेखकों को जिनको कवि सुमित्रानन्दन पंत की पिछले महायुद्ध से पूर्व दी गई वह चेतावनी विस्मृत नहीं हुई है, जिसमें उन्होंने घोषित किया था :

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्षण
अन्तिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन।

उन तमाम लेखकों को जिन्हें यह देश प्यारा है, इसके पैंतीस करोड़ निवासी प्यारे हैं, जिन्हें अपनी रचनाएँ और कला प्यारी है—हम तमाम लेखकों को शीघ्र ही कहीं-न-कहीं एकत्र होकर व्यापक जनवादी आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ और उसके आंदोलन को पुनः संगठित करना चाहिए। एक साथ मिल-बैठकर अपने-अपने साहित्यों की प्रगति का जायज़ा लेना चाहिए। लेखकों और कवियों के सामने अपनी कला-सम्बन्धी, अर्थ सम्बन्धी, प्रकाशन और वितरण सम्बन्धी और दूसरी क्या कठिनाइयाँ हैं, उन पर सविस्तार विचार करके उन कठिनाइयों को दूर करने के उपाय सोचने चाहिएँ। और हम सब पर छाये हुए उस ख़तरे का मुक़ाबला करने के लिए रचनात्मक, विवेचनात्मक और

प्रचारात्मक साहित्य के माध्यम से हम सब क्या कर सकते हैं, क्या करें, कैसे करें आदि प्रश्नों के बारे में सब की राय से सुनिश्चित फैसले करके उन पर अमल करना चाहिए। राजनीतिक पार्टियाँ अपनी नीति का प्रचार करने के लिए स्वयं अपने प्रचार-केन्द्र बनायें, उनके सदस्य-लेखक उन केन्द्रों में पूरे उत्साह से काम करें, यह सही और समझ में आने वाली बात है, पर प्रगतिशील लेखक संघ को किसी भी पार्टी का (कम्युनिस्ट पार्टी का भी) प्रचार-केन्द्र नहीं बनने देना चाहिए, यह हम सब लेखकों का सामान्य कर्तव्य है। किसी भी राजनीतिक पार्टी को साहित्य और कला के प्रश्नों पर अपनी नीति का ऐलान करने का अधिकार है, पर प्रगतिशील लेखक संघ उसे मानने के लिए बाध्य नहीं होना चाहिए। यह दूसरी बात है कि किसी पार्टी की राजनीतिक या साहित्य-सम्बन्धी नीति में कुछ या अधिकांश बातें प्रगतिशील लेखकों को अपने सामाजिक कर्तव्यों और उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक लगें और वह उनका स्वागत करें, या किसी विशेष अवसर पर किसी विशेष घटना या कार्य के सम्बन्ध में उद्देश्यों की सामानता के आधार पर प्रगतिशील लेखक राजनीतिक, साहित्यिक या दूसरे संगठनों के साथ सहयोग करें या उनको सहयोग करने के लिए निमंत्रण दें। यह तमाम व्यवहार की बातें हैं, किन्तु जरूरी है, क्योंकि जन-वादी दृष्टिकोण के साथ खुला जनवादी व्यवहार लाज़िमी है, ताकि प्रगतिशील लेखक संघ की तमाम कमेटियों, उसकी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक-मण्डलों और प्रकाशन-संस्थाओं के संचालकों का निर्वाचन करने में प्रत्येक लेखक-सदस्य का बराबर का अधिकार हो, ताकि प्रत्येक लेखक इसे अपना संगठन और आन्दोलन समझ सके, इसकी नीति का निर्णायक हो और अपने लेखन द्वारा न केवल प्रगतिशील साहित्य का निर्माता हो, बल्कि उन महान विचारों का प्रचारक भी हो जो आज संघर्षशील जनता की एकता के विधायक हैं और उसके मनोबल को दृढ़ बना कर उसे आशावादी और क्रियाशील बनाते हैं।

सत्य और असत्य, जीवन और मृत्यु, आज़ादी और गुलामी, मानवता और बर्बरता, विज्ञान और अबुद्धिवाद, शान्ति और युद्ध की शक्तियों के इस विश्व-व्यापी संग्राम से हमारा देश और हमारी जनता न तटस्थ है, न निस्संग है। वस्तुतः हम सब इसके भँवर में फँसे हुए हैं। बर्बरता और अबुद्धिवाद का आक्रमण हमारी जनता पर अवि-राम जारी है। क्रूरता, हिंसा, जाति-द्वेष, हत्या, घृणा, बलात्कार, गुलामी और छल-कपट की भावनाओं को सहज मानवीय गुणों के रूप में गौरवान्वित करने वाली सैकड़ों रंगीन फिल्में और सचित्र पत्र-पत्रिकाएँ प्रतिदिन सात-समुन्दर पार से आकर हमारे देश की उद्बुद्ध चेतना में ज़हर घोलती रहती हैं और हमारी जनता की आत्मा पर डाका डालती रहती हैं। अखबारों के जरिये जंगबाज़ों के हौलनाक वक्तव्य, जिनमें रोज़ आतिशी हथियारों पर अरबों डालर खर्च करने के लिए ऐलान होते हैं, देश-देश को तबाह करके नेस्तनाबूद कर देने की धमकियाँ होती हैं—हमारे लाखों-करोड़ों देशवासियों तक पहुँचकर उनमें भयंकर बेचैनी, निराशा और पस्तहिम्मती पैदा कर रहे हैं। इन चीज़ों पर कोई रोक-थाम और पाबन्दी नहीं है। ये बातें हमारे देशवासियों को नैतिक अधःपतन के रास्ते पर

खींच रही हैं और उनके आध्यात्मिक जीवन को कलुषित और गन्दा बना रही हैं। इसलिए हमारी माताओं और बच्चों पर आसमान से चाहे 'वह्नि वर्षण' न हो रही हो, पर 'विष-वर्षण' तो जारी है—कला और शब्द के द्वारा, जो मनुष्य की चेतना, मुक्ति और एकता के अस्त्र हैं, जिनके हम निर्माता और जौहरी हैं, पर जिन्हें आज विकृत करके फ़ाशिस्ट मानव-द्रोही इन्सान के ख़िलाफ़ ही इस्तेमाल कर रहे हैं। और इस आक्रमण के सामने हमारी जनता एक प्रकार से निहत्थी है।

सन् बयालीस में फ़ाशिस्ट आक्रमण के विरुद्ध भारतीय लेखकों ने दिल्ली में सम्मेलन करके एक घोषणापत्र प्रकाशित किया था, अंग्रेजी में जिसका मसविदा 'अज्ञेय' ने तैयार किया था। उसके कुछ स्मरणीय वाक्य यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

"हम भारतीय लेखकों का फ़ाशिज़्म से कोई सामंजस्य नहीं है।···फ़ाशिज़्म एक अपरिचित शत्रु नहीं है। फ़ाशिज़्म के अनिवार्य संस्कृति-विरोधी तत्त्व की उपेक्षा करने या उसकी ओर से आँख मींचने का मतलब स्वेच्छा से अपने को एक बर्बर आक्रमणकारी की लम्बी और घातक गुलामी का शिकार बनाना होगा।···आज की दुनियाँ में फ़ाशिस्ट जीत का मतलब एक नये अन्धकार-युग की शुरूआत होगी और इस संकट को दूर करने में भारतीय जनता को अपना कर्तव्य पूरा करना होगा। उन्हें सोवियत् संघ की बहादुर जनता, वीर चीनी राष्ट्र और सारे देशों की फ़ाशिज़्म-विरोधी जनता के साथ एक होना होगा।···

"हम हिन्दुस्तान के महान् और बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी हैं। फ़ाशिस्ट लुटेरों से इसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। अपनी रचनाओं के द्वारा फ़ाशिज़्म के ख़िलाफ़ अपने को दिमाग़ी तौर पर मज़बूत बनाने में हमें जनता की मदद करना चाहिए। किताबों और पैम्फ़लेटों, रेडियो और सिनेमा, गानों और रंगमंच के ज़रिये हम विशाल जनता के पास पहुँचना चाहिए। अपनी मातृ-भूमि के आह्वान पर आगे आना और मुक्ति तथा संस्कृति की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित रखना हमारा कर्त्तव्य है।"

और सोवियत लेखक इलिया एहरनबुर्ग ने नात्सी आक्रमण के समय एक स्मरणीय बात कही थी कि,

"एक लेखक को केवल शताब्दियों के लिए लिखना ही नहीं आना चाहिए। उसे एक क्षण के लिए भी लिखना आना चाहिए अगर उस एक क्षण में ही उसकी जनता के भाग्य का निर्णय होने वाला है।"

संकट की घड़ी में भारत के लेखक भी कभी अपनी जनता के संघर्ष से विमुख हो "एक क्षण" के लिए लिखने से हाथ खींचकर खामोश नहीं बैठे हैं, और मेरा विश्वास है कि आज भी नहीं बैठ सकेंगे। यह हमारे स्वभाव और हमारी गौरवशाली परम्परा के विपरीत है। सन् बयालीस में भारत के लेखकों ने जब स्वयं अपना कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया था तो आज जब समूची मानवता के भाग्य का अन्तिम निर्णयकारी संग्राम छिड़ा हो, और जिस मानव-आत्मा के हम शिल्पी हैं उसकी मूर्त्ति को बर्बरता और अबुद्धिवाद के प्रचार-खंग से

फ़ाशिस्ट साम्राजी हमारी आँखों के सामने ही खंड-खंड कर रहे हों, उस समय भारत के लेखक निश्चय ही असहाय खड़े देखते न रहेंगे। बल्कि 'किताबों, पैम्फलेटों, रेडियो, सिनेमा, गानों और रंगमंच' के ज़रिये देश की तमाम सांस्कृतिक शक्तियों को भी साथ लेकर विशाल जनता तक पहुँचेंगे, और कला-संस्कृति की रक्षा के साथ-साथ जनता में नयी चेतना, नयी आशा, नया विश्वास जगाकर 'शान्ति, आज़ादी और जनवाद' के पुनीत संघर्ष में पूरे उत्साह से भाग लेने के लिए उसकी एकता को भी दृढ़ बनायेंगे।

हम लेखकों का प्रचार-साहित्य "सत्य" केवल मूर्त्त "सत्य" पर ही आधारित होना चाहिए——असत्यपूर्ण, अतिरंजित, तिलस्मी या सनसनीख़ेज़ प्रचार जनवादी साहित्यकारों का अस्त्र नहीं हैं। न राजनीतिज्ञों की तरह हमारे प्रचार का तरीका आँकड़ों, दलीलों और शुष्क अमूर्त्त विचारों से सिद्ध करना ही हो सकता है।

हमें तो इस विश्व-व्यापी संघर्ष के ऐतिहासिक सत्य को अपनी रचनाओं द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष मूर्त्त रूप में साक्षात दर्शाना है ताकि वह इसे दिमाग़ से ही न समझे, बल्कि इस संघर्ष का अनुभव अपने रोम रोम में करे; ताकि इस ऐतिहासिक सत्य को एक अनिवार्यता, एक अवश्यम्भाविता के रूप में अपने हृदय की धड़कनों में महसूस करे, और उसमें यह अचल विश्वास पैदा हो जाय कि इस संघर्ष में जनता विजयी होगी, अपने आप या दैव-कृपा से नहीं, बल्कि विजय प्राप्त करने के लिए उसे भी जी-जान से लड़ना होगा। इस भावना और विश्वास को जगाने के लिए हमें अपनी रचनाओं में इस पुनीत संघर्ष को कल्लू और रमिया, रमेश और मालती, रहमान और रज़िया के व्यक्तिगत अनुभव के रूप में असंख्य जनों के लिए चित्रित करना है या उसे नाटकीय रूप देना है, ताकि यह संघर्ष क्यों है, किस लिए है यह प्रत्येक व्यक्ति की सजग चेतना का अंग बन जाये, ताकि प्रत्येक व्यक्ति समझ जाये कि इस संघर्ष में भाग लेना, क़ुर्बानी देना उसका कर्तव्य है। ताकि प्रत्येक व्यक्ति समझ जाये कि इस संघर्ष में विजयी होने का अर्थ है कि मानव की ग़ुलामी की कालरात्रि समाप्त हो रही है, और इतिहास में सच्चे मानव-युग का आरंभ हो रहा है।

और मेरा विश्वास है कि हमारी चाहे जो शैलियाँ हों, कला-सम्बंधी धारणाएँ हों, दार्शनिक विचार और विश्वास हों पर जीवन-वास्तव का मूर्त्त-संपूर्ण सक्रिय चित्रण करते समय हमारे साहित्यकारों को अगर जीवन पर छायी काली घटाओं को चीरकर कहीं से संघर्ष के सूरज की एक क्षीण किरन भी फूटती नज़र आयेगी, तो उनका कलाकार हृदय उस आशा-दूत किरन की उभरती-निखरती लाली को अपनी रचना में चित्रांकित करने के लिए तड़प उठेगा और उनकी रचनाओं में संघर्षरत जनता के लिए कोटि-कोटि व्यक्त-अव्यक्त वरदानों की मिठास और प्रेरणा होगी।

और इस प्रभात की वेला में सत्य जैसी निर्मल और श्वेत गुलाब की पँखड़ियों जैसी कोमल बरफवारी शुरू हो गयी है और एक स्निग्ध आलोक काश्मीर की घाटी में फैलता जा रहा है।

—१ जनवरी, १९५१

२१

साहित्य में संयुक्त मोर्चा ?

सहयोगी 'हंस', 'नया साहित्य', 'नई चेतना' और कई दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में इधर कुछ महीनों से 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' बनाने के प्रश्न पर बहस चल रही है। अनेक लेखकों ने, जो प्रगतिशील लेखक संघ से सम्बद्ध हैं या जो संकीर्ण मतवादियों का दौर-दौरा होने से पहले उसमें थे, इस बहस में भाग लिया है। प्रस्तावित संयुक्त मोर्चे का क्या आधार हो, क्या उद्देश्य हो, क्या कार्यक्रम हो और उसका नेतृत्व कौन करे—इन सब प्रश्नों पर प्रत्येक लेखक ने अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार सविस्तार सुझाव दिए हैं। वस्तुतः प्रत्येक लेखक ने कुछ हेर-फेर करके एक-सी बातें ही दुहराई हैं, या कहें कि मूलतः सबकी तर्क-प्रणाली और प्रवृत्ति एक ही पूर्व-निर्धारित विचार-वृत्त के भीतर आँख में पट्टी बाँध-कर चक्कर काटते रहने की रही है। अपने देश की विशिष्ट परिस्थितियों का विश्लेषण करके वर्तमान गतिरोध को तोड़ने और आगे बढ़ने के लिए एक सही नीति और कार्य-क्रम बनाने का काम जिस वस्तुनिष्ठ चिन्तन और रचनात्मक प्रयत्न की माँग करता है, उसका इस बहस में बहुत बड़ी सीमा तक अभाव रहा है। इस बहस का अभी तक अंत दिखाई नहीं देता, यद्यपि न 'प्रगतिशील लेखक संघ' का गतिरोध टूट रहा है, न हम विशेष आगे ही बढ़ पाये हैं। हाँ, एक गोल परिधि के भीतर चक्कर काटते जाने से गति का भ्रम अवश्य पैदा हो गया है।

इस बहस का सूत्रपात एक विचित्र ढंग से हुआ। कई वर्षों से 'प्रगतिशील लेखक-संघ' में 'कुत्सित समाज-शास्त्रियों' का बोल-बाला रहा है। इस अमार्क्सीय, जन-विरोधी प्रवृत्ति की "विनाशकारी आलोचना लेखकों को अपने अस्त्र डालने पर बाधित करती थी। वह किसी लेखक का सम्पूर्ण कृतित्व न परखकर इधर-उधर से अपनी सुविधा के उद्धरण बटोरकर उसके विरुद्ध 'केस' बनाने में दत्तचित्त थी। और यह उद्धरण तोड़े-मरोड़ जाते थे···" (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, नया साहित्य, सितम्बर १९५१, पृष्ठ ७५)। कम्यु-निस्ट पार्टी के तत्कालीन मंत्री बी० टी० रणदिवे की अवसरवादी नीति का परदाफाश होते ही, साहित्य-क्षेत्र के संकीर्ण-मतवादियों के पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई। सौभाग्य से उन्हीं दिनों 'अखिल चीन लेखक और कलाकार संघ' के अधिवेशन में सभापति पद से दिया गया प्रसिद्ध चीनी लेखक और नेता कुओ० मो० जो का वह भाषण, जिसम उन्होंने तीस वर्ष से चले आने वाले चीन के लेखकों और कलाकारों के विशाल संयुक्त मोर्चे को और अधिक व्यापक आधार पर संगठित करके विशालतर बनाने की माँग की

थी, हमारे इन अवसरवादियों के हाथ लग गया—जैसे अन्धे के हाथ बटेर लग गई हो। 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रारम्भिक जनवादी परम्पराओं, जन-सेवा और साहित्य-निर्माण के उच्चादर्शों का लगातार कृतघ्नतापूर्वक तिरस्कार करते आनेवाले ये दोस्त यकायक चोला बदलकर 'संयुक्त मोर्चावादी' बन गए, और उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में चीन और भारत के परिस्थिति-भेद का विश्लेषण करने या स्वयं अपनी गलतियों की ईमानदारी से जाँच-परख करने की ज़रूरत नहीं समझी। एक सच्चे अवसरवादी की तरह, जो हवा का रुख़ बदलते ही अपना रुख़ बदल देता है, उन्होंने अपने कृतित्व के स्मारक भारत के जनवादी लेखकों की एकता के खंडहर पर खड़े होकर 'साहित्य में संयुक्त मोर्चे' की पताका फहरा दी। यदि वह भाषण उनके हाथ न लगा होता तो अपने दयनीय अस्त्वि की रक्षा के लिए वे और कौन-सा प्रपंच न रचते, यह नहीं कहा जा सकता।

कुओ० मो० जो के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस वर्ष के संयुक्त कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था, उसे रामविलास शर्मा ने तीन-चार वर्षों तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आन्दोलन की जड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियों में फूट और वैमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनिवार्य आरंभ बिन्दु के रूप में पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाज-शास्त्रीय जन-द्रोही गुट की संस्कृति-विरोधी करतूतों पर परदा डालने की चेष्टा की। उनकी इस अवसरवादी कलाबाज़ी पर ध्यान न देकर भी यदि हिंदी के कुछ लेखकों ने इस विचार का स्वागत किया है और अधिकांश लेखक परस्पर के आदान-प्रदान, विचार-विनिमय और सक्रिय सहयोग के लिए उत्सुक हैं, और उनके सूत्र काट दिए जाने पर विक्षुब्ध रहे हैं, तो यह उनके उत्कट देश-प्रेम, मुक्ति-भावना और मूलतः प्रगतिशील दृष्टिकोण का ही प्रमाण है। इसका श्रेय संकीर्ण मतवादियों की अवसरवादी कलाबाज़ी को नहीं दिया जा सकता। और न इससे यह सिद्ध होता है कि तुरंत 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' बना लेने का नारा और उस पर चलाई जानेवाली बहस ही परिस्थिति के आग्रह से उत्पन्न है और उसका औचित्य है। कुत्सित समाज-शास्त्रियों को यदि किसी बात का श्रेय दिया जा सकता है तो केवल इसका कि वे इस बहस की संकीर्ण सीमाएँ निर्धारित करने में सफल हुए हैं।

वस्तुतः यह बहस अनेक 'कुत्सित समाज-शास्त्रियों' के साहित्यिक अस्तित्व का एक-मात्र सहारा और बहाना बन गई है। 'संयुक्त मोर्चे' का उच्च स्वर से मंत्रोच्चार करके आज भी वह आलोचना और रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में उसी संकीर्ण मतवादी समझ या नासमझी का परिचय देते जाते हैं, जिसने साहित्य-जगत् में इतनी भयंकर फूट डाली थी। इसलिए यह बहस भारतीय जनता के प्रति अपने साहित्यिक कर्तव्यों से जी चुराने और मूल प्रश्नों को टालने का साधन बनती जा रही है।

'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' पुस्तक में श्री अमृतराय ने बड़ी ईमानदारी और सूझ-

बूझ से पिछले दौर की त्रुटियों की आलोचना की है, लेकिन अपने विवेचन के तर्कसंगत परिणामों को वे भी स्वीकार नहीं कर पाये और 'साहित्य में संयुक्त मोर्चे' को, जो संगठन-क्षेत्र में हमारा 'लक्ष्य' हो सकता है, उन्होंने भी एक प्रकार से आरंभ-बिंदु ही मान लिया है। संकीर्णतावादी दौर की तबाहकारियों से उत्पन्न परिस्थिति चाहे जितनी अवांछित हो, पर है तो वह ठोस वस्तु-स्थिति ही। उसको बिना बदले और अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा किये, दोनों के अन्तराल की कठिन, दुर्गम राह को पार किये ही छलाँग मारकर लक्ष्य तक पहुँच जाने की नीति निश्चय ही संकीर्ण मतवादी नीति का ही बदला हुआ रूप है। यह एक मरीचिका के पीछे दौड़कर गुमराह होना और दूसरों को गुमराह करना है।

मेरा विचार है कि 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' केवल कुछ दोस्तों के कृत्रिम उत्साह-प्रदर्शन और ख्याली पुलाव पकाने से नहीं बनेगा, न वस्तु-स्थिति से आँखें मींचकर हथेली पर सरसों जमानेवाली उतावली से ही, और न उस समय तक जब तक कि प्रगतिवादी आन्दोलन से (चाहे वह राजनीतिक हो या साहित्यिक) अमार्क्सीय, संस्कृति-विरोधी कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की संकीर्ण मतवादी और अबुद्धिवादी प्रवृत्ति और विचार-धारा का पूरी तरह उन्मूलन नहीं कर दिया जाता, और वस्तु-स्थिति का सही-सही जायजा लेकर एक ठोस जनवादी कार्य-नीति नहीं बनाई जाती या जब तक मार्क्सवादी लेखक ईमानदारी और सच्ची लगन से जनता के प्रति अपने साहित्यिक दायित्वों को पूरा नहीं करते। इसलिए हमें विचार के स्वनिर्मित बाड़ों में से निकलकर वस्तु-स्थिति से आँखें मिलानी चाहिएँ और भेड़-चाल और तोता-रटन्त छोड़कर जनता की सेवा में रचनात्मक रीति से लग जाना चाहिए।

वस्तुत: प्रगतिशील लेखक आंदोलन और मार्क्सवादी लेखकों के सम्मुख आज कौन से प्रश्न हैं, कौन-से कार्य हैं और वह उन्हें कैसे पूरा कर सकते हैं, इस सम्बन्ध में मैं यहाँ सहयोगी 'नई चेतना' के सम्पादक श्री लक्ष्मीकांत का वह पत्र जो उन्होंने मेरे निबन्ध 'मानव-आत्मा के शिल्पियों से' पढ़कर मुझे लिखा था और उसका जो उत्तर मैंने काश्मीर से ३१ जनवरी १९५१ को भेजा था, ज्यों-का-त्यों प्रकाशित कर रहा हूँ। इस उत्तर में मैंने जो सुझाव दिये थे वे हमें आज भी एक वस्तुदर्शी की तरह सोचने के लिए विवश करने में सक्षम हैं।

—अक्तूबर, १९५१

उनका पत्र इस प्रकार था—

बीकानेर, २५ जनवरी १९५१

प्रिय साथी चौहान जी,

आपने अपने निबन्ध 'मानव-आत्मा के शिल्पियों से' में प्रगतिशील लेखक-संघ को पुन: एक व्यापक जनवादी आधार पर संगठित करने के लिए भारत के तमाम लेखकों से अपील की है। 'नई चेतना' का सम्पादक-मंडल इस अपील का स्वागत करता है। परन्तु इस सम्बन्ध में कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयाँ नज़र आती हैं। आपके लेख से भी स्पष्ट है कि 'संकीर्णतावाद' से भारत के जनवादी लेखकों की एकता पर कुठाराघात हुआ है,

श्रौर विशेषकर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के समर्थक साथियों' के व्यवहार से श्रनेक प्रतिष्ठित लेखक 'क्षुब्ध' हैं श्रौर 'श्रपमानित' महसूस करते हैं। लेकिन श्रापने इस स्थिति की श्रोर संकेत नहीं किया है कि परिणामत: अधिकांश लेखकों की यह निश्चित धारणा बन गई है कि : 'प्रगति लेखक-संघ हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मोर्चा है श्रौर वहाँ मार्क्सवादी लेखक ही सम्मानित होते हैं, चाहे वे श्रत्यन्त साधारण लेखक ही क्यों न हों; श्रौर दूसरे बड़े-से-बड़े लेखकों की बात पर यथोचित ध्यान भी नहीं दिया जाता। पार्टी की जब जो नीति होती है, प्रगतिशील लेखक-संघ की नीति भी तब त्यों ही बदल जानी पड़ती है। वस्तुत: प्रगतिशील लेखक-संघ साहित्य-निर्माण के प्रश्नों को छोड़कर पार्टी का प्रचार-केन्द्र बन गया है।'

यह धारणा काफ़ी गहरी श्रौर व्यापक है, श्रौर बिलकुल निराधार भी नहीं है। हम स्वयं चाहते हैं कि यह धारणा निर्मूल हो जाय श्रौर प्रगतिशील लेखक-संघ सच्चे श्रर्थों में तमाम जनवादी लेखकों का संयुक्त मोर्चा बन जाय, परन्तु व्यवहारत: क्या यह सम्भव हो सकेगा श्रौर कैसे ? यदि एक क्षण के लिए मान लें कि ऐसा न हो सके तो उस दशा में क्या करना उचित होगा, श्रौर प्रगतिशील लेखक-संघ का क्या कार्य-क्रम रहना श्राव-श्यक होगा ? सम्भवत: श्राप हम से सहमत होंगे कि व्यावहारिक दृष्टि से इन सारे प्रश्नों का श्रौचित्य है श्रौर इनका स्पष्ट उत्तर भी श्रत्यन्त ज़रूरी है।

इसलिए 'नई चेतना' का सम्पादक-मंडल श्रापसे इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए श्राग्रही है।

लक्ष्मीकान्त

'नई चेतना'—सम्पादक-मंडल

इस पत्र का मैंने यह उत्तर दिया था—

श्रीनगर-काश्मीर ३१-१-५१

प्रिय साथी लक्ष्मीकान्त जी,

'नई चेतना' सम्पादक-मण्डल की श्रोर से श्रापने प्रगतिशील लेखक-संघ के पुन-र्संगठन के सम्बन्ध में श्रनेक संगत प्रश्न उठाये हैं। श्रपने निबन्ध में इन व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य नहीं था। श्रपनी श्रपील के द्वारा एक ऐसा श्रनु-कूल वातावरण पैदा करना ही मुझे श्रभिप्रेत था जिसमें भारत के तमाम लेखक सद्भावना-पूर्वक एक-साथ बैठकर व्यावहारिक प्रश्नों पर विचार करते श्रौर श्रपने दायित्व की गम्भीरता का श्रनुभव करके कोई सामान्य कार्यक्रम बनाते। इसी कारण मैंने बुनियादी प्रश्नों तक ही श्रपने को सीमित रखा श्रौर व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान की श्रोर केवल दिशा-संकेत ही किया। श्रब चूंकि निबन्ध प्रकाशित होने के पूर्व ही श्रापने कुछ ज़रूरी प्रश्न उठा दिये हैं, तो यह श्रच्छा होगा कि लेख के साथ इन प्रश्नों का उत्तर भी प्रकाशित करें[1]।

१, 'मानव श्रात्मा के शिल्पियों से' निबन्ध श्रधिक लम्बा होने के कारण यह 'प्रश्नोत्तर' उसके साथ प्रकाशित न हो सका था।

प्रगतिशील लेखक-संघ के बारे में आपने अन्य लेखकों की जिस 'धारणा' का उल्लेख किया है, वह निस्सन्देह निराधार नहीं है और मैं उससे अपरिचित भी नहीं हूँ। यह बात किसी समय कोरी 'धारणा' थी, लेकिन आज अगर प्रगतिशील लेखक-संघ की ओर देखें तो यह एक 'हक़ीक़त' है। इसलिए अपना निबन्ध लिखते समय मुझे इस वस्तु-स्थिति का पूरा अहसास था—पिछले आठ-दस वर्ष से है, जब यह एक 'धारणा' का रूप धारण कर रही थी। यही कारण है कि सन् १९४२ में जब हमारा देश संकटापन्न था और आसन्न 'फ़ाशिस्ट आक्रमण' के विरुद्ध भारत के लेखकों को संगठित करने का प्रश्न उठा तो हमने संकीर्ण मतवादियों की तरह इस बात का दुराग्रह नहीं किया कि संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए एक व्यापक आधार पर तमाम लेखकों को प्रगतिशील लेखक-संघ में ही सम्मिलित हो जाना चाहिए। ऐसा करना ग़लत होता, क्योंकि अनेक लेखक इसके लिए तैयार न थे, यद्यपि फ़ाशिस्ट-विरोधी संयुक्त मोर्चे के वे समर्थक थे। इसलिए एक वस्तु-दर्शी की हैसियत से हमें इस 'धारणा' के प्रारम्भिक रूप को भी स्वीकार करना पड़ा, यद्यपि उस समय प्रगतिशील लेखक-संघ में मार्क्सवादियों के अतिरिक्त और विचारों तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों के लेखक भी सम्मिलित थे, और जो सम्मिलित नहीं थे वे भी उसके साथ पूरी तरह सहयोग करते थे, और हम उनके साथ सहयोग करते थे। फलतः दिल्ली में 'भारतीय लेखक कॉन्फ्रेन्स' का अधिवेशन बुलाने के लिए हमने प्रगतिशील लेखक-संघ की ओर से अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि की पूरी मदद की। विचार था कि लेखकों के अन्य संगठनों की तरह प्रगतिशील लेखक-संघ भी इस नये व्यापक संगठन में इकाई की तरह सम्मिलित होगा। इसी प्रकार, सन् १९४७ के प्रारम्भ में जैनेन्द्र-कुमार ने जब पुनः तमाम लेखकों को एक ऐसे ही व्यापक संगठन में लाकर एकता के सूत्र में बाँधने का विचार प्रकट किया तो प्रगतिशील लेखक-संघ की ओर से मैंने न केवल उसका स्वागत किया, बल्कि उसके साथ पूरा सहयोग करके प्रस्तावित संगठन की प्रारम्भिक रूपरेखा भी तैयार की। इस दिशा में अभी हमारे प्रयत्न जारी ही थे कि दिल्ली में फ़साद शुरू हो गए, और देश के बंटवारे के साथ चारों ओर ऐसी अफ़रातफ़री मची कि इस विचार को एक अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देना पड़ा। प्रगतिशील लेखक-संघ के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सज्जाद ज़हीर को जब मैंने इस बारे में सूचित किया तो उन्होंने भी अपनी स्वीकृति दी और प्रस्तावित 'भारतीय साहित्य-सम्मेलन' में बाज़ाब्ता सम्मिलिन होने का इरादा प्रकट किया। अगर दंगा-फ़साद न हुआ होता, और यह नया संगठन स्थापित हो गया होता तो संभवतः प्रगतिशील लेखक-संघ उस समय ही उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया होता।

ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जब यह 'धारणा' अधिकांश में निराधार ही थी, उस समय भी वह मार्क्सवादी लेखक, जो प्रगतिशील लेखक-संघ का नेतृत्व कर रहे थे, दुराग्रही और संकीर्णतावादी नहीं बने। अर्थात् उन्होंने कभी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया कि प्रगतिशील लेखक-संघ से बाहर भी देश-भक्त, जनवादी और प्रगतिशील लेखक है,

और अगर वे किसी नये संगठन के अन्दर ही संगठित होने के आग्रही हैं, तो प्रगतिशील लेखक-संघ को भी उस व्यापक संगठन में सामूहिक रूप से सम्मिलित होने में आपत्ति नहीं हो सकती। अतः आज जब भारतीय लेखकों को 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' के सिद्धान्तों की बुनियाद पर एकजुट करने का प्रश्न हमारे सामने है, तो निश्चय ही हम 'संकीर्ण मतवादियों' की तरह इस बात का दुराग्रह नहीं कर सकते कि 'प्रगतिशील लेखक-संघ' ही लेखकों का 'संयुक्त मोर्चा' बन सकता है, या उसे ही हमें 'संयुक्त मोर्चा' बनाना है। ऐसी नीति का व्यावहारिक परिणाम अधिक-से-अधिक यह निकलेगा कि 'संकीर्णता-वाद' के दौर में जो मार्क्सवादी या उनके निकट हमदर्द लेखक प्रगतिशील लेखक-संघ से हट गए थे या हटा दिये गए थे, उनको ही वापस लाया जा सकेगा; और भारतीय लेखकों का एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा संभवतः प्रगतिशील लेखक-संघ के अन्तर्गत किसी संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित होने को तैयार न होगा, क्योंकि 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थक साथियों की संकीर्ण नीति ने उक्त 'धारणा' को इस समय एक हक़ीक़त बना दिया है, और उन्होंने इस बात का अनेक ढंगों से अनेक बार एलान भी किया है।

फिर मैंने अपने निबन्ध में प्रगतिशील लेखक-संघ का व्यापक जनवादी आधार पर पुनर्संगठन करने के लिए तमाम लेखकों से क्यों अपील की? क्योंकि प्रारम्भ से ही मार्क्स-वादी लेखक इस 'धारणा' के विरुद्ध संघर्ष करते आए हैं। प्रगतिशील लेखक-संघ जब स्थापित हुआ था, उस समय भारत के अधिकांश मुक्तिकामी, प्रगतिचेता लेखक इसमें सम्मिलित हुए थे, और जो नहीं हुए थे उनको भी इसमें ले आने की संभावनाएँ थीं, क्योंकि हर विचार और पार्टी के लेखक इस बात पर सामान्यतः सहमत थे कि एक व्यापक आधार पर प्रगतिशील लेखक-संघ को भारत के तमाम लेखकों का साम्राज्य-विरोधी संयुक्त-मोर्चा बनाना ज़रूरी है। कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध रखने वाले मार्क्सवादी लखकों के सामने भी कभी इस सीमा का उल्लंघन करके प्रगतिशील लेखक-संघ को पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना देने का संकीर्ण स्वार्थ नहीं था। अंग्रेज़ी हुकूमत ने अपने विरुद्ध भारतीय लेखकों को एक होते देखकर हमारे बीच फूट डालने की ग़रज से सबसे पहले 'स्टेट्समैन'-जैसे अखबारों द्वारा यह भ्रामक प्रचार शुरू करवाया कि प्रगतिशील लेखक-संघ कम्युनिस्ट पार्टी का खुला प्लेटफार्म है, और इसे चलाने के लिए मास्को से सोना आता है। सन्देह पैदा करके एक गुलाम देश में फूट डाल देना आसान काम होता है। अनेक नौकरीपेशा लेखक प्रगतिशील लेखक-संघ से अलग हो गए। इससे संघ के सरगर्म संगठनकर्ताओं में मार्क्सवादी लेखकों का बहुमत-सा दिखाई देने लगा और प्रत्यक्षतः ऐसी 'धारणा' के पैदा हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गई। इधर राजनीतिक पार्टियों के आन्तरिक झगड़ों और साहित्य-जगत् में सक्रिय प्रतिक्रियावादी प्रभावों और दक़ियानूसी विचारों की पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस 'धारणा' को बल पहुँचाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। हम लगा-तार इस भ्रामक 'धारणा' के विरुद्ध संघर्ष करते रहे, जिसका ही परिणाम था कि यद्यपि अनेक श्रेष्ठ लेखक इस धारणा से प्रभावित होकर प्रगतिशील लेखक-संघ में सम्मिलित

होने से अपना दामन बचाते रहे, लेकिन उन्होंने असहयोग नहीं किया। जिन मित्रों को सन् १६४१-४२-४३ के दिन याद हैं वे जानते हैं कि हिन्दी के अधिकांश लेखक पूरे उत्साह और हार्दिकता से 'हंस' के लिए लिखते थे, जो उस समय 'प्रगतिशील आन्दोलन' का मुख-पत्र बन गया था। मार्क्सवादी लेखकों की ओर से उनकी रचनाओं की तीव्र आलोचनाएँ भी होती थीं, लेकिन इससे परस्पर सौहार्द्र में फ़रक न आता था, क्योंकि ये आलोचनाएँ यथा-संभव गंभीर सैद्धान्तिक दृष्टि से ही की जाती थीं, उनमें एक उदात्त मार्क्सवादी नैतिकता का ओज और दीप्ति होती थी। उनका उद्देश्य किसी लेखक को खामखाह ज़लील करना नहीं होता था। हिन्दी में प्रगतिवादी या कहें कि मार्क्सवादी आलोचना की इस गौरव-शाली परम्परा के निर्माण में एक आलोचक और 'हंस' के तत्कालीन सम्पादक की हैसियत से मेरा काफ़ी योग रहा था, परन्तु यह एक खेदजनक बात है कि इस ऊँचे सैद्धान्तिक धरातल को कायम रखने के लिए मुझे जितनी सतर्कता दिखानी चाहिए थी, उतनी मैं न दिखा सका, जिसके फलस्वरूप शरत् तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के सम्बन्ध में डा० रामविलास की सिद्धान्त-हीन, रुचि-वैचित्र्यवादी, और केवल एक निम्नकोटि का आनन्द पाने के लिए चटख़ारे ले-लेकर पढ़ी जाने योग्य आलोचनाएँ भी 'हंस' में प्रकाशित होती रहीं, और इस प्रकार 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' का बीज बोया जाता रहा—यद्यपि दूसरी तरफ मैं इस हीन अ-मार्क्सवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध उस समय से ही चेतावनी भी देता रहा। लेकिन चूँकि यह प्रवृत्ति प्रगतिशील आन्दोलन की मुख्य विचार-धारा नहीं थी, इसलिए तमाम लेखकों में परस्पर सहयोग की भावना पूर्ववत् बनी रही।

प्रगतिशील आन्दोलन पर उन दिनों विरोधियों की ओर से दो आक्षेप किये जाते थे। पहला आक्षेप यह था कि प्रगतिवादी लेखकों की रचनाओं में अश्लीलता और नग्नता का चित्रण होता है। यह आक्रमण एकदम निराधार भी नहीं था, क्योंकि 'छायावाद' की 'अशरीरी' कल्पना की 'स्वाभाविक (?) प्रतिक्रिया के बहाने कतिपय कम उन्नत भाव-चेतना के लेखकों ने 'जीवन का यथार्थ और मांसल अभिव्यक्ति' करने का नारा देकर अपनी कहानियों और कविताओं में पिछड़े, कुरूप और यथासम्भव अनैतिक जीवन का यथातथ्य, फोटोग्राफिक, प्रकृत-चित्रण करना शुरू कर दिया था, और इस प्रकार एक हीन रुचि की, कला-विहीन, भाव-शून्य प्रकृतवादी (Naturalistic) रचनाएँ, जो मूलत: Formalistic और प्रतिक्रियावादी होती हैं, प्रगतिशील साहित्य के नाम पर होने लगी थीं। दूसरा आक्षेप यह था कि प्रगतिवादी साहित्य को मात्र प्रोपैगैण्डा बना देना चाहते हैं। इस आक्षेप में भी आंशिक सत्य था, क्योंकि अधिकतर नये लेखक सस्ती ख्याति पाने की ग़रज से ही किसान और मजदूर के बारे में कविताएँ लिखने लगे थे, यद्यपि मज़दूर-किसान के जीवन और उनकी समस्याओं से उनका कोई दूर का सम्बन्ध भी नहीं था, जिसके कारण अक्सर उनकी उद्बोधनात्मक कविताओं में सच्ची हार्दिक सहानुभूति के स्थान पर मध्यवर्गी कृपा-भाव, अतिरंजित अलंकार-योजना द्वारा पैदा किया गया कृत्रिम ओज और व्यर्थ का शब्द-जाल ही होता था। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'कुत्सित समाज-

शास्त्रीयता' की ही सजातीय थीं, और धीरे-धीरे अपनी आन्तरिक एकता का अहसास करके सहज भाव से खिंचकर एक-दूसरे के निकट आ रही थीं। मार्क्सवादी आलोचकों ने इन आक्षेपों का उत्तर देते समय इन प्रवृत्तियों का भी विरोध किया, परन्तु उस समय तक हमारा अनुमान था कि सम्भवतः समय के साथ-साथ ये लेखक-आलोचक भी उन्नति करते जायँगे, धीरे-धीरे हक़ीक़त-पसन्द लेखक बन जायँगे, और उनकी रचनाओं में कला का परिमार्जन और ओज आ जायगा। इसीलिए जिस जागरूकता से मार्क्सवादी लेखकों को 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के प्रारंभिक रूपों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए था, हमने नहीं किया। अन्ततः इस ढिलाई का परिणाम यह निकला कि प्रगतिशील लेखक-संघ पर पूरी तरह छा करके 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थकों ने हमारे आन्दोलन की उदात्त, जनवादी परम्पराओं को धूल में मिला दिया और प्रारम्भ में अन्य लेखकों की जिस 'धारणा' को साम्राजी प्रचार और दक़ियानूसियों के आक्षेपों ने मुख्यतः एक भ्रामक आधार दिया था, उस 'धारणा' को हमारे 'संकीर्णतावादी कुत्सित समाज-शास्त्री' साथियों ने अपने 'अमल' और अपनी 'रचनाओं' से आज हक़ीक़त बना दिया है।

प्रारम्भ में प्रगतिशील लेखक-संघ का व्यापक जनवादी आधार बनाये रखने के लिए मार्क्सवादी लेखकों ने विरोधियों के लाँछनों और आक्षेपों और दोस्तों की कुत्सित साहित्य-चेष्टाओं के विरुद्ध और उनसे उत्पन्न इस 'धारणा' को निर्मूल करने के लिए जो संघर्ष किया था, उसकी उदात्त परम्परा के प्रभाव में पड़कर ही मैंने अपना सुझाव दिया। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आम लेखकों को यदि यह सुझाव अमान्य हो तो हम उनके साथ मिलकर कोई नया संगठन बनाने की बात को ग़लत और आपत्तिजनक समझें और अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग ही पकाते जायँ। फिर भी मेरा सुझाव अस्पष्ट और अनिश्चित प्रकार का है—उसका आधार एक उदात्त पूर्व परम्परा है और उसमें बीच के दौर में 'कुत्सित समाज-शास्त्रियों' द्वारा पैदा की गई संकीर्ण, एकांगी परिस्थिति को नज़र-अन्दाज़ किया गया है। और यह ग़लत है। आपने इस संगत प्रश्न को उठाकर मुझे अपने सुझाव की असंगति पर विचार करने का जो अवसर दिया है, उसके लिए आभारी हूँ, और अब मैं इस सम्बन्ध में अपने सुझाव सविस्तर पेश करता हूँ।

प्रगतिशील लेखक-संघ के सीधे-टेढ़े विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखकर हमारे लिए अब यही उचित होगा कि हम इस वांछित अथवा अवांछित स्थिति को स्वीकार कर लें कि प्रगतिशील लेखक-संघ प्रधानतः कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्ध रखने वाले मार्क्सवादी (दुर्भाग्य से इस स्थान पर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थकों को भी इस कोटि में ही रखने के लिए विवश हूँ) लेखकों का संगठन है, और उसको पुनः तमाम जनवादी लेखकों का संयुक्त मोर्चा बनाने की संदिग्ध चेष्टा में जितना समय और श्रम का अपव्यय करना होगा, उसकी अपेक्षा यह काम ज़्यादा सुगम होगा कि 'शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद' के सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यकारों के अन्य संगठनों और श्रेष्ठ लेखकों का व्यक्तिगत सहयोग प्राप्त कर, सबकी सामान्य चेष्टा और विचारणा से एक 'अखिल भारतीय

जनवादी लेखक सम्मेलन' स्थापित किया जाय, जिसमें प्रगतिशील लेखक संघ, साहित्यकार-संसद् और दूसरी प्रान्तिक, स्थानिक और विभिन्न भाषाओं के लेखकों की संस्थाएँ विभिन्न इकाइयों के रूप में सम्मिलित हों और जो लेखक किसी साहित्य-संस्था से सम्बन्ध न रखते हों, वे व्यक्तिगत रूप से सम्मिलित हों। 'भारतीय जनवादी लेखक-सम्मेलन' कैसे बुलाया जाय, जो संगठन बने, उसके उद्देश्य क्या हों, विस्तृत कार्य-क्रम क्या हो, विधान कैसा हो—आदि का निर्णय पहले से नहीं किया जा सकता, इसलिए यहाँ इन प्रश्नों पर विचार करना अप्रासंगिक होगा। ऐसे एक सामान्य संगठन की अतीव आवश्यकता है, इस बात से निस्संदेह अधिकांश लेखक सहमत होंगे और यही सबसे महत्त्वपूर्ण बात है।

प्रगतिशील लेखक-संघ को मार्क्सवादी लेखकों का संगठन स्वीकार कर लिया जाय तो फिर उसका अपना कार्य-क्रम क्या हो ? क्या वह कम्युनिस्ट-पार्टी का प्रचार-केन्द्र ही न बन जायगा ? क्या फिर उसके पुनर्संगठन की आवश्यकता नहीं रह जाती ?—ये कतिपय प्रश्न अनिवार्यतः उठते हैं।

इस सम्बन्ध में कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर भी प्रारम्भ से ही काफ़ी भ्रम फैला हुआ है। सबसे पहले पुनर्संगठन के प्रश्न को लें। वर्तमान प्रगतिशील लेखक संघ को भंग करके नये नाम से, नये उद्देश्यों के आधार पर उसका पुनर्संगठन ज़रूरी है। जब तक मार्क्सवादी लेखकों के अन्दर से 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति को सदा के लिए निर्मूल नहीं कर दिया जाय, उस समय तक हमारे देश में 'मार्क्सवाद' की विचार-धारा विकास नहीं कर सकती, न भारत के जनवादी लेखकों में एकता पैदा करके उन्हें एक व्यापक संगठन में इकट्ठा ही किया जा सकता है। वस्तुतः एकता मार्क्सवादी लेखकों में भी नहीं हो सकती, क्योंकि उनकी एकता का आधार 'मार्क्सवाद' ही हो सकता है, 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' नहीं। पिछले पाँच-सात वर्षों में 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' ने हमारे देश में मार्क्सवाद को जितनी क्षति पहुँचाई है, उसका अनुमान लगाना आसान काम नहीं है। मार्क्सवाद और साहित्य-कला से सम्बन्धित हर प्रश्न पर इस प्रवृत्ति ने ऐसा गड़बड़-घोटाला किया है कि उसके दुष्प्रभावों को मिटाने में कई वर्ष और अथक परिश्रम लग जायगा। इसलिए अगर 'मार्क्सवादी' विचार-धारा को विकास और उन्नति करनी है, तो हम अविलम्ब प्रगतिशील लेखक-संघ का पुनर्संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि उसमें 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति के विरुद्ध सतर्क होकर अविराम संघर्ष करने की सुविधा प्रत्येक मार्क्सवादी लेखक को प्राप्त हो। इस प्रवृत्ति के समर्थकों के गिरोह या गुट के प्रति मोह और पक्षपात दिखाकर हम इस गिरोह का ही हित-साधन कर सकते हैं, जनता और मार्क्सवाद का नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रगतिशील लेखक-संघ से इस गुट के लेखकों को निर्वासित कर दिया जाय, बल्कि यह कि उन्हें स्वयं अपनी कुत्सित प्रवृत्ति से संघर्ष करने और साहित्य रचना और अध्ययन द्वारा मार्क्सवाद को सही ढंग से सीख-समझकर सच्चे मार्क्सवादी लेखक बनने का पूरा अवसर देना चाहिए, और उन्हें दूषित वातावरण को और ज्यादा दूषित करने से वंचित कर देना चाहिए। इसके लिए यह ज़रूरी

है कि प्रगतिशील लेखक-संघ का मार्क्सवादी लेखकों की संस्था के रूप में नये सिरे से जनवादी आधार पर संगठन करने के लिए एक अधिवेशन जल्द-से-जल्द बुलाया जाय जिसमें प्रत्येक भाषा के सभी मार्क्सवादी लेखकों को निमंत्रित किया जाय। यहाँ निम्न चार बातों को दृष्टि में रखकर प्रगतिशील लेखक-संघ का पुनर्संगठन किया जाय। १—शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के लिए भारतीय साहित्यकारों और जनता के संघर्ष-आन्दोलन को तेज़तर करने के लिए अपनी साहित्यिक रचनाओं और संगठन-कार्य द्वारा मार्क्सवादी लेखक क्या कर सकते हैं, और उन्हें कैसे, क्या करना चाहिए। २—मार्क्सवादी साहित्य में 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की प्रवृत्ति के विरुद्ध सजग संघर्ष करने के लिए कैसे-क्या करना चाहिए। ३—भारत में सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अपने देश के साहित्य और इतिहास की अपेक्षा में आलोचना और समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साहित्य-निर्माण के लिए कैसे-क्या करना चाहिए! ४—अपने देश की भाषाओं में मार्क्सवादी 'क्लासिक' ग्रन्थों और देशी-विदेशी भाषाओं के रचनात्मक साहित्य की महान् कृतियों और प्रगतिशील रचनाओं आदि के अनुवाद और प्रकाशन के लिए कैसे-क्या किया जाय।

अभी तक यह सारा महत्त्वपूर्ण कार्य अराजक रीति से ही चलता-चलाता आया है, और इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। हमारे देश की प्रत्येक भाषा में मार्क्सवादी लेखकों की काफ़ी बड़ी संख्या है—इन लेखकों में मैं पत्रकारों को नहीं शामिल कर रहा, क्योंकि उनका कार्य साहित्य-सृजन नहीं है। जो लेखक साथ ही पत्रकार भी हैं, उनकी बात अलग है। दरअसल यहाँ मेरे ध्यान में रचनात्मक साहित्य के निर्माताओं, कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों, कहानी-लेखकों, आलोचकों के अतिरिक्त समाज-शास्त्रियों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, मनोवैज्ञानिकों, पुरातत्त्ववेत्ताओं, नृ-शास्त्रविज्ञों, भूगोल शास्त्रियों आदि मानव-शास्त्रों, संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्रों में अपनी खोज और लेखन से भाग लेने वाले उन तमाम लेखकों की बड़ी संख्या भी है, जो मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, और जिनको हमें भुला नहीं देना चाहिए। इन सब साथियों को एकत्र किया जाय तो निश्चय ही मार्क्सवादी लेखकों की काफ़ी बड़ी तादाद बन जाती है, और यदि एक सुविचारित और सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत इन तमाम साथियों के साहित्यिक और रचनात्मक प्रयत्नों को संगठित किया जा सके, तो इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े समय में ही भारत के मार्क्सवादी लेखक विचार-जगत् के हर क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण विधेयात्मक भूमिका खेल सकेंगे, और देश की चिन्तना को व्यापक रूप से प्रभावित कर सकेंगे।

यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि प्रगतिशील लेखक-संघ को मार्क्सवादी लेखकों का संगठन बनाने का यह अर्थ नहीं है कि उसे कम्युनिस्ट पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना दिया जाय। ऐसा करना ग़लत होगा। नये नाम से पुनर्संगठित प्रगतिशील लेखक-संघ को हर सूरत में एक साहित्यिक संस्था ही बना रहना चाहिए, पार्टी का प्रचार-केन्द्र नहीं। मैं जानता हूँ कि ऐसा कहने पर 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के समर्थक साथियों को घोर आपत्ति होगी और वे किसी व्यक्तिवादी, मध्यवर्गी मनोवृत्ति से इस

बात का सम्बन्ध जोड़ने के लिए दलीलें तलाश करेंगे और लेनिन-स्टालिन की कृतियों को आद्यन्त उलट-पलट डालेंगे। लेकिन हक़ीक़तपसन्दी का यह तकाज़ा है कि जब हम किसी विषय पर सोचें तो उसके पूर्वापर सम्बन्धों पर भी निगाह रखें और अन्य घटनाओं, वस्तुओं और विषयों से जुड़ने वाले उसके सम्बन्ध-सूत्रों को भी ध्यान में रखें, ताकि हमारा सोचना एकांगी न हो जाय। इसके अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टी ही देश की एकमात्र ऐसी संस्था नहीं है, जिसकी विचारधारा का आधार मार्क्सवाद हो। और अनेक वामपक्षी दल और संस्थाएँ और व्यक्ति मार्क्सवाद को जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं। वस्तुतः कम्युनिस्ट पार्टी भी इधर कई वर्षों से अपनी ग़लत समझ के कारण भारतीय जनता के जनवादी हितों को तिलांजलि देकर इतनी अधिक पथ-भ्रष्ट हो चुकी थी कि सही मार्ग पर आने में न जाने कितने वर्ष लगेंगे। तब तक मार्क्सवादी लेखक यदि पहले की तरह ही पार्टी के पिछलग्गू बने रहे तो वे एक दूषित चक्र के भीतर ही चक्कर काटते रहेंगे। किन्तु यदि वे स्वतन्त्र रूप से कार्य करें तो मार्क्सवादी लेखकों के पास अपने साहित्य-क्षेत्र का स्वयं इतना कार्य होगा या होना चाहिए कि संघ को पार्टी का प्रचार-केन्द्र बना देने का अर्थ होगा कि लेखकों की क्षमताओं का प्रयोग मार्क्सवादी विचारधारा और जनता के हित में जिस सीमा तक किया जा सकता है या किया जाना चाहिए, उस सीमा तक न करके, उनका अपव्यय कराया जाय। कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण के साथियों को यह बात इसलिए नापसन्द होगी कि उस समय साहित्य-रचना का काम बच्चों का खेल नहीं रह जायगा, और सस्ती ख्याति के मार्ग बन्द हो जायँगे और उन्हें भी अपने कार्य को गम्भीरता और ज़िम्मेदारी के साथ निभाना पड़ेगा। तब साहित्य-रचना एक कठोर जीवन साधना बन जायगी।

इसलिए मेरी निश्चित राय है कि पार्टी का प्रचार-केन्द्र प्रगतिशील लेखक-संघ से अलग होना चाहिए। इस प्रचार-केन्द्र का संगठन कैसे और किस आधार पर किया जाय, इस पर कोई परामर्श देना विषयान्तर होगा। विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पार्टी के दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में काम करने वाले पत्रकार और संवाददाता साथियों को अपना अलग संगठन बनाना चाहिए, और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से (अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण से) भारतीय पत्रकार-कला की समस्याओं का हर पहलू से अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि पार्टी के पत्रों को अधिक-से-अधिक जन-प्रिय और उच्चकोटि का कैसे बनाया जाय और पार्टी की सही नीति और कारकर्दगियों का श्रेष्ठ और प्रभावकारी ढंग से कैसे प्रचार और प्रकाशन किया जाय—यह उनका मुख्य काम है। इसके अतिरिक्त, अखिल भारतीय पत्रकार-संघ में प्रेस की स्वतन्त्रता और पत्रकारों के अधिकारों के लिए किस प्रकार लड़ा जाय, ये कतिपय प्रश्न हैं जिनको ध्यान में रखकर पार्टी के पत्रकारों की संस्था को भारतीय पत्रकार-संघ जैसे संगठन में सम्मिलित होना चाहिए।

प्रगतिशील लेखक-संघ का विस्तृत कार्य-क्रम क्या हो, इस सम्बन्ध में तफ़सील से सुझाव देने का यह अवसर नहीं है। जिन चार बातों के आधार पर संघ का नये नाम से

'मार्क्सवादी लेखक-संघ' के रूप में पुनर्संगठन ज़रूरी है उनको दृष्टि में रखकर कुछ मोटी-मोटी बातें ही स्पष्ट कर देना उचित होगा।

१. 'मानव-आत्मा के शिल्पियों से' निबंध में भारत के तमाम लेखकों से जीवन-वास्तव को मूर्त, सम्पूर्ण और सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित करने और शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के महान् विचारों को अपनी कला-कृतियों द्वारा जन-जन की मूर्त्त भावना बनाने के लिए मैंने जो अपील की है, वह मार्क्सवादी साहित्यकारों पर भी समान रूप से लागू होती हैं। मार्क्सवादी लेखक भारतीय साहित्य की व्यापक जनवादी परम्परा के अंग ही हैं, उससे बाहर नहीं हैं। अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा अन्य लेखकों की तरह इस परम्परा को उत्त-रोत्तर विकसित करते जाना उनका भी कर्तव्य है—एक प्रकार से कुछ अधिक ही। जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करते समय मार्क्सवादी लेखकों को भी कला की सचाई का पालन करना है। उदाहरण के लिए, किसी घटना, आन्दोलन, प्रदर्शन, व्यक्ति या परिवार के जीवन का मूर्त, सम्पूर्ण चित्रण करते समय यदि मार्क्सवादी साहित्यकार किसी कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता का चरित्र पेश करता है, तो उसे इस पात्र को एक आदर्श, मर्यादापुरुषोत्तम चरित्र नहीं बना देना चाहिए। कम्युनिस्ट मज़दूर या किसान पात्र निर्व्यक्त, निर्विकार प्राणी नहीं है—इस वर्ग समाज के ही प्राणी हैं। मैं तो कहूँगा कि मार्क्सवादी लेखकों को रचनात्मक दृष्टिकोण से अपने कम्युनिस्ट पात्रों की कमज़ोरियों और ख़ामियों की भी तीव्र आलोचना करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि वे हक़ीक़तपसन्दी का दामन न छोड़ें। पार्टी का भी कर्तव्य है कि वह मार्क्सवादी लेखकों की रचनाओं में निहित सही आलोचनाओं पर पूरी संजीदगी से ग़ौर करे और उनका स्वागत और आदर करे। लेखक अगर 'मानव-आत्मा के शिल्पी' हैं, तो कम्युनिस्ट भी 'मानवों' की श्रेणी में ही आते हैं, वे कहीं आसमान से नहीं उद्भूत हुए, इस वर्ग-समाज में ही पैदा हुए और पले हैं। मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है, पर यह दृष्टिकोण जादू की लकड़ी नहीं है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्व-गुण-सम्पन्न' बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी कवियों, कथाकारों और नाटककारों आदि का अन्य लेखकों के साथ मिलकर शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के संघर्ष में अधिका-धिक और श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य की रचना करना ही मुख्य काम है।

२. 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' द्वारा पैदा की गई तबाही के कारण मार्क्सवादी आलोचकों का दायित्व आज बहुत बढ़ गया है। इस अबुद्धिवादी और अवसरवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष का तात्पर्य केवल यही है कि मार्क्सवादी आलोचना का निरन्तर विकास करके उसे अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक बनाया जाय। यह एक बहुत व्यापक संघर्ष है, क्योंकि आलोचना के प्रतिमानों, मूल्य-निरूपण के सिद्धान्तों आदि की स्थापना करना और उनके आधार पर प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का मूल्यांकन करना आदि सारे काम इसके अन्तर्गत आते हैं। साथ ही मानव-विज्ञानों के अन्य क्षेत्रों में भी जो शास्त्रीय

साहित्य पैदा हो रहा है, उसकी विस्तृत सिद्धान्तपूर्ण गम्भीर आलोचना करना भी नितान्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए कोई इतिहास या वेदान्त-दर्शन के सम्बन्ध में पुस्तक निकलती है, तो ऐसी पुस्तकों की चलताऊ या टकसाली आलोचना से काम नहीं चलेगा, न पूर्व-धारणाओं के आधार पर लेखक या पुस्तक का नाम देखकर ही उसे रद्दी क़रार देने से काम चलेगा। इसी प्रकार तुलसीदास, कालिदास या शेक्सपीयर आदि विश्व-साहित्य के महान् लेखक क्यों आज भी जन-कवि या जनता के हक़ीकी लेखक हैं, और हमेशा रहेंगे, उनकी कृतियों का मूल्य क्यों स्थायी या अमर है और जनता में उनकी कृतियों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाना क्यों ज़रूरी है——आदि प्रश्नों का भी मार्क्सवादी आलोचना को वैज्ञानिक उत्तर देना है। कुत्सित समाज-शास्त्रीय आलोचकों की तरह केवल 'तुलसी तब हहाँ [illegible]' जैसे दस-पाँच उद्धरणों के आधार पर तुलसीदास या किसी अन्य लेखक की महत्ता को सिद्ध करना व्यर्थ है——इस रीति से ही कथावाचक आज तक तुलसीदास को हर प्रकार की धर्मान्धता और प्रतिक्रिया का समर्थक सिद्ध करते आए हैं। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना के सामने बहुत बड़ा काम है। प्रत्येक भाषा में मार्क्सवादी आलोचकों ने इस दिशा में काफ़ी उपयोगी काम किया भी है, जिसे कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की प्रवृत्ति ने झुठलाने या विस्मृत करने की कोशिश की है। ऐसे तमाम आलोचना-साहित्य की परीक्षा करके, उसके वैज्ञानिक अंश का सम्पादन और प्रकाशन ज़रूरी है। इसी प्रकार पिछले पन्द्रह वर्षों में मार्क्सवादी लेखकों ने जो श्रेष्ठ और मूल्यवान रचनात्मक साहित्य पैदा किया है, उसका संकलन और प्रकाशन भी ज़रूरी है, ताकि दोस्तों या विरोधियों की यह धारणा निर्मूल की जा सके कि मार्क्सवादी लेखक कलात्मक साहित्य की मर्यादाओं को भंग करके केवल एकांगी और भावहीन साहित्य ही रचते हैं।

३. इतिहास, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि अन्य मानव-विज्ञानों की ओर अभी तक मार्क्सवादी लेखकों ने सामूहिक रूप से ध्यान नहीं दिया है। वस्तुतः हमें हर क्षेत्र में बच्चों से लेकर उच्च-से-उच्च शिक्षा-प्राप्त उद्‌बुद्ध पाठकों के लिए रचनात्मक और वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण करना है। यह कार्य अन्य लेखकों और खोज करने वाले विद्वानों का ही नहीं है। प्रत्येक भाषा के मार्क्सवादी लेखकों को इस महत् कार्य में भाग लेकर न केवल तमाम क़ौमियतों की भाषाओं के विकास में सहायक होना चाहिए, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके साहित्य का भंडार भी भरना चाहिए और जन-शिक्षा के कार्य में आगे रहना चाहिए। मैंने 'जनपदीय भाषाओं के प्रश्न'[1] पर अपनी रिपोर्ट में जनपदीय भाषाओं के अलग प्रगतिशील लेखक-संघों की स्थापना का सुझाव पेश करते हुए उनके कार्यक्रम को तीन सूत्रों में व्यक्त किया था——अर्थात् कहा था कि 'जन-भाषा', जन-शिक्षा' और 'जन-साहित्य' ही जनपदीय प्रगतिशील लेखक-संघों का कार्यक्रम होना चाहिए। मैं समझता हूँ कि यह सुझाव आज भी सर्वथा सही है। देश की तमाम क़ौमियतों की भाषाओं

१. इस संग्रह में अन्यत्र प्रकाशित।

के मार्क्सवादियों को इस कार्यक्रम को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

४. इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में विश्व-साहित्य और मार्क्सवादी साहित्य के अनुवाद का प्रश्न भी काफ़ी व्यापक है, और इस ओर तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, देश की किस भाषा में शेक्सपीयर, बाल्ज़क, गेटे, तॉल्स्तॉय, पुश्किन, गोर्की, आदि की तमाम श्रेष्ठतम रचनाओं का प्रामाणिक अनुवाद हो चुका है? किस भाषा में मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, स्टालिन तथा अन्य मार्क्सवादी विचारकों की तमाम कृतियों का प्रामाणिक अनुवाद हो गया है?

शान्ति, स्वतन्त्रता और जनवाद के संघर्ष को तेज़ तर करने के लिए ये सारे रचनात्मक कार्य ज़रूरी हैं। ज्ञान और चेतना की मशाल ही साहित्यकारों का सबसे बड़ा अस्त्र है; मार्क्सवादी लेखकों का कर्तव्य है कि इस मशाल को उठाकर ही जनता के बीच में जायें, कोरे सिद्धान्त-प्रचारक की हैसियत से नहीं। साहित्य-निर्माण उनकी जीवन-साधना बन जाना चाहिए।

इसीलिए प्रगतिशील लेखक-संघ को मार्क्सवादी लेखकों की संस्था के रूप में नये सिरे से संगठित करना चाहिए, और सुचारु रूप से उसका कार्य-संचालन करने के लिए उसके अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के एक ही विषय से सम्बन्ध रखने वाले लेखकों की विभिन्न परिषदों की स्थापना होनी चाहिए, और उन्हें बाक़ायदा एक विस्तृत योजना के अनुसार साहित्यिक कार्य करना चाहिए। अन्त में, प्रगतिशील लेखक-संघ को 'भारतीय जनवादी लेखक-सम्मेलन' की स्थापना में पूरा भाग लेना चाहिए, और मार्क्सवादी लेखकों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अन्य साहित्य-संस्थाओं और साहित्यकारों के साथ अपने रिश्ते अटूट बनाने चाहिएँ—उनके साथ पूरा सहयोग करके और अपने साहित्यिक कार्यों में उनका सहयोग प्राप्त करके।

रही लेखकों के आदर-सम्मान की बात। पिछले कई वर्षों से कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ से इस बारे में कोताही बरती गई है, लेखकों की उपेक्षा की गई है या वक्त-ज़रूरत पर ही किसी लेखक को सम्मानित किया गया है और काम निकल जाने पर उसकी बात भी नहीं पूछी गई। निश्चय ही कम्युनिस्ट पार्टी को पूरी सजगता से इस व्यवहार को त्याग देना चाहिए, क्योंकि लेखकों या किसी भी क्षेत्र के निर्माताओं (मज़दूर, किसान, दस्तकार, कलाकार आदि) के प्रति अवहेलनापूर्ण व्यवहार मूलतः पूंजीवादी समाज के वर्ग-सम्बन्धों और बुर्जुआ नैतिकता ही का आईनादार है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, कार्यकर्त्ताओं और मार्क्सवादी लेखकों को अपने उच्च नैतिक विचारों के अनुकूल ही जनवादी साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का सहज भाव से आदर-सम्मान करना लाज़िमी है। हम उनके विचारों और कृतियों की खुलकर सैद्धान्तिक आलोचना करें, पर मनुष्योचित सौजन्य और सहानुभूति को त्याग करके नहीं, संकीर्ण हितों की दृष्टि से नहीं, एकांगी भी नहीं कि बुराइयाँ तो देखें और अच्छाइयाँ नज़र-अन्दाज़ कर दें। सकल जनता के लिए मानव संस्कृति की सारी ज़िन्दा और जावेद मीरास का दावा करने वाले, कला-

संस्कृति का निर्माण करने वाली प्रतिभाओं को मानव-द्रोहियों और प्रतिक्रियावादियों के हाथों में तोहफ़ा बनाकर भेंट देने की हिमाक़त नहीं कर सकते---न प्राचीन लेखकों को और न वर्तमान लेखकों को ही। मार्क्सवादी लेखकों को विशेष रूप से याद रखना चाहिए कि एक ग्रियर्सन को साम्राज्यवादी और एक राहुल को प्रतिक्रियावादी घोषित करने में तो केवल ज़बान हिलानी पड़ती है, लेकिन मनुष्य की संस्कृति को आगे ले जाने के लिए इन मनीषियों ने जितना काम किया है, उसका एक शतांश भी कर लेना हर व्यक्ति के बस की बात नहीं है---धारा-प्रवाह गालियाँ बकने या बड़े-बड़े शब्दों को बाजीगर के गोलों की तरह कंठ से निकालते जाने की अपार क्षमता होने पर भी ! जिस प्रकार जीवन के अन्य कार्य-व्यापारों में, उसी प्रकार साहित्य की दुनिया में भी रचनात्मक कार्य और कृतित्व ही सम्मानित होता है, ज़बान-दराज़ी का गुण नहीं। मार्क्सवाद भी यही सिखाता है।

—जनवरी १९५१

२२

एशियाई साहित्य में लोहे की दीवार

भारत की तरह एशिया के अन्य देशों का आधुनिक साहित्य भी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनों के क्रोड़ में जनमा और पनपा हुआ सांस्कृतिक पुनर्जागरण का साहित्य है। हमारी शिक्षा-दीक्षा कुछ ऐसी रही है कि प्राचीन यूनानी और लातीनी साहित्यों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, फ्रान्सीसी, रूसी, यहाँ तक कि जर्मन, इतालवी, स्पैनिश, डेनिश और नॉर्वीजियन भाषाओं के आधुनिक और एक सीमा तक मध्यकालीन साहित्यों का विवरण तो हमें रटा हुआ है, लेकिन दुर्भाग्य से एशियाई देशों के प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्यों के बारे में हमारी जानकारी अक्षम्य रूपमें नगण्य है। इस्लामी सम्पर्क और प्रभाव के कारण फ़ारसी और अरबी के प्राचीन साहित्य मे एक विशेष वर्ग का परिचय अवश्य है, लेकिन आम तौर पर लोगों ने शेख़ सादी, मौलाना रूमी और हाफ़िज़ आदि के नाम ही सुने हैं, भारतीय भाषाओं में उनकी कृतियों के अच्छे अनुवाद भी उपलब्ध नहीं हैं। अन्य एशियाई भाषाओं के साहित्यों का यदि यत्किंचित् परिचय फुटकर निबन्धों या अनुवादों के द्वारा हमें यदा-कदा मिला है तो अंग्रेज़ी के माध्यम से ही, जो अत्यन्त स्वल्प, सेकिण्ड हैण्ड है और स्वच्छन्द सांस्कृतिक आदान-प्रदान का परिणाम नहीं है। यह अज्ञानता कई सौ वर्षों मे सारे एशियाई देशो के सांस्कृतिक विकास में एक दुर्निवार बाधा बनी हुई है, जिनमें हमारे साहित्यों में एक विचित्र प्रकार की संकीर्णता पैदा कर दी है।

योरप और अमेरिका के देशों में ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक मूलभूत समानताएँ हैं, इसका आधार केवल जातिगत नहीं है। किसी एक ही प्राचीन जाति के रक्त की अमिश्रित धारा इन श्वेतांग जातियों में प्रवाहित नहीं हो रही। इस एकता का आधार केवल धार्मिक भी नहीं है, क्योंकि उनमें ईसाई और यहूदी दोनों हैं। वस्तुतः इस एकता का आधार ऐतिहासिक है, जिसके अन्तर्गत इन देशों के भौगोलिक सान्निध्य के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन की परस्परिता और दीर्घकालीन स्वच्छन्द-सम्पर्क आदि सभी बातें शामिल हैं। हमारे लिए वाल्मीकि आदि-कवि हैं, योरपीय देशों के लोगों के लिए होमर। यहाँ नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि समीक्षा-शास्त्र के पितामह हैं, वहाँ अफ़लातून और अरस्तू हर देश और जाति के समीक्षकों के पितामह हैं। इतना ही नहीं, इताली का दान्ते, स्पेन का सर्वान्ते, इंगलैण्ड का शेक्सपीयर, फ्रान्स का बाल्ज़ाक, जर्मनी का गेटे, रूस का तॉलस्तॉय, नॉर्वे का इब्सन, अमरीका का वाल्ट ह्विटमैन—ये सब और असंख्य दूसरे उपन्यासकार, कवि, नाटककार, संगीतज्ञ, चित्रकार,

नृत्यकार, मूर्तिकार, दार्शनिक, विचारक आदि योरपीय-अमरीकी साहित्य, कला और संस्कृति की ऐसी सुविशाल और समृद्ध परम्परा के अन्तर्गत समान रूप से आते हैं कि इनमें से किसी लेखक, कलाकार या विचारक का जन्म चाहे किसी विशेष भाषा-भाषी जाति, देश या काल में क्यों न हुआ हो, उसकी रचनाएँ और कृतियाँ अनूदित और प्रचारित होकर थोड़े हेर-फेर से सभी भाषाओं, देशों और जातियों की अपनी सांस्कृतिक परम्परा का अभिन्न अंग बन जाती हैं। इसका कारण केवल यह है कि देश-काल की परिस्थितियों में वैषम्य अथवा भेद होने के बावजूद योरपीय-अमरीकी देशों के लोगों की सांस्कृतिक चेतना में एक साम्य है। दीर्घ-कालीन सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण ही योरपीय-अमरीकी देशों की चेतना में इतनी समानताओं का विकास हुआ है। किन्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस स्वच्छन्द सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने ही योरप-अमेरिका के सभी देशों को अपने-अपने सांस्कृतिक विकास में अगग्रण्य बना दिया है।

प्रथम महायुद्ध के बाद ही योरपीय देशों में कुछ ऐसे अभूतपूर्व राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन हुए कि अनेक लोगों ने योरप को पूरब और पश्चिम में बाँट कर एक रेखा-सी खींच दी। यह प्रचारित किया जाने लगा कि इस कल्पित लौह-दीवार से पश्चिम के राष्ट्र, पूरब के राष्ट्रों से धर्म, सभ्यता, संस्कृति, समाज-व्यवस्था आदि हर बात में भिन्न हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद तो इस कल्पित लौह-दीवार की सीमा-रेखा और भी पश्चिम की ओर सरक गयी, यानी योरप के आठ-नौ देश लौह-दीवार के पूरब की ओर पहुँच गए। दोनों पक्षों के राष्ट्रों ने इस लौह-दीवार को मनुष्य की कल्पना में वास्तविक रूप धारण कराने में कुछ-न-कुछ मदद की है। वस्तुतः लौह-दीवार जैसी कोई चीज़ वहाँ नहीं है। हुआ सिर्फ इतना है कि सामाजिक क्रान्तियों के फलस्वरूप योरप के राष्ट्र दो गुटों में बँट गए हैं--पूँजीवादी राष्ट्र एक ओर हैं, समाजवादी राष्ट्र दूसरी ओर। और तब से दोनों ओर का स्वच्छन्द सांस्कृतिक आदान-प्रदान यदि बिलकुल बन्द नहीं हो गया है तो एक बड़ी सीमा तक रुक अवश्य गया है। पश्चिम के पूँजीवादी राष्ट्र, जिनमें से अधिकांश के साम्राज्य सदियों से एशिया, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और उत्तरी-दक्षिणी अमरीका के महाद्वीपों में फैले हुए हैं, पूर्वीय योरप के समाजवादी राष्ट्रों से मुक्त सांस्कृतिक सम्बन्ध इसलिए नहीं बनाये रखना चाहते कि उन्हें भय है कि इससे समाजवादी विचारधारा उनके यहाँ भी ज़ोर पकड़ेगी और वे उखड़ जायेंगे। पूर्वीय गुट के समाजवादी राष्ट्र पश्चिमी योरप के पूँजीवादी देशों से स्वच्छन्द सांस्कृतिक सम्बन्ध इसलिए नहीं बनाये रखना चाहते कि उन्हें भय है कि इसकी आड़ में साम्राज्यवादी देश उनकी नयी समाज-व्यवस्था के विघटन की चेष्टाएँ चलायेंगे। यों एक विचित्र कृत्रिम स्थिति पैदा हो गयी है। इस कृत्रिम स्थिति का ही नाम लौह-दीवार है।

इस स्थिति ने दोनों पक्षों के राष्ट्रों की साधारण जनता को कितनी अपार सांस्कृतिक क्षति पहुँचाई है, यह साधारणतः अनुमेय नहीं है। शीत-युद्ध की आवश्यकताओं के फलस्वरूप दोनों ओर के राजनीतिज्ञों ने एक-दूसरे के विरुद्ध ऐसा विषैला वातावरण पैदा करने

की चेष्टा की है कि आम तौर पर दूसरे पक्ष में सत्य को देखने की प्रवृत्तिका लोप-सा हो गया है। दोनों ही ओर एक अवांछनीय ढंग की संकीर्णता, असहिष्णुता और दुराग्रह ने जन्म लिया है, जो कला और साहित्य की प्रवृत्तियों में भी मुखरित हो उठा है। इस बात को आज कोई नहीं देखना चाहता कि योरप-अमरीकी पश्चिमी राष्ट्रों और योरप के पूर्वीय राष्ट्रों में केवल व्यवस्था-भेद है, कोई मौलिक-सांस्कृतिक चेतना का भेद नहीं है।

इस व्यवस्था भेद के कारण जो सांस्कृतिक भेद उत्पन्न हो गया है, वह केवल सामयिक है, परिस्थिति-जन्य है और बहुत बड़ी सीमा तक कृत्रिम है। योरप में ही सामाजिक क्रान्तियों के फलस्वरूप ऐसे व्यवस्था-भेद पहले भी उत्पन्न हुए हैं, किन्तु विभिन्न देशों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बीच लौह-दीवार कभी नहीं खड़ी की गयी। इसका परिणाम योरपीय जनता के लिए हितकर ही हुआ था। एक तो नये विचारों के व्यापक प्रसार से पुरानी सामन्ती व्यवस्था को जल्द समाप्त करने में योग मिला, दूसरे सभी देशों में साहित्य और कला की अभूतपूर्व उन्नति हुई। वास्तव में योरपीय देशों के ऐतिहासिक सम्बन्ध-सूत्र इतने गहरे हैं कि उनके बीच स्वच्छन्द सांस्कृतिक आदान-प्रदान को रोकने वाली किसी भी प्रकार की लौह-दीवार हानिकर ही सिद्ध होगी।

इतिहास-निर्दिष्ट जैसी सांस्कृतिक एकता योरप के देशों में है, वैसी ही सांस्कृतिक एकता एशियाई देशों में भी है। एशिया के क्रोड़ में विश्व की प्राचीनतम महान् सभ्यताएँ पैदा हुईं और फली-फूलीं हैं। मिश्र, अरब, मध्य एशिया, चीन, भारत, बर्मा, हिन्द-चीन, स्याम, इण्डोनीशिया, कम्बोज, लंका आदि एशिया के देशों में सहस्रों वर्षों तक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा है।

इस दीर्घ-कालीन ऐतिहासिक सम्पर्क के कारण एशिया की विभिन्न जातियों, संस्कृतियों और सभ्यताओं में एक मूलभूत एकता मिलती है जो भाषा, जाति, धर्म या देश-काल के भेदों के बावजूद अमिट है। उसकी छाप इस विशाल महाद्वीप के निवासियों के चिन्तन के ढंग और संस्कारों पर दिखाई देती है।

किन्तु जब पश्चिमी साम्राज्यवादियों के चरण एशिया की भूमि पर पड़े, तब से एशियाई देशों का यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान एक प्रकार से बन्द-सा रहा है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेने की ज़रूरत है, क्योंकि किसी आक्रोश में भर कर मैं यह नहीं कह रहा कि एशियाई देशों के बीच कृत्रिम लौह-दीवारें खड़ी करने का श्रेय पश्चिमी साम्राज्यवादियों को है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। इससे असहिष्णुता, अनादर या विरोध की भावना आपस में अधिक न बढ़ी हो, लेकिन एक दूसरे के बारे में अज्ञान की मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस या अमरीका के इतिहास, साहित्य और कला के बारे में तो हमें जैसे सब कुछ मालूम है, लेकिन चीन, ईरान, मिस्र या इण्डोनीशिया के बारे में हमें कुछ नहीं मालूम। पश्चिमी देशों में यदि कोई नई प्रवृत्ति या कोई नया फ़ैशन चलता है तो हमारे साहित्यकार और कलाकार उसका तुरन्त अनुकरण करने लगते हैं, लेकिन एशिया के देशों में क्या होता है, उससे हम कोई सरोकार नहीं रखते। हम पिछलग्गू ही

बने रहते हैं और अपने पुराने प्रभुओं की संस्कृति को ही श्रेष्ठता की कसौटी मानते हुए अन्धानुकरण करते चले जाते हैं।

इससे हमारा अपना व्यक्तित्व दबा रह जाता है, क्योंकि हम जो कुछ निर्माण भी करते हैं, उसमें दूसरे का अक्स इतना अधिक है कि हमारे अपने जीवन, अपनी सभ्यता, अपने देश के वातावरण का वास्तविक चित्र अपनी समग्रता में उभर कर सामने नहीं आ पाता। ये सब काल्पनिक बातें नहीं हैं। नई जाग्रति और राष्ट्रीय चेतना के बावजूद अभी तक एशियाई साहित्य या कला का अपना नया, विशिष्ट स्वरूप विकसित नहीं हो पाया है। कविता है तो उस पर या तो अंग्रेज़ी या फ्रान्सीसी रोमान्टिसिज़्म या अधुनातन प्रतीकवाद और चित्र-कल्पनावाद की प्रवृत्तियों का प्रभाव है। उपन्यास हैं तो उन पर रूसी उपन्यासकारों या फिर ज़ोला, फ्लॉबेअर से लेकर आधुनिक काल तक के यथातथ्यवादियों का प्रभाव है। चित्र-कला है तो वह योरप के वान गॉग, सिज़ाने, मेतिसी और पिकासो तथा अन्य चित्रकारों की कृतियों से प्रभावित है। सिनेमा जगत् ने हमारे संगीत और नृत्य में भी पाश्चात्य संगीत के लय-स्वर और ताल-गति का भोंडा मिश्रण करना शुरू कर दिया है। ज़ाहिर है कि इस प्रकार हम नये-नये रूपों में अपनी कला को सजा कर भारतीय पाठकों या दर्शकों को क्षण भर के लिए चाहे चमत्कृत कर लें लेकिन विश्व-कला या साहित्य के समग्र इतिहास में इन अनुकरणशील कृतियों का मूल्य नगण्य ही रहेगा। क्योंकि उनमें प्रायः उस मौलिकता और सहजता का अभाव रहता है जो अपने जीवन के सांस्कृतिक वातावरण का युगीन आग्रह लेकर प्रकट होती है, और जिसके कारण ही कोई रचना महान् बनती है।

इस सबसे एशिया के लोग सौ फ़ीसदी घाटे में ही रहे, ऐसा कहना असत्य होगा, एक सीमा तक अकृतज्ञता का सूचक भी। लेकिन हमने पश्चिम से जो 'नयी रोशनी' ली है उसने हमारी सीमाएँ भी बाँध दी हैं। हम अपने मानदण्डों को छोड़ कर पाश्चात्य मानदण्डों को अपनाने लगे हैं। इससे हमारे कला-साहित्य में जहाँ नवीनता का प्रवेश हुआ, वहाँ उसके क़द में बौनापन आ जाना भी अनिवार्य हो गया। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के बावजूद हमारे जीवन के संस्कार योरप वालों से भिन्न हैं, हमारा समाज वास्तव में भिन्न है। हमारे चिन्तन का ढंग भिन्न है—यहाँ तक कि हमारी भाव-प्रतिक्रियाओं और भाव-संवेदनों के आलम्बन और प्रकार भी एक बड़ी सीमा तक भिन्न हैं। ऐसे में पश्चिम का अनुकरण करने से बड़ी से बड़ी प्रतिभा के पुरुष का क़द छोटा रह जाना भी स्वाभाविक है। गान्धी, टैगोर, इक़बाल, नेहरू या लूसुन, सुनयात सेन, माओत्सेतुंग तथा एशिया के दूसरे अनेक जन-नेता या कलाकार यदि इस युग में महानता को प्राप्त कर सके हैं, तो केवल इस कारण ही कि उन्होंने पश्चिम से 'नयी रोशनी' लेकर भी उसका अन्धानुकरण नहीं किया। लेकिन पाश्चत्य प्रभुओं ने शिक्षा-संस्कृति का जो वातावरण अपने यहाँ की नक़ल के आधार पर यहाँ पैदा किया उसकी पॉलिश और चमक-दमक से एशिया का साधारण बुद्धि-जीवी वर्ग चमत्कृत हुए बिना न रह सका।

इसके अतिरिक्त एशिया के देशों में जिन्होंने साम्राज्य फैलाये उनमें इस बात को लेकर स्पर्धा भी इतनी तीव्र थी कि उन्होंने अपने अपने उपनिवेशों को दूसरे की ललचाई आँखों से बचाने के लिए जैसे पिटारी में बन्द करके रखा। जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्राचीन काल से इन देशों में सहज रीति से होता आया था वह बलात् बन्द कर दिया गया और डेढ़-दो सौ वर्षों की गुलामी के काल में एशिया के देश परस्पर अपरिचित-से हो गये। कौतूहल जगाने के अतिरिक्त एशिया के अन्य देशों की घटनाएँ हमें अधिक गहरा छूने में असमर्थ हो गयीं। दूसरी ओर योरप के घटना-चक्र को हम उत्सुकता, भय और आशा से देखने लगे, जैसे हमारा भाग्य और मानवता का भविष्य इस घटना-चक्र के परिणाम पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार एक दूसरे से कट कर अलग पड़े रहने के कारण एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में गहरे और सीधे सम्बन्ध-सूत्र क़ायम नहीं हो पाये।

जिस देश का अतीत महान् है उसकी जनता में स्वाभिमान की मात्रा अधिक होन की सम्भावना भी ज्यादा होती है। और जिस जाति का स्वाभिमान जाग्रत हो जाय, उसे अनिश्चित काल तक गुलाम बनाये रखना भी सम्भव नहीं होता। एशिया के गौरांग प्रभु इस तथ्य को समझते थे। इसीलिए उन्होंने आर्थिक लूट के साथ सांस्कृतिक लूट भी पूरे उत्साह के साथ जारी रखी। कला और साहित्य के भण्डार लूटकर योरप के देशों में पहुँचाये गये। आज भी अपने अतीत के ऐतिहासिक तथ्यों, साहित्य और कला के विकास की खोज-बीन करने के लिए एशियाई देशों के विद्यार्थियों को लन्दन, पेरिस, बर्लिन, ऐम्स्टरडम आदि के म्यूजियमों और पुस्तकालयों तक दौड़ लगानी पड़ती है।

इन सब कारणों से एशियाई देशों के बुद्धि-जीवी वर्ग में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति पैदा हो गई है, जिसके फलस्वरूप हम मूलगत एकता के बावजूद और स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद भी एक-दूसरे की कला-संस्कृति, एक दूसरे के साहित्य-दर्शन आदि के प्रति उदासीन बने हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हम-अभी भी एक दूसरे के साहित्य-कला-संस्कृति की जानकारी अपने विकास के लिए अनावश्यक समझते हैं, उसे 'वाइटल' और अनिवार्य नहीं मानते।

फिर भी इस दिशा में भारत, चीन, बर्मा, इण्डोनीशिया आदि देशों की सरकारों ने कुछ प्रारम्भिक क़दम उठाये हैं। सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मण्डल एक देश से दूसरे देश में भेजे जाने लगे हैं। इससे आपस में कुछ परिचय तो बढ़ता है, लेकिन डेढ़-दो सौ वर्षों की अज्ञानता की लौह-दीवार को तोड़ने के लिए ऐसा औपचारिक ढंग से मिलना-जुलना और एक दूसरे की प्रशंसा करके सन्तुष्ट हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की अवरुद्ध धारा को मुक्त करने के लिए एक बड़े आयोजन की जरूरत है। इस सम्बन्ध में दो-तीन सुझाव यहाँ देना उचित है—

१—एशिया के सभी देशों को एक दूसरे के यहाँ प्रति वर्ष विद्यार्थियों की पर्याप्त संख्या छात्र-वृत्ति देकर भेजनी चाहिए। इन विद्यार्थियों को, जिस देश में वे जाएँ, उसकी

भाषा, संस्कृति, इतिहास, कला और साहित्य की पूरी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

२––एशिया के सभी देशों को प्रारम्भ में अपने-अपने देश की सौ-सौ पुस्तकों की सूची तैयार करनी चाहिए। इस सूची में प्राचीन 'क्लासिक्स' (महान् कृतियों) के साथ साथ आधुनिक युग की श्रेष्टतर रचनाएँ हों––काव्य, नाटक, उपन्यास तथा इतिहास और दर्शन की। इस प्रकार एशिया के बीस-पचीस देशों की श्रेष्ठतम पुस्तकों की पहली सूची में दो-ढाई हज़ार पुस्तकों के नाम होंगे। एशिया के प्रत्येक स्वतन्त्र देश की सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश में एशिया-पुस्तकालय की स्थापना करे और इन सारी पुस्तकों का अनुवाद सीधे मूल भाषाओं से करवा के अपने देश की भाषा में उनको प्रकाशित करे।

ये दोनों कार्य सरकारी सहायता से ही सम्भव हो सकेंगे। लेकिन इतना निश्चित है कि ऐसा करने से एशिया के देशों के बीच का अलगाव दूर हो जायगा, और एशिया के बुद्धिजीवी, कलाकार और साहित्यकार एक दूसरे की सफलताओं और समस्याओं से सीख कर अपना सहज विकास कर सकेंगे। तब हम पाश्चात्य देशों के साथ एक नई सांस्कृतिक शक्ति के रूप में बराबरी के आधार पर मिलेंगे, न कि उनके अनुकरण-कर्त्ताओं के रूप में। जैसे राजनीति में वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भी सह-अस्तित्व का यही आधार सही है। एशिया के देशों में भारत और चीन सबसे बड़े समर्थ और जागरूक देश हैं। उन्हें ही इस दिशा में पहलक़दमी करनी होगी। दरअसल अपनी राष्ट्रीय संस्कृतियों के विकास के लिए भी यह क़दम उठाने की ज़रूरत है। एशिया के साहित्य, कला या दार्शनिक क्षेत्रों में कौन-सी नई प्रवृत्तियाँ मुखर हो रही हैं, तब यह हमारे विभिन्न भाषा साहित्यों में आये दिन की चर्चा का विषय बन जायगा। पहले हम एक-दूसरे को जानें, एक दूसरे की कृतियों का मुक्त-हृदय से रसास्वादन करें, फिर उनकी प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा तैयार करें। एशिया के सांस्कृतिक विकास का, और प्रकारान्तर से हमारे अपने विकास का यही रास्ता है।

––अगस्त १९५५

भाषा

२३

जनपदीय भाषाओं का प्रश्न[1]

"आधुनिक भारत की संस्कृति एक शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है जिसका एक-एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तिक बोलियाँ, जिनमें साहित्य-सृष्टि हुई हो, अपने-अपने घर में रानी बनकर रहें। प्रान्तिक जनगण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश-भूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहें। और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्यमणि बनकर हिन्दी विराजती रहे।

मेरे विचार में प्रान्तिक भाषाओं के पुनरुज्जीवन से राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ भी क्षति नहीं होगी।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"अल्प संख्यक जातियों और विभिन्न भाषा-क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा।"

—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (बम्बई, अगस्त १६३१) के "मौलिक अधिकार" के प्रस्ताव से

गत तीन-चार वर्षों से हिन्दी-क्षेत्रों की जनता का मानस आन्दोलित हो उठा है। जनपदीय भाषाओं के स्वतन्त्र विकास की आवश्यकता के प्रति प्रगतिकामी साहित्य-सेवी और विचारक सजग होते जा रहे हैं। विशेषकर बुन्देली, राजस्थानी, मैथिली और ब्रज भाषा के प्रदेशों में यह चेतना 'जनपद आन्दोलन' के रूप में मुखरित हो उठी है, और जिस तीव्रता और हठधर्मी के साथ अखण्ड हिन्दी और अखण्ड भारत के तथाकथित समर्थक अपने सरल सुख-स्वप्नों में विक्षेप उपस्थित होते देख मातृभाषाओं की इस नवचेतना को निर्मूल करने के लिए चाणक्य की तरह शिखा खोलकर विष उगल रहे हैं, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जनपद आन्दोलन गहरी जड़ें पकड़ता जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आन्दोलन हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विकास का एक अभूतपूर्व चरण है, अतः स्वाभाविक है कि इसने हमारे सामने एकदम नये प्रश्न उठा दिये हैं। चेतना के विकास के साथ-साथ जनपद आन्दोलन के समर्थकों ने समय-समय पर विकास के भिन्न-

---

१. प्रगतिशील लेखक संघ (संयुक्त प्रान्त) की कौंसिल के सम्मुख ५ नवम्बर १६४४ को पेश की गयी रिपोर्ट। —लेखक।

भिन्न मार्ग सुझाए हैं और विरोधियों ने तदनुसार अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ गढ़कर इसको भारतीय एकता और आर्य-संस्कृति के मूल पर आघात करनेवाला आन्दोलन बताया है। इस प्रकार जनपदीय भाषाओं (मातृभाषाओं) के प्रश्न को उठाकर जनपद-आन्दोलन हिन्दी-भाषी क्षेत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है[1]।

हिन्दी के प्रगतिवादी लेखकों ने कभी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में जनपद आन्दोलन का विरोध नहीं किया, इतना निश्चित है। इसके विपरीत प्रमुख प्रगतिवादी विचारक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'मातृभाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा जनपद आन्दोलन को सर्वप्रथम ऐतिहासिक—राजनीतिक—सांस्कृतिक दृष्टि से पुष्ट सैद्धान्तिक आधार देने में योग दिया है, और उनका वक्तव्य आज जनपद-आन्दोलन की विचारधारा का एक अभिन्न अङ्ग बन गया है। यह उल्लेखनीय है कि इस आन्दोलन के विरोधियों ने राहुल जी के वक्तव्य पर ही सबसे तीखे प्रहार किये हैं। प्रगतिवादी साहित्य का प्रमुख पत्र 'हंस' भी देवेन्द्र सत्यार्थी, रामइक़बालसिंह 'राकेश' और श्यामचरण दुबे के जनपदीय भाषाओं के परम्परागत लोक-साहित्य और लोक-गीतों के नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये अध्ययनों को वर्षों से निरन्तर प्रकाशित करता आया है और उसने ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, भोजपुरी, काशिका आदि अनेक भाषाओं और बोलियों के वर्तमान कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करके यह सिद्ध कर दिया है कि प्रगतिवाद की विचारधारा हिन्दी की विभिन्न भाषाओं-उपभाषाओं की नवजाग्रति का स्वागत करती है। हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी लेखक अपने-अपने क्षेत्रों के जनपद आन्दोलन में सक्रिय सहयोग देते रहे हैं और 'मधुकर' के 'जनपद आन्दोलन अङ्क' से भी यह निर्विवाद हो जाता है कि इस आन्दोलन को प्रगतिवादियों का व्यापक समर्थन प्राप्त है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जनपद-आन्दोलन की अभी तक कोई एक स्पष्ट विचारधारा नहीं बन पायी है। अनेक जटिल प्रश्न भी उठ गये हैं और विरोधियों द्वारा फैलाई भ्रान्तियों के कारण इन प्रश्नों के समाधान पर सोचे बिना ही लोग पक्ष अथवा विपक्ष ग्रहण करने लगे हैं। इस वातावरण में प्रगतिवादी स्वयं अनिश्चित हैं कि उनकी नीति क्या हो। अतः यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

---

१. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन और साम्प्रदायिक हत्याकाण्डों और अन्य समस्याओं ने तत्काल के लिए जनपदीय भाषाओं के प्रश्न को पृष्ठभूमि में डाल दिया। इन विषम घटनाओं के कारण ही 'भाषा-आयोग' के सामने जनपदीय क्षेत्रों की जनता की आकांक्षाएँ समुचित रूप से उपस्थित नहीं की गईं। लेकिन जनपदीय भाषाओं के विकास का प्रश्न अनन्तकाल के लिए स्थगित नहीं रखा जा सकेगा। इस प्रश्न का जनवादी समाधान किए बिना 'भाषा आयोग' का निर्णय भी अन्तिम नहीं माना जा सकेगा। बारह साल पहले इस प्रश्न के समाधान की जो दिशा सही और जनवादी नजर आती थी, वही दिशा आज भी सही और जनवादी है। अतः इस निबंध का प्रस्तुत संग्रह में पूरा औचित्य है। —लेखक, १५ मई १९५६

है कि आज हम प्रथम बार संघ की कौंसिल के अधिवेशन में इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार कर रहे हैं।

जनपद-आन्दोलन के प्रतिनिधि भी उत्सुकतापूर्वक हमारी घोषणा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। विरोध की आंधी ने उन्हें विचलित कर रखा है, पर उनका विश्वास है कि प्रगतिशील लेखक संघ अविचलित रह कर, उनकी न्यायपूर्ण माँगों का समर्थन करेगा। आज हमें अपने कन्धों पर बहुत बड़े कर्तव्य का दायित्व उठाने का निमन्त्रण मिल रहा है, इसलिए भी यह अनिवार्य है कि हम इस प्रश्न के हर पहलू पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। इसके अतिरिक्त, हमारे लेखकों और विचारकों के सम्मुख अभी यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि जनपदीय कार्यक्रम क्या होना चाहिए। डॉ० वासुदेवशरण की योजना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जनपद-आन्दोलन की दृष्टि से लक्षहीन योजना है, क्योंकि उसको स्वरूप देने वाली विचारधारा अत्यन्त सीमित है। वस्तुतः वह हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) की आवश्यकता-पूर्ति के लिए ही बनाई गई है। मातृभाषाओं की अपनी आवश्यकताओं का उसमें लेशमात्र भी कहीं समावेश नहीं है। फलतः वह जनपदीय भाषा-भाषी जनता को प्रेरित करने में असमर्थ है। अतः जनपद आन्दोलन क्या है, उसका ऐतिहासिक मूलाधार क्या है, मातृभाषाओं का स्वतन्त्र विकास जनहित की दृष्टि से क्यों अनिवार्य और आवश्यक है, विरोधियों का दृष्टिकोण क्यों दूषित है, व्यापक दृष्टिकोण के अभाव में जनपद-आन्दोलन किन ग़लत मार्गों पर जाकर पथभ्रष्ट हो सकता है, जनपद आन्दोलन को राष्ट्रीय चेतना और विकसित जनवाद का अभिन्न अंग होने के रूप में देखने से हमारे सामने मातृभाषाओं के स्वतंत्र विकास के कौन से नये पथ खुल जाते हैं और तदनुसार हमारे कार्यक्रम की रूप-रेखा क्या होनी चाहिए, राष्ट्र-भाषा हिन्दी से विकासमान मातृभाषाओं का क्या सम्बन्ध हो, आदि कतिपय जटिल प्रश्न हैं, जिन पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

जनपद आन्दोलन का इतिहास

जनपद आन्दोलन हिन्दी क्षेत्रों में रहने वाली जातियों की बढ़ती राष्ट्रीय चेतना से उत्पन्न इस आकांक्षा का परिचायक है कि उनकी मातृभाषाओं और संस्कृतियों का भी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण तथा स्वस्थ विकास हो, ताकि प्रत्येक जनपद के निवासी अलग-अलग जाति के रूप में अपना समुचित विकास कर सकें, अपनी निजी सांस्कृतिक विशेषताओं को नष्ट न होने दें, प्रत्युत उनका नवविकासकर जन-शिक्षा द्वारा अपनी जनता के पिछड़े-से-पिछड़े भाग को भी उन्नत और आधुनिक बना सकें और प्रजातान्त्रिक आधार पर अपने-अपने जनपद के भीतर एक पूर्णतः विकसित सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन का संगठन कर सकें। ऐतिहासिक दृष्टि से जनपदों की यह आकांक्षा सांस्कृतिक क्षेत्र में हमारे व्यापक राष्ट्रीय जागरण की विशिष्ट किन्तु स्वाभाविक जनवादी परिणति है।

प्रारम्भ में जब इस आकांक्षा ने विचारों में मूर्त्तरूप धारण किया उस समय विचारकों के समक्ष इसके ऐतिहासिक सूत्र अज्ञात थे, धारणाएँ अस्पष्ट और एकांगी थीं—

यह स्वाभाविक था। राष्ट्रीय चेतना की विकासधारा हमारे जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर हमें विचलित कर रही थी, यद्यपि हम इसका कारण उतनी स्पष्टतापूर्वक तब नहीं देख पाते थे जितनी स्पष्टता से आज देख सकते हैं। जनपद आन्दोलन का इतिहास एक प्रकार से हमारी राष्ट्रीय जाग्रति की उत्तरोत्तर व्यापकता का भी इतिहास है। इस दृष्टि से जनपद-आन्दोलन को हम तीन भिन्न चरणों में बाँट सकते है और प्रत्येक चरण की विचार-धारा के सम्बन्ध-सूत्र तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना में पा सकते हैं और उसके विकास की गति को भी प्रकाश में ला सकते हैं। इन तीन चरणों की तीन विचारधाराएँ हैं, (१) 'विकेन्द्रीकरण' की विचारधारा, (२) 'जनपदीय योजना' की विचारधारा और (३) 'मातृभाषाओं का प्रश्न' की विचारधारा।

विकेन्द्रीकरण

आज से लगभग दस वर्ष पूर्व 'विशाल भारत' (फरवरी १६३४) में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने प्रान्तों के पुनर्निर्माण का प्रश्न उठाया था। उनका दावा था—

"(१) अब साहित्य सेवियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि साहित्य की संपूर्ण शक्तियों का प्रयोग, काशी या लखनऊ आदि किसी एक केन्द्र से बैठकर संचालन करना असंभव है; (२) साहित्य सम्मेलन की शक्ति क्षीण हो रही है, अत: (३) प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनों को जाग्रत किया जाय और इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यिक प्रान्तों का पुनर्निर्माण किया जाय। व्रज साहित्य-मण्डल, बुन्देलखण्ड साहित्य-मण्डल, अवधी साहित्य-मण्डल आदि संगठित किये जायँ ताकि इन क्षेत्रों के साहित्यिक अपने यहाँ की साहित्यिक शक्तियों का उपयोग करने में समर्थ हो सकें।"

चतुर्वेदी जी ने सन् १६३४ में साहित्यिक शक्तियों के अपव्यय का अनुभव करके नए साहित्यिक केन्द्र, और वे भी हिन्दी की विभिन्न भाषाओं के आधार पर विभाजित प्रान्तों के अनुसार, संगठित करने का प्रश्न उठाया; इस पर यदि किंचित् गहराई से सोचें तो कारण स्पष्ट हो जायगा। सन् १६३४ के पूर्व सन् १६३० और '३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन समूचे देश की सुप्त चेतना को एक बार ज़ोर से हिला चुके थे। सन् १६३१ के अगस्त में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, बम्बई के अधिवेशन में, 'मौलिक अधिकार' का प्रस्ताव पास कर चुकी थी। राष्ट्रीय चेतना उस समय इस धरातल तक ऊँची उठ चुकी थी कि हम भारत की एक सीमा तक स्वतन्त्र रूप-रेखा खींच सकें। राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव में इस चेतना की झलक निखर रही थी। 'मौलिक अधिकार' की घोषणा की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का लक्ष्य दृष्टिगोचर होने लगा था और राष्ट्रीय आन्दोलन ने समूचे देश की जनता के मानस को विलोड़ कर जाग्रति उत्पन्न की थी उसके प्रकाश में देश के सुदूर और विस्मृत कोनों तक की पिछड़ी जनता भी अपनी परिस्थितियों की रोशनी में स्वाधीनता के अर्थ समझने की चेष्टा करने लगी थी। परन्तु जब नौकरशाही के दमन के फलस्वरूप दोनों राष्ट्रीय आन्दोलन एक प्रकार से विफल हो गये, अर्थात्

आकांक्षित स्वराज्य न मिला, तो राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में हृदय और विचार-मंथन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीति, रणनीति और संगठन-नीति को अपने अनुभव और अध्ययन की रोशनी में पुनः जांचा और उनके मनमें यह धारणा गहरी होती गई कि देश की समूची जनता को राष्ट्रीय झंडे के नीचे लाने के लिए कांग्रेस की नीति और कार्य-पद्धति में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। उस समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्मुख जातियों का प्रश्न नहीं उठा था। हम विदेशी शासन के विरुद्ध एक हैं, अतः एक राष्ट्र हैं, यही हमारा विश्वास था। उस समय की चेतना के अनुसार यह विश्वास सत्य था। इसीके अनुरूप जब साहित्य के क्षेत्र में चतुर्वेदीजी ने सम्मेलन की कार्यपद्धति के विरुद्ध नये सुझाव पेश किये तो इसी अनुभूति के आधार पर कि सम्मेलन का कार्यक्षेत्र यद्यपि इतना विस्तृत हो गया है, तो भी साहित्यिक शक्तियों का उतना सदुपयोग नहीं हो पा रहा है जितना कि सम्भव है। इससे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और उसके साहित्य को उन्नत होने में बाधा पहुंच रही है। इस स्थिति को सुधारने के लिए ही सम्मेलन के संगठन और कार्य-नीति में परिवर्तन की आवश्यकता है। चतुर्वेदीजी के इन सुझावों की विचारधारा का परिष्कार आगे चलकर **विकेन्द्रीकरण** के नारे के रूप मे हुआ। इस सम्बन्ध में इतना और विचारणीय है कि उस समय चतुर्वेदीजी के सम्मुख मातृभाषाओं का स्वतन्त्र विकास करने का प्रश्न नहीं था—वस्तुतः वे इस विचार की भाषा तक से अवगत न थे। वे केवल हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) की सुविधा की दृष्टि से नए साहित्यिक केन्द्रों के लिए नये साहित्यिक प्रान्तों की मांग कर रहे थे। उनकी मांग में संगठन के लिए अधिक व्यापक और जनतान्त्रिक आधार का आग्रह था और भाषा-मूलक प्रान्तों के अस्तित्व को स्वीकृति देने की ओर संकेत था। इसी कारण उनके सुझाव नई चेतना के द्योतक थे। इस सीमा तक आगे बढ़ने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी। इस कारण चतुर्वेदीजी के सुझावों को स्वीकार करने के मार्ग में भावुकता, हिन्दू साम्प्रदायिकता आदि प्रगति-विरोधी शक्तियों ने रोड़े नहीं बिछाये और दिल्ली साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया :

"राष्ट्रभाषा हिन्दी की विस्तृत अभिवृद्धि और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों और उद्देश्यों का सुसंगठित प्रचार करने की दृष्टिसे यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्रमें मण्डल सभाएँ स्थापित की जाएँ, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरन्तर कार्य करती रहें।"

इस प्रकार साहित्य सम्मेलन ने सन् १९३४ में अपने उद्देश्यों का प्रचार करने की सुविधा के लिए क्षेत्र-विभाजन और प्रन्तीय केन्द्र बनाने (बाद को चतुर्वेदीजी की भाषा में **विकेन्द्रीकरण**) की नीति को सहमति प्रदान तो कर दी पर उसने इस नीति को कार्यान्वित करने में दृढ़ता नहीं दिखाई। फिर भी बुन्देलखण्डी साहित्य-मण्डल, ब्रज साहित्य-मण्डल और राजस्थानी साहित्य-सम्मेलन आदि की स्थापना हो गई। ये संस्थाएँ

हिन्दी (साहित्यिक खड़ीबोली) की शक्तियों को संगठित करने के लिए ही बनी थीं, परन्तु जनपद चेतना तक पहुंचने की यह पहली मंज़िल थीं। स्मरण रहे कि अभी इस विवाद में **विकेन्द्रीकरण, जनपद** अथवा **मातृभाषा** आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ था।

अगले छः वर्षों में राष्ट्रीय चेतना और भी अधिक निखर चुकी थी। जातियों का प्रश्न भी उठने लगा था, यद्यपि किस आधार पर इस प्रश्न का समाधान किया जाय, इस विषय में विचारों में अभी अधिक स्पष्टता नहीं आई थी। सांस्कृतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में राष्ट्रीय कांग्रेस प्रान्तिक भाषाओं और संस्कृतियों की सुरक्षा और विकास का दायित्व उठाने की बार-बार घोषणा कर चुकी थी। इन बातों का प्रभाव साहित्यिक आन्दोलन पर भी पड़ रहा था। अतः जब हरिद्वार सम्मेलन (१९४०) के मनोनीत सभापति पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के पास पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक पत्र में नए साहित्यिक प्रान्तों के निर्माण का प्रश्न 'साहित्य सम्मेलन का विकेन्द्रीकरण' करने का नारा देकर उठाया तो उनके प्रस्तावों में हिन्दो (साहित्यिक खड़ीबोली) की 'सुविधा और आवश्यकता' के स्थान पर 'शर्त के साथ न्याय' की मांग का भी समावेश हो गया था। पण्डित बनारसीदास ने स्वीकार किया कि हिन्दी "**साम्राज्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों को पूर्ण स्वाधीनता देकर हमें संघ की स्थापना करनी है। अर्थात् राजस्थानी लोग यदि अपनी रीडरें राजस्थानी भाषा में लिखना चाहते हैं तो हमारे लिए उचित हैं कि हम उन्हें यह स्वाधीनता दे दें।**" उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि '**भिन्न-भिन्न जनपदों के सांस्कृतिक धरातलों में अन्तर है। उनके कुछ प्रश्न भी जुदे-जुदे हैं। कोई भी केन्द्रीय संस्था उनकी ओर भरपूर ध्यान नहीं दे सकती।**' अतः '**दो नीतियों में से एक हम लोगों चुन लेनी होगी। या तो अन्य बोलियों की संस्कृतियों को खत्म करके केवल एक खड़ीबोली की सँस्कृति जारी रखें या फिर इस सांस्कृतिक उपवन के वैचित्र्य को स्थायी रखने के लिए जनपदों की विशेष-विशेष बोलियों को पनपने दें।**" चतुर्वेदीजी के पत्र से स्पष्ट है कि साहित्य-जगत में मातृभाषाओं का प्रश्न इस समय तक काफ़ी तीव्रता से उठ खड़ा हुआ था।

राजस्थानी में अपनी रीडरें बनाने के आन्दोलन का सूत्रपात हो गया था, अन्यथा चतुर्वेदीजी उसका उल्लेख न करते। इस आन्दोलन की व्यापकता का प्रमाण प्रथम बार अबोहर साहित्य सम्मेलन (१९४१) के अवसर पर मिला। वहां पर एकत्र राजस्थानी प्रतिनिधियों का निश्चित मत था कि उन्हें राजस्थानी में रीडरें बनाने की स्वाधीनता होनी चाहिए। इधर मैथिलीवाले भी यही मांग कर रहे थे। डा० वासुदेवशरण के सुझावों के कारण 'जनपद' शब्द का भी प्रयोग होने लगा था, और 'भिन्न जनपदों की भिन्न संस्कृति' का अनुमान भी लोगों की धारणाओं में जगह बना रहा था। हिन्दी की उपमा 'साम्राज्य' से दी जाने लगी थी और एक साम्राज्य की निरंकुशता से छोटी, पिछड़ी, अनुन्नत भाषाओं-बोलियों को जहां तक वंचित रखा जा सके रखने के लिए आग्रह किया जाने लगा था। परोक्ष रूप में यह मातृभाषाओं के प्रश्न की स्वीकृति थी। परन्तु चतुर्वेदीजी स्पष्ट विचारधारा के अभाव में उसके सांस्कृतिक पक्ष का ज़ोरदार समर्थन नहीं कर सके।

जनपदों की जनता यदि चाहे तो रीडरें बनाने को स्वतन्त्र हो, नहीं तो 'सांस्कृतिक उपवन के वैचित्र्य को बनाये रखने के लिए' बोलियों को 'पनपने' दिया जाय। कैसे और क्यों, किस जनवादी सिद्धान्त, न्याय और नैतिकता के आधार पर इस 'वैचित्र्य' की रक्षा की जाय, इसका निर्देश उन्होंने नहीं किया। 'उपवन का वैचित्र्य' किसी को रुचिकर हो सकता है। एक साहित्यिक और राजनीतिक कठमुल्ला तो एक वर्ण, एक रङ्ग, एक राष्ट्र, एक भाषा, एक नेता के स्वप्नों में डूबा अपनी सर्वग्रासिनी एकरसता को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। वह चतुर्वेदीजी की रुचि को क्यों उचित समझे? इसीलिए विरोध की कल्पना करके चतुर्वेदीजी को अपने कार्य के औचित्य के लिए भीतर से ठोस आश्वासन नहीं मिला और उन्होंने पंडित माखनलाल को उसी पत्र में यह भी लिखा "कि कभी-कभी तो मैं यह ख्याल करने लगता हूं कि 'मधुकर', 'ब्रजभारती' अथवा 'बान्धव' का जन्म उपयुक्त समय से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले ही हो गया है।"

जनपद कल्याणीय योजना

इस बीच श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल की 'जनपदीय योजना' प्रकाशित हो चुकी थी। डॉ० अग्रवाल ने ही सर्वप्रथम 'जनपद' शब्द का प्रयोग किया। महाभारत के भीष्मपर्व (अध्याय ९) और मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणों में जनपदों की कई सूचियां पाकर डा० अग्रवाल ने जब वर्तमान भारत के मानचित्र और उसकी भाषा-बोलियों की ओर दृष्टि डाली तो उन्हें ज्ञात हुआ कि **'हमारी बोलियों के क्षेत्र वे ही जनपद आजतक अपनी संस्कृति की विशेषता लिए हुए बने हैं।'** जनपद का अर्थ है वह प्रदेश जिसमें कोई विशेष 'जन' (जाति-अथवा जनसमूह) रहता है, जिसकी भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, रस्म-रिवाज—और एक सीमा तक आर्थिक-सामाजिक जीवन में साम्य हो। पौराणिक काल के जनपद आजतक ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं अथवा उनकी विशेष संस्कृतियां समय के प्रवाह में भी अपरिवर्तित बनी रही हैं, डॉ० अग्रवाल का यह आशय कदापि नहीं हो सकता। ऐसा दावा अवैज्ञानिक होगा। प्राकृत और अपभ्रंशों से जो आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं, उनका स्वरूप पहले से बहुत बदला हुआ है। ऐतिहासिक क्रम में अनेक बाहरी प्रभाव इन जनपदों के आन्तरिक जीवन में अनेक परिवर्तन लाते आये हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो कोई-कोई जनपद एकदम नये धर्म का अनुयायी हो गया है, और दूसरी भाषाओं और संस्कृतियों की छाप उसकी भाषा और संस्कृति पर बहुत गहरी पड़ी है। उदाहरण के लिए काश्मीरी भाषा-भाषी जनपद को लें। काश्मीरी जनपद आदि में पिशाच जातियों का जनपद था, उसकी भाषा दरद समूह की भाषा है। आर्यों की विजय के उपरान्त उनके शासन काल में काश्मीरी भाषा पर संस्कृत का गहरा प्रभाव पड़ा। संस्कृत के अनेक शब्द और प्रयोग काश्मीरी में प्रविष्ट हो गये। तदुपरान्त मुस्लिम शासनकाल में एक प्रकार से समूची काश्मीरी जाति ही इस्लाम धर्म की अनुयायी बन गयी और काश्मीरी भाषा पर संस्कृत की ही तरह फ़ारसी का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फ़ारसी के शब्द और मुहावरे काश्मीरी में प्रचलित हो गये। जनपदों

की भाषाओं और उनके सामान्य सांस्कृतिक जीवन में जिस प्रकार समय की गति के साथ केवल आन्तरिक कारणों से ही परिवर्तन होते आये हैं, उसी प्रकार बाह्य प्रभावों, शासन परिवर्तनों, भिन्न जातियों के आक्रमणों और जन-समूहों के आवागमन, मिश्रण, विचारों के आदान-प्रदान, अनिवार्य सामाजिक राजनीतिक सम्बन्धों को बनाये रखने की आवश्यकताओं आदि के कारण भी परिवर्तन होते आये हैं। अतः पुराणों से जनपदों की सूची एकत्र करने का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि दुराग्रह पूर्वक यह कहा जाय कि पौराणिक जनपद अपने पूर्व रूप में ही सुरक्षित हैं।

परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सदियों से जनपदों की संस्कृति और भाषा को आमूल नष्ट करके किसी एक भाषा को रोपने की असंख्य राजकीय चेष्टाओं के बावजूद भी ये जनपदीय भाषाएँ और संस्कृतियां अभी तक जीवित हैं; उनमें साहित्य न पनप सका हो, कहीं-कहीं लिपि के अभाव में उनका बहुत-सा लोक-साहित्य भी चाहे नष्ट हो गया हो, परन्तु उसका मूल ढांचा आज भी सुरक्षित है, अर्थात् उनका वैशिष्टय आज भी बना हुआ है। काश्मीरी इतने प्रभावों के पड़ने के बाद भी एक स्वतन्त्र भाषा है और उसका स्वतन्त्र व्याकरण है, यद्यपि उमे न कभी राज्याश्रय मिला है, न वह क्षिशा का माध्यम बनी है, यहां तक कि उसकी लिपि भी नहीं है।[1] पुरानी शारदा लिपि व्यवहार में नहीं आती। अतएव जनपदों और जनपदीय भाषाओं पर विचार करते समय हमें इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि प्राचीन जनपदों और भाषाओंमें अनेक परिवर्तन हुए हैं, उनका विकास या ह्रास हुआ है, परन्तु वे एकदम नष्ट नहीं की जासको हैं और आज भी जीवित हैं। डा० अग्रवाल का यह कथन सत्य है कि इन जनपदों की सांस्कृतिक विशेषताएँ अपनी हैं। परन्तु यह खोज कर लेने के बाद, जनपदों की सांस्कृतिक और भाषागत-विशेषता को लेकर क्या किया जाय, इससे क्या ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला जाय, यह सब डा० अग्रवाल के लिए अगम्य रहा। डॉ० अग्रवाल पुरातत्त्व के विद्वान हैं, अतः उनकी राष्ट्रीय-चेतना पुरातत्त्व की सीमाओं में सिमटकर ही अभिव्यक्त हुई। डा० ग्रियर्सन कृत 'बिहार पेज़ेन्ट लाइफ़', टर्नर और ग्रियर्सनकृत नैपाली और ग्रियर्सनकृत काश्मीरी भाषा के विश्वकोषों से उन्हें प्रेरणा मिली। उन्हें विश्वास हो गया कि "भाषा-शास्त्र की दृष्टि से जनपदों में, गांवों में बेहिसाब मसाला भरा पड़ा है।" अतः इस उद्देश्य को सामने रखकर कि **"हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण विकास के लिए ग्राम और जनपदों की भाषा और संस्कृति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है"** क्योंकि **"वही साहित्य लोक में चिरजीवन पा सकता है जिसकी जड़ें दूर तक पृथ्वी में गई हों"** उन्होंने **"जनपद कल्याणीय योजना"** बनायी। यदि ध्यान से देखा जाय तो इस योजना का नाम **भ्रामक** है क्योंकि वस्तुतः वह **हिन्दी कल्याणीय योजना है, जनपद कल्याणीय** नहीं। योजना काफ़ी प्रसिद्धि पा चुकी है और

---

१. काश्मीरी भाषा का काव्य-साहित्य अब तक कुछ आवश्यक ध्वनि-चिन्ह जोड़कर फारसी लिपि में ही लिखा जाता है।

उसे व्यापक समर्थन भी मिला है। इस योजना का मूलमन्त्र गांवों की भाषा, भूगोल, **पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, गीत, उद्योग, कृषि, आचार-विचार और इतिहास की खोज, संग्रह और अध्ययन** करके वैज्ञानिक पद्धति से उनका संपादन और प्रकाशन करना है, और इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के भण्डार को भरना है। इन अध्ययनों का अभिप्राय जन-जीवन में रक्षित पुरातत्व सामग्री की रक्षा करना और उनका आदर्श टर्नर और ग्रियर्सन के विश्वकोष और 'बिहार पेज़ेन्ट लाइफ़' आदि पुस्तकें हैं। टर्नर और ग्रियर्सन ने अंग्रेज़ी में अपने अध्ययन प्रस्तुत किए हैं, जनपद कल्याणीय योजना के द्वारा इस प्रकार के अध्ययन हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) में प्रस्तुत किए जा सकेंगे। इन सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययनों को तैयार करने के लिए डॉ० अग्रवाल ने विभिन्न जनपदों में बसने वाले लेखकों, जिनसे उनका तात्पर्य राष्ट्रभाषा हिन्दी के लेखकों से है अर्थात् मुझसे-आपसे है—की आठ-आठ समितियों की कल्पना की है और उनके लिए पांच वर्ष के कार्यक्रम की एक साधारण रूपरेखा बना दी है।[1]

डॉ० अग्रवाल की योजना और विचारधारा पंडित बनारसीदास के **विकेन्द्रीय-करण** की योजना और विचारधारा से किन अंशों में आगे है, इस पर हम यथावसर विचार करेंगे। परन्तु पहले हमें इस योजना की सीमाओं पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। जनपद कल्याणीय योजना से इनना तो स्पष्ट है कि विभिन्न जनपदों के निवासियों की मातृभाषाओं के विकास के लिए कुछ भी करना डॉ० अग्रवाल को अभीष्ट नहीं है। उनका निश्चित मत है कि शिक्षा का माध्यम उच्च हिन्दी अथवा साहित्यिक खड़ी बोली को ही होना चाहिए, और मातृभाषाओं में नया साहित्य नहीं उत्पन्न होना चाहिए। डॉ० अग्रवाल मातृभाषाओं को उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से वे अपने म्युज़ियम की वस्तुओं को देखते हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दी अथवा साहित्यिक खड़ी बोली के सम्मुख मातृभाषाओं का पुनरुत्थान असंभव है। अग्रवाल पुरातत्त्व के पंडित होने के कारण इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि मातृभाषाओं में युग-युग से संचित जन-जीवन के अनुभव और ज्ञान की ऐसी राशि है, जो महाभारत काल से लेकर अभी तक अक्षुण्ण बनी हुई है, संभव है कि कालान्तर में उसमें अभिवृद्धि ही होती आयी है, अतः वह एक ऐसी थाती है जो हमें भारतीय जीवन की अटूट परम्परा से मिली है। परन्तु साहित्यिक खड़ी बोली की आप्लावनकारी बाढ़ में यह थाती नष्ट हो रही है। पुरातत्त्व की दृष्टि से हमारा कर्तव्य है कि हम उसमें जो कुछ भी ज्ञातव्य और संग्रहणीय है, वह सब संग्रह करलें और राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य को समृद्ध बना लें। विचार केवल इतना है कि इन मिटती हुई जनपद संस्कृतियों की **विशेषताओं** का संग्रह करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को भाषाओं का ऐसा म्युज़ियम बना दें, जिसमें राजस्थान, पंजाब, नैपाल, विदेह और मध्य प्रान्त तक फैले हुए मध्यदेश की विभिन्न भाषाओं का सत्व खींचकर केवल हिन्दी ही एक जीवित भाषा रह जाय और वही इस

---

१ देखिए परिशिष्ट १

भाषाओं के म्यूज़ियम की क्यूरेटर भी हो !

मातृभाषाओं के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है, इस दृष्टि से देखने पर ही हम डॉ० अग्रवाल की योजना और उनकी विचारधारा की इतनी तीव्र आलोचना कर सकते हैं। यदि केवल हिन्दी की दृष्टि से ही देखें तो यह योजना अत्यन्त उपयोगी है। किसी भी दशा में प्रगतिवादी इस योजना का विरोध नहीं कर सकते, प्रत्युत उन्हें इसको कार्यान्वित करने में डॉ० अग्रवाल से सहयोग करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यह योजना हिन्दी-क्षेत्रों की विभिन्न संस्कृतियों तथा भाषाओं को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से नहीं बनायी गयी, परन्तु इतिहास की विकासधारा सीधी लकीर नहीं है कि वह योजनाओं द्वारा निर्दिष्ट पथ पर ही अग्रसर हो। यदि इन क्षेत्रों में साहित्यकों ने इस योजना के अनुसार कार्य किया और वहां के साहित्य, भूगोल और संस्कृति की खोजबीन की तो इसका परिणाम केवल इतना ही नहीं निकलेगा कि हिन्दी का भंडार भर जाय। डॉ० अग्रवाल इतिहास की गत्यात्मक धारा से अनभिज्ञ हैं, अतएव उन्होंने सीधी-सरल रेखाओं द्वारा ही उसके भविष्य को मन में अङ्कित कर लिया है। राष्ट्रीय चेतना के विकास से जिस प्रकार जातीय चेतना भी उत्तरोत्तर बढ़ती है उसी प्रकार जातीय चेतना के परिणाम-स्वरूप इस चेतना का उदय होना भी अवश्यंभावी है कि जातियों की अपनी भाषाएं भी समुन्नत और स्वतन्त्र हों। डॉ० अग्रवाल की योजना का यह सीधा परिणाम होगा कि जिन विस्मृत प्रदेशों में आज कोई साहित्यिक क्रियाशीलता नहीं है वहाँ पर हिन्दी के साहित्यिक अपने-अपने जनपदों की भाषा और संस्कृति का निकट से अध्ययन करेंगे, और केवल यही बात उनके और दूसरे लोगों के मन में जातीय गौरव की अनुभूति जगायेगी और उनकी शिक्षा सम्बन्धी समस्याएं अपने समाधान के लिए उन्हें इस निष्कर्ष तक खींच ले जाएँगी कि बिना अपनी मातृभाषा के समुचित विकास के जन-साधारण को शिक्षित और उन्नत नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अपनी जातीय संस्कृति की गोद में ही सर्वसाधारण की जातीय चेतना पोषण पा सकती है, अपनी जातीय वाणी में ही चेतना संपूर्णरूप से मुखर हो सकती है। डॉ० अग्रवाल की योजना इस भावना को जगाने में अव्यक्त रूप से सहायक ही सिद्ध होगी, बाधक नहीं। स्वयं हिन्दी के देशव्यापी प्रचार ने ही जनपद-चेतना को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त स्वयं हिन्दी की अपनी समस्या है, जिसका एक सीमा तक समाधान डॉ० अग्रवाल की योजना की सफलता पर निर्भर करता है। हिन्दी का प्रचार जिस अनुपात में बढ़ता जाता है, उस अनुपात में उसके विविध अङ्गों का साहित्य-भण्डार नहीं भर रहा है। यह हिन्दी-साहित्य का संकट है जिसका हल निकालने के लिए डॉ० अग्रवाल की योजना बनायी गयी है। वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढंग के अध्ययन किसी योजना के अनुसार और किसी साहित्यिक संगठन, परिषद् अथवा एकेडमी के तत्वावधान में ही संभव हैं। इसके साथ ही डॉ० अग्रवाल की योजना से एक और लाभ हो सकता है। इन अध्ययनों के फलस्वरूप जनपदीय भाषाओं के सहस्रों सरल, सुबोध परन्तु सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव के प्रकाशन में समर्थ शब्द, मनुष्य के दैनिक व्यापारों में प्रयुक्त क्रियाओं के नाम, मुहावरे, लोकोक्तियां आदि संकलित होकर धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द-भण्डार में प्रविष्ट हो जाएंगे

और हिन्दी का भाव प्रकाशन भी अधिक उन्नत, सुनिश्चित और वैज्ञानिक होता जायगा। अपने देश की संस्कृति के ज्ञान में जो अभिवृद्धि होगी, वह अलग। अंग्रेज़ी, जर्मन, रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं के विद्वान् हमारी भाषाओं और संस्कृतियों का अध्ययन करके अपने भाषा-भाषियों का ज्ञान बढ़ाते हैं, तो यदि हिन्दीवाले स्वयं अपने ही क्षेत्रों की भाषाओं का शास्त्रीय अध्ययन करने का निश्चय करें, तो प्रगतिवादी उसका विरोध कैसे कर सकते हैं? अतः यदि मैंने अभी डॉ० अग्रवाल की तीव्र आलोचना की है तो इस बात को ध्यान में रखकर कि उनकी योजना जनपद-**कल्याणीय** नहीं वरन् **हिन्दी-कल्याणीय** है और उसे भिन्न नाम से पुकारकर व्यर्थ का भ्रम नहीं फैलाना चाहिए। इससे यदि जनपदों का कुछ लाभ होगा तो वह डॉ० अग्रवाल की इच्छा के प्रतिकूल। इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ग्रामों अथवा जनपदों के प्रति डॉ० अग्रवाल का अनुराग निश्छल और सच्चा नहीं है। परन्तु कवि की भावुकता और उपासक की श्रद्धा की सीमाओं को पार कर जानेवाला यह सच्चा अनुराग अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक भावुकता और श्रद्धा की वृत्तियों पर अवलम्बित है और जनपदीय भाषाओं के प्रश्न को समझ लेने में असमर्थ है।

डॉ० अग्रवाल की योजना के पक्ष में एक बात और कही जा सकती है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का **विकेन्द्रीकरण** का आन्दोलन और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपदीय योजना एक दूसरे के पूरक हैं। चतुर्वेदीजी के **विकेन्द्रीकरण** के आन्दोलन में सभी बातें अस्पष्ट हैं—हिन्दी की कौन-सी शक्तियों का अपव्यय हो रहा है, उनका उपयोग न हो पाने से क्या तात्पर्य है, छोटे केन्द्रों में विभाजन किस आधार पर किया जाय, इन प्रादेशिक अथवा माण्डलिक साहित्य सम्मेलनों के सामने क्या कार्य-क्रम हो, उनका क्या उद्देश्य हो आदि सभी प्रश्न **विकेन्द्रीकरण** हो जाने पर तय करने के लिए छोड़ दिए गए हैं। डॉ० अग्रवाल ने अपनी योजना द्वारा विकेन्द्रीयकरण की मांग को उद्देश्य प्रदान किया और क्षेत्र-विभाजन के लिए सिद्धान्त निर्धारित किया कि विभिन्न संस्कृतियों के परिचायक जनपदों के आधार पर केन्द्र स्थापित किए जाएं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह जनपद आन्दोलन की विचारधारा का चतुर्वेदीजी की अपेक्षा अधिक व्यापक और सुनिश्चित स्वरूप हैं और हमारी बढ़ती राष्ट्रीय चेतना का द्योतक है; पर न डॉ० अग्रवाल और न चतुर्वेदीजी ही ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी विचारधाराओं के परस्पर सम्बन्ध को देखते हैं, अतः दोनों की एकता का अनुभव करते हुए भी शब्दों का दुराग्रह अभी चल रहा है। डॉ० अग्रवाल **विकेन्द्रीकरण** शब्द का प्रयोग वांछनीय नहीं समझते क्योंकि "विकेन्द्रीकरण शब्द कुछ विशेष संस्कार लेकर" साहित्य में आया है। वैसे उनका भी यही मत है कि "जनपदीय कार्य अनेक केन्द्रों में फैल-कर ही करना पड़ेगा।" चतुर्वेदीजी अपना शब्द छोड़ने को तत्पर नहीं क्योंकि उससे उनके "अराजकवाद के सिद्धान्त" को पुष्टि मिलती है। पर इस विवाद में इस सिद्धान्त की चर्चा अप्रासंगिक है। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदीजी के भाषा और बोलियों के आधार पर प्रान्त-निर्माण के आन्दोलन से पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० अग्रवाल सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि "जन-पदीय कार्य-क्रम और प्रान्त-निर्माण का आन्दोलन बिलकुल प्रथक बातें हैं, उनका संकर

किसी का हित नहीं कर सकता।" इस प्रकार चतुर्वेदीजी की विचारधारा में मातृभाषाओं की दृष्टि से जो सजीव नारा था, डॉ० अग्रवाल ने उसको एकदम अस्वीकृत करके अपनी विचारधारा को केवल हिन्दी की दृष्टि से ही सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। और इसमें सन्देह नहीं कि जनपदीय कार्यक्रम का उद्देश्य यदि ग्राम-जीवन और भूगोल का अध्ययन मात्र ही रहे तो फिर 'प्रान्त निर्माण' का प्रश्न उससे सर्वथा भिन्न हो जाता है। प्रांत निर्माण जातीय जाग्रति के बिना असंभव है और जातीय जाग्रति के साथ मातृभाषाओं के स्वतन्त्र विकास का प्रश्न कार्यकारण रूप में सम्बद्ध है। स्वयं चतुर्वेदीजी ने प्रान्त निर्माण के प्राश्न को राजनीतिक प्रश्न बताया है और कहा है कि "साहित्यिक संस्थाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है"। राजनीतिक दृष्टि से भी वे केवल राजस्थानी, बुन्देली और मैथिली आदि के लिए ही नए प्रान्तों का निर्माण करना चाहते हैं, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि अन्यान्य भाषाओं और बोलियों के लिए नहीं। जनपदीय चेतना की दृष्टि से चतुर्वेदीजी अधिक यथार्थदर्शी और आगे बढ़े हुए हैं। डॉ० अग्रवाल अपनी पुरातत्त्व-रुचि से इतने बंधे हैं कि वे उसके बाहर और किसी चीज़ का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते।

परन्तु इन दोनों साहित्य सेवियों के सम्मिलित प्रयत्नों के दो परिणाम निकले हैं। बुन्देलखंड साहित्य मंडल ने जनपदीय योजना को यथाशक्ति कार्यान्वित करने की चेष्टा आरम्भ करदी है, और बुन्देलखंडी 'विश्वकोष' के लिए सामग्री एकत्र की जाने लगी है। इस दिशा में राजस्थानी वाले जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसके लिए उन्होंने डॉ० अग्रवाल की योजना से प्रेरणा नहीं ली है क्योंकि उनका प्राथमिक उद्देश्य अपनी मातृ-भाषा का पुनः साहित्यिक संस्कार करके उसे स्वतंत्र विकास के पथ पर अग्रसर करना है, केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी का भंडार भरना ही नहीं। वे पहले अपने घर में दिया जलाना अधिक ज़रूरी समझते हैं, और 'आई माई को काजर नहीं, बिलाई को भर माँग' में विश्वास नहीं करते।

इस आन्दोलन का दूसरा परिणाम यह निकला कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हरिद्वार अधिवेशन (१९४२) में जनपद सम्बन्धी निम्न प्रस्ताव पास किया :

"इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय संस्कृति का निवास हमारे जनपदों में है। अतः यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारत के विभिन्न जनपदों की भाषा, पशुपक्षी, वनस्पति, ग्रामगीत जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहाँ की उपज का अध्ययन करानें की योजना उपस्थित करे। उस समिति में निम्नलिखित विद्वान् हों :—

सर्वश्री वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, अमरनाथ झा, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र, और चन्द्रबली पाण्डेय (संयोजक)।"

जनपद समिति अधिक कार्य नहीं कर सकी, क्योंकि चाहे सम्मेलन को एक बार यह 'विश्वास' हो गया हो कि 'भारतीय संस्कृति का निवास' जनपदों में है, और 'विभिन्न जनपदों' की भाषा, संस्कृति और साहित्य भी भिन्न हैं, पर जनपद-समिति के सुयोग्य संयोजक श्री चन्द्रबली पांडेय में यह सरल विश्वास न उत्पन्न हो सका। उन्हें चतुर्वेदीजी और राहुल

जी के विचार 'भयावह' लगे और उन्होंने सम्मेलन के प्रस्ताव को जेब में रखकर चतुर्वेदी-जी को लिखा कि "वास्तव में अग्रवालजी की योजना से सम्मेलन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। वह तो युक्त प्रान्तीय वा मध्यदेशीय सम्मेलन के घर की बात है।" इसके अतिरिक्त सम्मेलन के तत्कालीन सभापति पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने भी एक प्रेस इन्टरव्यू में कहा कि 'बहुत संभव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्ताव को रद्द करदे।'

इस प्रकार जहां तक साहित्य सम्मेलन का संबन्ध है चतुर्वेदीजी का 'विकेन्द्रीकरण' का सुझाव और डॉ० अग्रवाल का 'जनपद कार्यक्रम' दोनों ही उस छोर से अधिक आगे न बढ़ सके। बल्कि जयपुर सम्मेलन की प्रतीक्षा किए बिना ही पं० चन्द्रबली पांडेय और पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने हरिद्वार के प्रस्ताव को उपेक्षा के अतल गर्त में डुबो दिया।

जहां तक 'विकेन्द्रीकरण' का प्रश्न है, हिन्दी के अधिकांश कार्यकर्त्ताओं को उससे विरोध है, क्योंकि जिस देश में आदि काल से सत्ता कभी भगवान, कभी राजा, कभी ब्राह्मण और कभी वायसराय के हाथ में ही केन्द्रित रही हो, उस देश के विचारकों और राष्ट्रकर्मियों के संस्कार कुछ ऐसे कोमल बन जाते हैं कि 'विकेन्द्रीकरण' जैसे शब्दों की ध्वनि ही कर्णकटु लगने लगती है, फिर उसके अर्थ समझने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु डॉ० अग्रवाल की 'जनपद कल्याणीय योजना' को व्यापक समर्थन मिला—'लोक कल्याण की भावना' से इसमें ध्वनि साम्य है, और यह ध्वनि हमारी सनातन उदार वृत्तियों को तुरन्त जगा देती है। और यद्यपि 'विकेन्द्रीकरण' का सिद्धान्त उसके मूल में काले नाग की तरह बैठा है, फिर भी हमारे औदार्य के जगने पर मूल की ओर दृष्टि डालने का धैर्य किसमें रह जाता है? किन्तु अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार और जनपद-समिति के निर्वाचित सदस्थ सत्येन्द्रजी जैसे विरल दूरदर्शी व्यक्ति भी हमारे देश में हैं जो किसी विचार के मूल तक पहुंचे बिना चैन नहीं लेते। और वे डॉ० अग्रवाल की योजना के मूल में 'विकेन्द्रीकरण' या 'विग्रह' का नाग देखकर अपने को सावधान कर चुके हैं। सत्येन्द्रजी को जनपम-कार्यक्रम से विरोध इसलिए है कि उसमें 'जनपद' शब्द का प्रयोग निरापद नहीं है। भविष्य में वह अनेक जातीय दुर्भावनाएं पैदा कर सकता है। अन्यथा वे ग्रामों का अध्ययन अवांछनीय नहीं समझते। उनका मतभेद इसलिए भी है कि कार्य चूंकि इतिहास और भूगोल परिषदों का है, अतः केवल इसलिए कि अग्रवाल जी जनपद सम्बन्धी अध्ययनों को हिन्दी में लिखाना चाहते हैं, उसे करने के लिए सम्मेलन को क्यों बाध्य किया जाय। अवनीन्द्रनाथ विद्यालंकार की विचारधारा अत्यन्त अस्पष्ट और बृहत्तर भारत का दिवा-स्वप्न देखन वाले एक विक्षिप्त की-सी है। उनका निश्चित मत है कि जनपदों की स्थापना भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में बाधक होगी। वैसे वे भी ग्राम गीतों, कहानियों, मुहावरों और शब्दों आदि के संग्रह के विरोधी नहीं हैं, केवल वे गावों की ओर लौटना पसन्द नहीं करते। इस नारे का आरोप जनपद-प्रसंग में उन्होंने किस आधार पर किया, यह अज्ञात है। चतुर्वेदी जी और डॉ० अगवाल ने तो कहीं भी 'शुद्ध भारतीय सभ्यता और संस्कृति' के प्रति इतना गहरा अनुराग नहीं दिखाया।

मातृभाषाओं का प्रश्न

इस विवाद में वास्तविक सरगर्मी और तीखापन तब आया जब महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने *हंस* (सितम्बर १९४३) में 'मातृभाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख द्वारा इस समूचे आन्दोलन की विचारधारा को वैज्ञानिक और जनवादी आधार देकर एक दूसरे ही धरातल पर उठाकर रख दिया।

इसके एक वर्ष पूर्व राहुलजी ने *हंस* में एक और लेख 'पाकिस्तान और जातियों का सवाल' लिखा था। उन्होंने इसी लेख में मातृभाषाओं के प्रश्न की रूपरेखा निर्धारित कर दी थी। उन्होंने कहा था कि पाकिस्तान का प्रश्न जातियों का प्रश्न है। पाकिस्तान की माँग साम्प्रदायिक नहीं है जो धर्म पर आधारित हो, बल्कि वह उत्तर-पश्चिम और पूर्व भारत की ग्यारह जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की न्यायपूर्ण माँग है।[1] इस प्रकार पाकिस्तान एक जाति का राष्ट्र नहीं होगा। वह ऐसी अनेक जातियों का राष्ट्रसंघ होगा जिनकी अलग-अलग संस्कृतियाँ और भाषाएँ हैं। राहुलजी का कहना था कि इसी प्रकार हिन्दुस्तान भी एक बहुजातिक राष्ट्र होगा। जातियों का निर्णय धर्म के आधार पर करना असंगत है, भाषा ही इसका निर्णय कर सकती है। इस दृष्टि से उनके अनुसार भारत में कम से कम ७३ भाषाएँ और ७३ जातियाँ हैं। राहुलजी ने इसकी सूची भी दी थी। इस सूची में संशोधन की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु इससे उनका दावा ग़लत सिद्ध नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी कहा कि ये दोनों जाति-संघ जनतन्त्रवादी होने चाहिए, और यदि ऐसा हुआ तो उनके सम्मुख समस्त जनता को साक्षर और शिक्षित बनाने का प्रश्न अनिवार्यतः उठेगा। उस समय थोथी भावुकता और काल्पनिक अखंडता के नाम पर एक विजातीय भाषा को लादने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि **प्रश्न जनता को नई भाषा देने का नहीं बल्कि नया ज्ञान देने का होगा।** मातृभाषाओं के रूप में भाषा तो जनता के पास मौजूद है और उसमें वह अपने भावों को व्यक्त करना जानती है। नया ज्ञान देने के लिए नये पारिभाषिक शब्दों की ज़रूरत पड़ेगी और उसके लिए जिस प्रकार अन्य भाषाएँ, जैसे बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं से शब्द उधार लेती हैं, उसी प्रकार विभिन्न मातृभाषाएँ भी उनसे ही उधार लेंगी। अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने से जनता को यह सुविधा रहेगी कि उसे व्याकरण और मुहावरे नहीं सीखने पड़ेंगे, और न एक विजातीय भाषा को सीखने में आठ-दस वर्ष गँवाने पड़ेंगे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किसी अन्तरप्रान्तीय भाषा की

१—'पाकिस्तान की माँग' को 'जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग' का ही पर्य्याय सिद्ध करने की भ्रमपूर्ण और ग़लत चेष्टा उन दिनों भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने की थी। इस भ्रामक नीति का ही परिणाम था कि हिन्दी के अधिकांश प्रगतिवादियों ने भी इस ग़लत तर्क को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। परन्तु इससे 'मातृभाषाओं के प्रश्न' का रूप नहीं बदलता।—ले० (१९५६)

ज़रूरत ही न रहेगी। और उसके लिए हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) से अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा नहीं हो सकती। मातृभाषा की परिभाषा देते हुए राहुलजी ने लिखा कि **मातृभाषा वह है जो कि माँ के दूध के साथ बच्चा सीखता है। जिस भाषा के व्याकरण को पुस्तक पढ़कर सीखना पड़े वह आदमी की मातृभाषा नहीं है।** भारतीय इतिहास से उदाहरण देकर उन्होंने हमें स्मरण दिलाया कि महात्मा बुद्ध से पूर्व यहाँ जनपदों का युग था। और यद्यपि कालान्तर में अनेक प्रभावों के पड़ने से इन जनपदों की भाषाओं और संस्कृतियो में परिवर्तन भी हुए, परन्तु भाषा-मूलक जनपदों को तोड़ने के प्रयत्न सदा व्यर्थ होते आये। आज भी यदि खड़ी बोली को मातृभाषाओं के स्थान पर लादने की चेष्टा की गई तो ऐसी चेष्टा असफल होगी। इससे जातियों की स्वाभाविक प्रतिभा का विकास अवरुद्ध होगा और कोई जाति इसे सहन न कर सकेगी।

मातृभाषाओं का प्रश्न शीर्षक निबन्ध में राहुलजी ने इस प्रश्न पर मुख्यत: सांस्कृतिक दृष्टि से विचार किया। भ्रम निवारण के लिए उन्होंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया कि, "**आज के युग में एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात होगी। इसलिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं करते। रोज़ के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यिक आदान-प्रदान के साधन के तौर पर भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा, इसे भी हमें मानना पड़ेगा।**" राहुलजी ने केवल इस बात का आग्रह किया कि यदि हम जन-शिक्षा का कार्य उठायेंगे तो हमें मातृभाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बनाना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान सदा भाषा के लिबास में रहता है और उसी के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। मातृभाषा सीखने में बिलम्ब नहीं होता, अतः हम मातृभाषाओं में थोड़ी-सी शिक्षा के उपरान्त ही जनता को उच्चज्ञान प्रदान कर सकते हैं। आठ वर्ष तक हिन्दी सीखने के पश्चात् ज्ञान मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार देने की नीति अनुचित है। इस तर्क की पुष्टि में राहुलजी ने रूस का उदाहरण दिया। मध्य एशिया के तुर्कमान, उज़बेक, किरगिज़ और कज़ाक जातियों में शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति का कारण यह है कि सोवियत शासन ने वहाँ मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया है। लाल-क्रान्ति के पूर्व इन भाषाओं की न कोई लिपि थी और न उनका कोई लिखित साहित्य। तुर्की भाषा का ही आधिपत्य था। अब उसके स्थान पर चार मातृभाषाएँ अपना सर्वाङ्गीण विकास करने में समर्थ हुई हैं और उच्च-से-उच्च शिक्षा का माध्यम बन गई हैं। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने भी सीमा-प्रदेश में पश्तो को पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम बनाया था। अतएव अन्य मातृभाषाओं को भी अधिकार है कि वे इस प्रकार की माँग करें। यदि अभी तक ऐसा नहीं हुआ तो इसका कारण यह है कि प्रान्तों का वर्तमान बँटवारा शासकों के सुभीते के अनुसार हुआ है। अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना होगा। इसमें भारत की खंडता और अखंडता का प्रश्न नहीं उठता, बल्कि सारा प्रश्न, जनहित की दृष्टि से इन मातृभाषाओं की अन्यतम उपयोगिता पर निर्भर करता है। इसी दृष्टि से

राहुलजी ने हिन्दी-उर्दू प्रान्तों (पंजाब, सिंध, युक्तप्रान्त, राजपूताना, मध्य प्रान्त और बिहार) का भाषा और संस्कृति के अनुसार तीस जनपदों में विभाजन किया।[1] यह विभाजन चतुर्वेदीजी और डॉ० अग्रवाल के अर्थों में **विकेन्द्रीकरण** अथवा हिन्दी का भण्डार भरने को लक्ष्य मानकर हिन्दी की सुविधा के अनुसार नहीं किया, बल्कि भिन्न-भिन्न जनपदों को संगठित करके उनका केन्द्रीकरण करने अथवा मातृभाषाओं के स्वाभाविक विकास की सुविधाएँ प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया गया है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि इस विभाजन से तथा मातृभाषाओं को शिक्षा और साहित्य का माध्यम बनाने से हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को कोई धक्का पहुँचने की दुस्संभावना नहीं है। हिन्दी आज अन्तरप्रान्तीय भाषा का जो कार्य कर रही है, जनपदों के निर्माण के पश्चात्, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसको यह कार्य और भी अधिक व्यापक रूप से करना होगा। बल्कि उक्त जनपदों में हिन्दी (अथवा उर्दू) को अनिवार्य द्वितीय भाषा बना देने से किसी को आपत्ति न होगी। इसके अतिरिक्त हिन्दी केवल मात्र एक अन्तरप्रान्तीय भाषा ही नहीं है, वह कुरु जनपद की ३० लाख जनता की मातृभाषा भी है। अतः उसे अपनी उर्वर प्रसव भूमि के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा। कौरवी (खड़ी) बोली के निकट जाने से ही उसकी कृत्रिमता, जड़ता और अधूरी भाव-प्रकाशन-शक्ति, अधूरी वर्णन-क्षमता आदि को दूर किया जा सकेगा। अग्रवाल योजना तक जनपद-भक्ति सीमित रखने वालों को राहुलजी ने चेतावनी दी कि बोलियों (मातृभाषाओं) की मृत्यु का वारण्ट नहीं कट चुका है कि हम जो कुछ उपलभ्य साहित्यिक-सांस्कृतिक सामग्री है उसे जल्दी-जल्दी बटोर लें। वे सजीव भाषाएं अथवा बोलियाँ हैं, उनके बोलने वाले कर्मठ किसान और मजदूर हैं। आज भी उनमें लोक-साहित्य की रचना हो रही है। अतः जब हम इस असंख्य जनता को शिक्षित बनाने की बात करें, तब हमें यह भी सोच-समझ लेना चाहिए कि इन मातृभाषाओं का विकास करना है ताकि वे भविष्य में जनपदीय पार्लियामेन्टों में बोली जायँ, कचहरियों में लिखी जायँ, प्राइमरी पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक में शिक्षा का माध्यम बनें, उनमें पत्र-पत्रिकाएँ निकलें, फिल्म तैयार हों और उनके अपने रेडियो स्टेशन हों।

मैथिली और राजस्थानी में कुछ वर्षों से यह आन्दोलन चल रहा है कि उक्त भाषाओं को अपने क्षेत्रों में पूर्ण विकास करने और अपनी रीडरें बनाने की पूर्ण स्वाधीनता हो, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। राहुलजी ने इस प्रवृत्ति को ही वैज्ञानिक, सांस्कृतिक आधार देकर एक सुव्यवस्थित विचारधारा के रूप में उपस्थित किया। जहाँ **विकेन्द्रीकरण** और **जनपदीय योजना** की विचारधारा के मूल में पुरातत्व की खोज और हिन्दी (साहित्यक खड़ी बोली) अथवा राष्ट्रभाषा का भंडार भरने का उद्देश्य ही मुख्य था और सांस्कृतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना का प्रथम चरण होने के कारण मातृभाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व और विकास की समस्या को गौण प्रश्न समझ लिया गया

१. देखिए परिशिष्ट २।

था, जिससे विभिन्न जनपदों की जनता की अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताओं को तस्वीर में नहीं लाया गया था; अतः अन्धकार में टटोलकर इस योजना या उस योजना को पकड़ कर कुछ करना अभीष्ट हो गया था, वहाँ राहुलजी ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर जनशिक्षा के व्यापक उद्देश्य को सामने रखकर इस समस्या का समाधान उपस्थित किया। इससे जनपद आन्दोलन की विचारधारा ही बदल गई। जनपद आन्दोलन को इससे स्फूर्ति, बल और प्रेरणा मिली।

जनपद आन्दोलन का समर्थन

मैथिली, राजस्थानी, बुन्देली के क्षेत्रों में जहाँ जनपद-आन्दोलन का सूत्रपात हो गया है, वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने सामान्य रूप से राहुलजी की विचारधारा का समर्थन किया है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। उनके अतिरिक्त अनेक दूरदर्शी उदार-चेता विचारकों और साहित्य-सेवियों ने भी राहुलजी के दृष्टिकोण का सम्पूर्ण अथवा आंशिक समर्थन किया है। **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** और **सुनीतिकुमार चटर्जी** ने भाषा शास्त्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से भी इस प्रश्न पर विचार किया है और यद्यपि वे मातृभाषाओं की माँग का आंशिक समर्थन ही करते हैं, तथापि किसी हठ या मोह के कारण साहित्यिक खड़ी बोली को सारे मध्यदेश की मातृभाषा मनवाने का दुराग्रह नहीं करते। डॉ० **सुनीतिकुमार** ने अपने मत को स्पष्ट करते हुए पं० बनारसीदास को लिखा था—"**साधारणतया इतना अब कह सकता हूँ कि मैं विकेन्द्रीकरण के अनुकूल हूँ, खास करके उन प्रान्तों के लिए जहाँ की बोलियाँ उप-भाषाएँ** (dialects) **नहीं हैं, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से न्यारी या पृथक् भाषा पद-वाच्य हैं। इसलिए मेरी राय के अनुसार भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली (पूर्वी हिन्दी) पंजाबी, हिन्द की (पश्चिमी पंजाबी) इनके लिए विकेन्द्रीकरण स्वीकार कर लेना अयौक्तिक और कठिन नहीं होगा। पर आपकी बुंदेली के लिए बात दूसरी है। यह तो पश्चिमी या पछाहीं हिन्दी के वर्ग की बोली है।···शिक्षा व सार्वजनिक जीवन में कहाँ तक प्रान्तिक बोलियों का प्रसार या व्यवहार होना चाहिए, इसका निर्णय कठिन होगा, पर इसका निर्णय करना तो आवश्यक है।**" डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस प्रश्न का निर्णय करने के पूर्व कतिपय आवश्यक बातों पर विचार करने की सलाह दी है और उपयोगी सुझाव भी पेश किये हैं। हम उन पर यथावसर विचार करेंगे। **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** यद्यपि हिन्दीकी सम्पूर्ण विजय की ही आंकाक्षा रखते हैं, फिर भी उनका मातृभाषा प्रेम उन्हें दुराग्रही नही बनने देता। उन्होंने स्वयं अपनी सफाई दी है कि, "**मैं मध्यदेश की जनपदी बोलियों तथा संस्कृति का विरोधी नहीं हूं बल्कि पूर्ण पक्षपाती हूं। मेरा अपना भी तो एक जनपद है और मेरी मातृभाषा भी तो एक जनपदी बोली है, अतः मैं इस सिद्धान्त का विरोधी हो भी कैसे सकता हूं? मैं यहां तक जाने को तैयार हूं कि आवेश में आकर नहीं बल्कि सोच समझकर यदि कोई जनपद अपने को मध्यदेश के इस साहित्यिक सम्बन्ध से पृथक् करना ही चाहे तो उसकी इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण**

करने का अवसर उसे अवश्य मिलना चाहिए। संयुक्त परिवार का सच्चा बन्धन प्रेम और त्याग है, स्वार्थ और हठ नहीं।" डॉ० अमरनाथ झा ने मातृभाषाओं के प्रश्न पर कभी विरोधियों के आगे मस्तक नहीं नवाया। आगरा नागरी-प्रचारिणी सभा में भाषण देते हुए कहा कि **'मेरी मातृभाषा मैथिली है।" ..."जनपदीय भाषाओं के प्रति अनुदार होने का अर्थ है हिन्दी की अवनति। राष्ट्रभाषा तो हमारी हिंदी ही है। हिंदी में ही एक बंगाली एक पंजाबी की बातचीत समझ सकता है। एक पंजाबी अथवा गुजराती को किसी दूसरे प्रान्त के निवासी से बातचीत करने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लेना पड़ेगा। पर साथ ही साथ एक जनपदीय भाषाभाषी को उसकी भाषा में ही बोलने-चालने में सुविधा होगी। आरा में मुझे अभिनन्दन-पत्र देते समय कई कविताएं पढ़ी गयीं। लेकिन जनता में सबसे अधिक प्रभाव उन कविताओं का पड़ा जो कि भोजपुरी में पढ़ी गई। एक ब्रजवासी के लिए ब्रज ही सबसे सरल और मीठी भाषा है। यही बात दूसरी जनपदीय भाषाओं के लिए भी लागू है। किसी भी भाषा के बारे में तुलनात्मक रूप से अच्छी या बुरी कहने का अधिकार किसी को नहीं। जिन दिनों मुझे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति होने का गौरव प्राप्त था, उन दिनों मैंने कितनी ही जगह भ्रमण किया। मैं बम्बई, नागपुर, ओरछा, आरा और जलंधर आदि स्थानों पर गया था। सभी जगह मेरा यही सन्देश था कि आप लोग अपनी-अपनी जनपदी भाषाओं की उन्नति करिये। इसी में हिन्दी का कल्याण है।" भदन्त आनन्द कौसल्यायन, देवेन्द्रसत्यार्थी, रायबहादुर सरदार माधवराव विनायक राव किबे, राम इक़बालसिंह राकेश, वृन्दावनलाल वर्मा और डॉ० बल्देवप्रसाद मिश्र आदि** अनेक विद्वानों ने भी राहुलजी की विचार-धारा का पूर्णतः अथवा आंशिक समर्थन किया है। इस समर्थन के सिलसिले में एक-आध बार 'भाषाओं के आत्मनिर्णय के अधिकार' की चर्चा भी हुई है। इन समर्थकों के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि उनमें से कोई भी कोरा **साहित्यिक कार्यकर्त्ता** और **प्रोपेगैण्डिस्ट** नहीं है, बल्कि डॉ० धीरेन्द्रवर्मा और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी उत्कृष्ट भाषाविद् हैं, डॉ० अमरनाथ झा श्रेष्ठ साहित्य मर्मज्ञ और प्रमुख शिक्षाविद् हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी और रामइक़बालसिंह 'राकेश' ऐसे कर्मठ साहित्यकार हैं, जिन्होंने गांव-गांव में घूमकर जनपदों के सहस्रों लोक-गीतों का संग्रह किया है और उन्हें विरोधियों की अपेक्षा जनपदों के जीवन, उनकी आकांक्षाओं और भावनाओं का कहीं ज्यादा ज्ञान है; सरदार किबे, वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० बल्देवप्रसाद ने स्वयं आजीवन अपने-अपने जनपदों के बीच रहकर साहित्य सेवा की है। भदन्त आनन्द कौसल्यायन राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के मन्त्री हैं और जानते हैं कि राष्ट्रभाषा को सीखकर जनपद निवासी अपनी मातृभाषा का किस सीमा तक परित्याग कर देते हैं। ऐसी स्थिति में इन विद्वानों और साहित्यकारों के समर्थन का विशेष महत्व है। इनलोगों का सामान्यतः इतना तो निश्चित मत है कि यह कहना कि बोलियों में अपना साहित्य न उत्पन्न हो, एक 'ज़बरदस्ती का आर्डिनेन्स' है। जनपदों में निवास करने वाली जनता के ऊपर हिन्दी को मातृभाषा के रूप में लादने की चेष्टा अन्याय

पूर्ण होगी, भविष्य में जागृत होकर वे इस अवैध व्यवस्था को उखाड़ फेंकेंगी। जनपदों की जनता पर उनकी अपनी मातृभाषाओं की रचनाओं का अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा प्रभाव पड़ता है। ये विद्वान् किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के सहारे नहीं वरन् स्वयं अपने अनुभव और लोक-जीवन के ज्ञान के आधार पर इन परिणामों पर पहुंचे हैं अतः उनके निष्कर्ष ध्यान में रखने योग्य हैं। परन्तु उक्त विचारक और साहित्यिक चूंकि पेशेवर प्रोपेगैण्डिस्ट नहीं हैं और साधारणतः तथाकथित साहित्य सेवियों की उदार-चेतना, व्यापक सहानुभूति और न्याय-भावना पर उनका सहज विश्वास है, अतः उन्होंने यह अनुमान नहीं लगाया कि एक नई विचारधारा को समर्थन प्रदान करके उन्होंने पहले से उद्वेलित वातावरण को और उत्तेजना ही प्रदान की है। इसलिए वे अपना मत प्रकाशित करके ही निश्चिन्त हो गए। इस मत का और स्पष्टीकरण करने के लिए अथवा इसे जनमत बनाने के लिए उन्होंने व्यापक आन्दोलन नहीं किया। दूसरी ओर विरोध का स्वर अपने केन्द्र पर रूढ़ द्वेषों, विवेकहीन भावनाओं और अबौद्धिक उत्तेजनाओं को इर्द-गिर्द इकट्ठा करके उत्तरोत्तर तीव्र और कर्कश होता गया और वह विवेक, न्याय और जनहित की वाणी को पीछे ढकेलने में तत्काल के लिए समर्थ हो गया।

जनपद आन्दोलन का विरोध

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकांश कार्यकर्त्ताओं की राष्ट्रीय चेतना और जनतांत्रिक भावना अभी इतनी उदार और व्यापक नहीं हो पायी है कि वे राहुलजी की विचारधारा पर पक्षपात रहित होकर विचार कर सकें। अपनी कूपमण्डूकता अथवा कठमुल्लापन के कारण नहीं, बल्कि इसलिए कि हिन्दी के कार्यकर्त्ताओं का सोचने का तरीक़ा ही अब तक भिन्न रहा है और वे अपनी विचारशैली और कार्यशैली की परम्परा की सीमाओं में बंधकर ही सोचने के अभ्यस्त हैं। प्रारम्भ में एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी का एकछत्र राज्य था जिसके अध्ययन से यत्र-तत्र कुछ प्रतिभाएं सचेत होकर राष्ट्रीय प्रश्नों पर सोचने लगी थीं। परन्तु विदेशी भाषा न हमें अपनी प्राचीन संस्कृति का सजीव स्पर्श करा सकती थी, न हमें अपनी सभ्यता की विशिष्ट आभा से ही दीप्त कर सकती थी। वह केवल योरोपीय राष्ट्रों के राष्ट्रीय जागरणों की मिसालों से हमारे अन्दर एक अव्यक्त, अमूर्त स्वातन्त्र्य कामना, एक निस्सत्त्व आदर्शवादी भावना और वास्तविक जीवन से असम्पर्कित भविष्य कल्पनाओं को ही जन्म दे सकती थी। परन्तु चेतना का यह प्रथम अंकुर था, और राष्ट्रीय आन्दोलन ने जहां इस अंकुर को सींचा वहां हिन्दी आन्दोलन ने इसको धरती का आश्रय दिया, या कहें कि हिन्दी आन्दोलन हमारी बढ़ती राष्ट्रीय चेतना का स्वाभाविक परिणाम था। सचेतन देशभक्तों ने अनुभव किया कि अपनी भाषा और साहित्य द्वारा ही जन मन को सम्पूर्ण रूप से आन्दोलित किया जा सकता है। अपनी भाषा का स्वर-विधान, शब्द-ध्वनि और अर्थ-शक्ति ही देश की वर्तमान परिस्थिति को सजीव अभिव्यक्ति दे सकती है, अपनी परम्परागत संस्कृति के उच्च शिखरों को दृष्टिगोचर करा सकती है, जनता में

स्वाभिमान जगाकर उसके मन में स्वतन्त्र सुखमय भविष्य की उदात्त कल्पनाएं जगा सकती है। समूची जनता के मन और हृदय तक नई राष्ट्रीय चेतना के सन्देश को लेकर पहुंचने का एकमात्र मार्ग हिन्दी है, वही मध्यदेश के विभिन्न खंडों की जनता को एक सूत्र में बांध कर सबल बना सकती है। हिन्दी के मार्ग में अंग्रेजी ही सबसे बड़ी रुकावट थी, परन्तु चन्दबरदाई, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा और भूषण की विरासत का मध्यदेशवासियों को समान रूप से उत्तराधिकारी घोषित करके हिन्दी आन्दोलन ने हमारे अन्दर अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रति जातीय अभिमान की भावना जगा दी। हमें लगा कि अंग्रेज़ी के मुक़ाबले में हमारा साहित्य नगण्य नहीं है, और हमारी राष्ट्रीय चेतना मुखर हो गई। परन्तु विदेशी शासन के कारण हम अंग्रेज़ी को अपदस्थ न कर पाए। हमारे मनमें स्वाभाविक और सही प्रतिक्रिया हुई कि जब तक हिन्दी-आन्दोलन को और सशक्त न बनाया जायगा, अंग्रेज़ी का राजकीय कार्यों में चलन ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, उच्च शिक्षा का माध्यम भीवही बनी रहेगी। हिन्दी-आन्दोलन को और मज़बूत करने का अर्थ था कि हिन्दी को अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने के लिए देश के सुदूर प्रान्तों तक में राष्ट्रभाषा प्रचार का आयोजन किया जाय और मध्यदेश में हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रत्यत्न किया जाय ताकि उर्दू अथवा बंगला आदि अन्य बड़ी भाषाओं के मुक़ाबले में हिन्दी का जनसंख्या बल अधिक रहे और अंग्रेज़ी का स्थान लेने के लिए वही एकमात्र उत्तराधिकारिणी समझी जाय। हमारे विचारकों ने ईमानदारी से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उत्थान का एकमात्र यही मार्ग निर्दिष्ट किया और इससे विचार और कार्यपद्धति की जो परम्परा बनी उसने एकदम नयी परिस्थितियों और नए समाधानों पर पक्षपात रहित होकर विचार करने की संभावनाओं को कम कर दिया। राहुलजी की विचारधारा का जो इतना तीव्र विरोध हो रहा है उसका एकमात्र कारण हमारे साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं की परम्पराबद्धता है, जिसके कारण वे प्रत्येक नए सुझाव या समाधान को संशय की दृष्टि से देखते हैं। उनकी विचार-पद्धति की सीमाओं को जानकर ही हमें उनके विरोध का विश्लेषण करना चाहिए।

सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति **पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी** का विचार है कि जनपद आन्दोलन के कारण 'विभागीय संघर्ष' उत्पन्न होंगे और हिन्दी की 'सर्वशक्तिमत्ता नष्ट हो जायगी।' इसलिए उनका निश्चित मत है कि "मैं यह हर्गिज़ नहीं समझ सकता कि इन प्रान्तों की पाठ्य पुस्तकें वहां की बोलियों में छपने लगें। प्रान्तीय अभिमान को जागृत करना बुरी बात नहीं, परन्तु इस गृह-कलह से मुझे सम्पूर्ण हिन्दी-जगत के नाश हो जाने का भय मालूम होता है।" **स्वामी भवानीदयाल सन्यासी** का विरोध भी इसी भावना पर टिका है। वे इस योजना को 'हिन्द और हिन्दी' के लिए अपकारक ही नहीं 'राष्ट्रीयता के प्रति अक्षम्य अपराध' भी समझते हैं। किसी निराकार भारत के कण-कण को एक ही वाणी में बोलते देखने को आतुर, दिवास्वप्न में डूबे, जनपद समिति के संयोजक **चन्द्रबली पाण्डेय** को राहुल जी के विचार 'भयावह' लगते हैं। **सत्येन्द्रजी** की सूझ-बूझ उन्हें राजनीति का पारखी बना

देती है और उन्हें राहुलजी का दृष्टिकोण 'शुद्ध राजनीतिक' लगता है। वे इसे 'गान्धी जी में केन्द्रित राजनैतिक शक्ति और मन्तव्यों को दुर्बल बनाने की आवाज़' समझते हैं। सत्येन्द्रजी का सारा ज़ोर 'भारत से भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हिन्दी की अखण्डता' पर है। उनका कथन है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न हो रहा है, इस प्रयत्न में सफलता पाने की आशा दो बातों पर निर्भर है। पहली तो हिन्दी की प्राकृतिक शक्ति, दूसरी जनसंख्या शक्ति। राहुलजी इस जनसंख्या के 'बृहद् अखंड खंड' को नष्ट करके हिन्दी को क्षीण और दुर्बल बनाना चाहते हैं, और इस प्रकार 'बंगला भाषा' के मुक़ाबले में उसकी 'प्रतियोगिता शक्ति' को मिटा देना चाहते हैं। सत्येन्द्रजी का अपना अनुमान है कि 'हिन्दी की अलग-अलग बोलियों में बहुत कम अन्तर है।' और हिन्दी के लादे जाने से किसी भी जनपद को हानि नहीं पहुँची है। अपना पृथक् अस्तित्व पाने के लिए बोलियों को सबसे पहले अपनी पृथक् योग्यता घोषित करनी पड़ेगी और इसका परिणाम विग्रह और निर्बलता होगी। "भेद-चैतन्य हिन्दी को हनन करने का सबसे घातक अस्त्र है—उर्दू से हिन्दी नहीं मर सकी, पर बोलियों के इस टीकमगढ़ी प्रयत्न से हिन्दी मूलरहित हो जाएगी—नाल विरहित कमल।" तर्क का आडम्बर निबाहकर भी जब वे स्वयं को आश्वस्त नहीं कर पाए तो उन्होंने स्वीकार किया कि वे 'स्वतन्त्र विचारकों की भाँति किसी भी प्रश्न पर विचार करने के विलास को अभी सहन नहीं कर सकते।' अतः उनका निश्चय मत है कि जनपद आन्दोलन "पूर्व के समस्त महान् पुरुषों के प्रति विद्रोह है। हिन्दी के घर में विद्रोह है—ब्रज, बुन्देली, बघेली आदि सभी भाषाएँ हिन्दी की बोलियाँ हैं। हिन्दी उनके लिए राष्ट्रभाषा नहीं मातृभाषा है।" और फिर अपने उद्भ्रान्त विचारों में वे यहाँ तक कह गए हैं कि "हिन्दी को उसके मातृभाषात्व के अधिकार से च्युत करके राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना हिन्दी का घात नहीं तो और क्या है?" वे 'जनपद' शब्द तक से घबराते हैं और 'एक विशाल हिन्दी जनपद चाहते हैं और सुविधा के लिए जो स्थानीय केन्द्र स्थापित किए जाएँ उनको जनपदों से सम्बन्धित नहीं होने देना चाहते। क्योंकि 'जनपद' शब्द के साथ 'सांस्कृतिक समस्याओं और जातीय गुणों' का सम्बन्ध किया जा सकता है!

भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, प्रमुख राष्ट्रीय नेता और समाजवादी विचारक **सम्पूर्णानन्दजी** ने एक दूसरी ही दृष्टि से जनपद आन्दोलन की नयी विचारधारा का विरोध किया है। वे राहुलजी की नीति को घातक के अतिरिक्त अव्यावहारिक भी मानते हैं। उन्हें "राहुलजी के विचारों मे रत्ती भर भी सहानुभूति नहीं है।" सम्पूर्णानन्दजी राहुलजी द्वारा बतायी मध्यदेश की ३० मातृभाषाओं को 'कृत्रिम वर्गीकरण' समझते हैं। फिर उनका प्रश्न है कि "यदि इन बोलियों में शिक्षा दी जाने लगी तो यह अनर्थ की गाड़ी कहाँ रुकेगी? यदि प्राथमिक शिक्षा इन तथोक्त मातृभाषाओं में हो तो उच्च शिक्षा का क्या होगा? मेरठ के आस-पास की बोली, जिसका नाम राहुलजी के अनुसार कौरवी है, विश्वविद्यालय के माध्यम के स्थान पर क्यों रहे? तीस भाषाएँ तो राहुलजी की सूची मे हैं, इनके लिए तीस विश्वविद्यालय, तीस शिक्षा-विभाग, तीस टोली आचार्य और अध्यापक,

विज्ञानादि के पाठ्य-ग्रन्थों के तीस समुच्चय चाहिए। इस दरिद्र देश के सिर पर इस बोझ को लादने का अनुष्ठान न देखिए हमें कहाँ ले जाता है ? एक बार द्वार खुल जाने पर **किस की डिक्टेटरी इस बाढ़ को प्राथमिक शिक्षा तक रोक सकेगी और फिर वह सब प्रयास क्यों ?** किसने कहा है कि लोग अपनी कमिश्नरियों की बोलियों में शिक्षा पाने के लिए उतावले हो रहे हैं ? राहुलजी ने भाषाओं को बढ़ाकर तीस कर दिया। देश के एक टुकड़े को दूसरे से पृथक् करने, प्रादेशिक ईर्ष्या और अहमहमिका को बढ़ाने का सुन्दर उपाय उसका विभाजन है। पहले देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था जो विदेशी आक्रमण के सामने बालू की भीत के समान ढह जाते थे। अब भिन्न-भिन्न राष्ट्र बनाये जाएँगे, जिनमें से प्रत्येक को अपनी भाषा पर गर्व होगा। प्रत्येक अपनी संस्कृति को अलग मानेगा। देश का चाहे जो हो, अराजकवाद की विजय हो जायगी। मैं भारत का भला चाहता हूँ, इसलिए कृत्रिम **'मातृभाषा आन्दोलन'** को घातक समझता हूँ।"

व्यौहार राजेन्द्रसिंहजी, जो प्रान्त निर्माण और विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं, राहुलजी से मातृभाषाओं के प्रश्न पर असहमत हैं। उनका विचार है कि खड़ी बोली केवल कुरु जनपद की ही नहीं 'वरन् समस्त हिन्दी-भाषी जनपदों की मातृभाषा' है। बोलियों को शिक्षा का माध्यम बनाने के 'विवादग्रस्त' प्रश्न पर उनका मत है कि यदि ऐसा किया गया तो आज सभी बोलियों की हिन्दी में मिलने वाली प्रवृत्ति रुक जायगी, क्योंकि 'व्याकरण और साहित्य अलग-अलग बनाने से उनके एक रूप होने में व्यवधान खड़ा हो जायगा, उनका अन्तर स्थायी बना दिया जाएगा।' इसके अतिरिक्त हिन्दी के सामने अंग्रेजी और अन्य भाषाओं से प्रतियोगिता में आगे बढ़ने का प्रश्न भी है, 'इस दशा में हिन्दी की बोलियों को उसके मुकाबिले में खड़ा कर देना ठीक नहीं।' कतिपय विरोधियों ने राहुलजी पर यह भी आरोप लगाया है कि वे **"रूस के अन्य पौधों की तरह इस पौधे को भी भारत की मिट्टी में उगाना चाहते हैं।"**

विरोध का दुष्परिणाम

विरोधियों ने अपने तर्क-कुतर्कों से लोगों में जनपद आन्दोलन के सम्बन्ध में इतना भ्रम फैलाया कि साधारण कार्यकर्त्ता, इस डर से कि कहीं निष्पक्ष भाव से इस प्रश्न पर सोच कर वे अप्रत्याशित रूप से हिन्दी का घात न कर बैठें, बहक गए और जयपुर सम्मेलन ने एक प्रकार से हरिद्वार सम्मेलन का प्रस्ताव रद्द कर दिया। इस दिशा में उसने जो क़दम आगे की ओर उठाया था उसे वापस कर लिया और नई नीति की घोषणा की। जयपुर सम्मेलन का प्रस्ताव है :

"प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों को पृथक्-पृथक् सभ्यता और संस्कृति का परिचायक बताकर जो संकुचित आन्दोलन कई प्रदेशों में किए जा रहे हैं, उनको यह सम्मेलन अवांछनीय समझता है। सम्मेलन की सम्मति है कि भारत की एक ही संस्कृति है और एक ही संस्कृति तथा भाषा से प्रभावित भाषाएँ तथा बोलियाँ देश में प्रचलित

हैं। इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए ऐसे प्रान्तीय शब्द-कोशों की आवश्यकता है जिनमें प्रचलित और प्रयुक्त तद्भव तथा तत्सम शब्दों एवं व्युत्पत्ति के आधार पर आन्तरिक एकता स्पष्ट हो जाए। यह सम्मेलन प्रान्तीय सम्मेलनों से अनुरोध करता है कि वे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा में इस कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करें।"

हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी के भाषाविदों, इतिहास-वेत्ताओं, वैज्ञानिकों, विचारकों और अन्य-अन्य साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा संचालित संस्था है। हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः यह जानकर कि इस प्रस्ताव द्वारा उसने कतिपय ऐसी स्थापनाओं को प्रामाण्य मान लिया है जो सर्वथा निराधार और भ्रामक हैं, प्रत्येक संस्कृत मन का क्षुब्ध होना अनिवार्य है। हमें ज्ञात है कि ऐसी अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक स्थापनाएं अन्य देशों में की गई हैं, परन्तु उन देशों और उन संस्थाओं से, जो 'असत्य को जितने बार ज़ोर-ज़ोर से दुहराओ कुछ दिनों में वही सत्य बन जायगा' की नीति का अवलम्ब लेकर साहित्य और संस्कृति को विकलांग और विरूप करके मनुष्य के मन और विवेक को जातीय श्रेष्ठता, जातीय स्पर्धा और हिंसा के सांचे में ढालते रहे हैं, हमने और हमारी साहित्यिक संस्थाओं ने कभी प्रेरणा नहीं ली। परन्तु इस बार ऐसा ही हुआ, यह क्या अनदेखा कर देनी वाली बात है? सम्मेलन की पहली स्थापना है कि प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों को पृथक्-पृथक् सभ्यता और संस्कृति का परिचायक बनाना अवांछनीय है। जो बात हरिद्वार सम्मेलन के अवसर पर वांछनीय थी वह सहसा जयपुर में आकर अवांछनीय हो गई, इसको क्या आकस्मिक घटना समझा जाए? सम्मेलन की दूसरी स्थापना है कि भारत में केवल एक ही संस्कृति है। काश्मीरी, लद्दाखी, पश्तो आदि बोलनेवाली और तमिल, तेलुगु बोलने वाली जनता की क्या एक ही संस्कृति है? अथवा ब्रिटेन की गुलामी में समान रूप से जकड़ी होने के कारण इन भिन्न जातियों की संस्कृति भी एक ही समझी जाय? आज तक किसी विद्वान् ने इस तरह का दावा नहीं किया, अधिक से अधिक इतना ही स्वीकार किया जाता रहा है कि सदियों के आदान-प्रदान के कारण भारत की विभिन्न संस्कृतियों में बहुत-सी बातें सामान्य हैं जिससे भारत एक राष्ट्र भी है और बहुजातिक महादेश भी। इसके अतिरिक्त 'भारतीय संस्कृति' एकार्थ-बोधक शब्द नहीं है। द्रविड़, आर्य, मुस्लिम आदि संस्कृतियों का उसमें मिश्रण हुआ है और किसी प्रदेश में एक का प्राधान्य है तो किसी में दूसरी का। संस्कृति इतनी सरल संज्ञा नहीं है कि केवल पूर्वजों के एक होने से ही युग-युग तक संस्कृति भी एक ही बनी रहे। और न फिर यह सत्य है कि समस्त भारतीय जातियों के पूर्वज एक ही जाति के हों। भाषा और भूगोल की विभिन्नता से संस्कृति की विभिन्नता भी स्थापित होती है। जो भारतीय नृशास्त्र के विद्यार्थी हैं वे जानते हैं कि भारत में अनेक आदिम जातियाँ हैं, जिनकी सभ्यता-संस्कृति से हमारा कोई साम्य नहीं है। विभिन्न जातियों के रस्मरिवाज, नैतिकता के विचार आदि अपने-अपने अलग-अलग हैं। इस समय कुछ जातियाँ उन्नत हैं और विकास-पथ पर काफ़ी अग्रसर हो चुकी हैं। कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। किन्तु संभवतः सम्मेलन

की दृष्टि में 'भारतीय-संस्कृति' और 'आर्य-संस्कृति' एकार्थक हैं। इस प्रकार सम्मेलन की यह स्थापना अनैतिहासिक और असत्य है। ऐसी ही सम्मेलन की तीसरी स्थापना है कि एक ही संस्कृति और एक ही भाषा से प्रभावित भाषाएँ-बोलियाँ देश में प्रचलित हैं। भाषा-विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि भारत में कम से कम चार भाषा-कुलों की भाषाएँ प्रचलित हैं—आस्ट्री-एशियाई, द्राविड़ी, तिब्बती-चीनी और आर्य। ऐतिहासिक दृष्टि से ये भाषा-कुल सर्वथा भिन्न संस्कृतियों और जाति-समूहों से सम्बद्ध हैं। यह अवश्य है कि कालान्तर में उनमें काफ़ी आदान-प्रदान हुआ है और एक ने दूसरे को प्रभावित किया है। अतः एक ही संस्कृति और भाषा, जिससे तात्पर्य अनुमानतः आर्य संस्कृति और संस्कृत भाषा से है, का उल्लेख करना अज्ञान को प्रोत्साहन देना है। स्वयं संस्कृत आदि भाषा नहीं है, जैसा कि उसके नाम से ही सिद्ध है और अधिकांश वर्तमान आर्य परिवार की भाषाएँ संस्कृत से नहीं वरन् उन प्राकृतों और उनके अपभ्रंशों से विकसित हुई हैं जो उत्तर भारत और मध्य देश के विभिन्न जनपदों में प्रचलित थीं। अतः इस तरह के दावे किसी साहित्यिक संस्था की विज्ञान और इतिहास-प्रियता की दीनता का ही प्रदर्शन करते हैं। जनपदीय भाषाओं के आन्दोलनों की अपेक्षा ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ ही अधिक अवांछनीय हैं। हम प्रगतिवादी अबौद्धिकता को प्रोत्साहन देना हिन्दी के लिए घातक समझते हैं। अप्रासंगिक बातों को बहस में घसीटकर और गलत दावे पेशकर हठधर्मी से किसी सत्य को ढँकने के हम आदी नहीं हैं। उक्त स्थापनाओं को मानकर सम्मेलन एक ही कार्य-नीति निर्धारित कर सकता था—वह यह कि इतिहास की गर्दन मरोड़कर अपनी बनायी भ्रामक स्थापनाओं के अनुकूल उसकी व्याख्या कराये। इसके लिए सम्मेलन ने प्रान्तीय सम्मेलनों से अनुरोध किया कि वे उक्त स्थापनाओं के आधार पर 'आन्तरिक एकता' सिद्ध करने के लिए 'प्रान्तीय शब्दकोश' बनाएँ। डॉ० अग्रवाल के जनपद-कार्यक्रम का उद्देश्य जनपदों से सामग्री संग्रह करके हिन्दी का भंडार भरना था—इसका हमने समर्थन किया है, क्योंकि इससे एक ओर यदि हिन्दी समृद्ध होगी तो दूसरी ओर जनपदीय चेतना को भी प्रोत्साहन मिलेगा और सम्भव है कि हमारी खोज से पिछड़ी हुई भाषाएँ भी अपने वाङ्मय को समृद्ध बनाने में सहायता ले सकेंगी। पर इस प्रस्ताव के अनुसार सम्मेलन के सामने तो हिन्दी का भण्डार भरने का उद्देश्य भी नहीं रहा—जन-शिक्षा की समस्या को हल करने का उद्देश्य तो बहुत दूर की बात हुई—उसके सम्मुख तो केवल एक प्रश्न रह गया कि किस प्रकार 'आन्तरिक एकता' स्पष्ट कर दी जाय ताकि मातृभाषाओं के आन्दोलन की अवाँछनीयता सिद्ध हो सके। इससे सम्मेलन भ्रम फैलाने और एक जटिल प्रश्न में और भी जटिल गुत्थियाँ डालने के अतिरिक्त, वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन से उत्पन्न जनपद-चेतना को निर्मूल करके इतिहास-चक्र को पीछे घुमाने में सफल हो सकेगा, यह संदिग्ध है। वास्तव में सम्मेलन का प्रस्ताव एक राजनीतिक प्रस्ताव है। राजनीति में जो 'अखंड हिन्दुस्तान' के नाम से पुकारा जाता है, साहित्य में उसने 'अखंड भाषा' का रूप धारण किया है। इस प्रस्ताव ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० अग्रवाल और राहुलजी—

तीनों की विचारधाराओं को अस्वीकृत कर दिया है।

विरोधियों के तर्कों की अतार्किकता

जनपद आन्दोलन के विरोधियों के जिन तर्कों ने सम्मेलन को ऐसी भ्रामक स्थापनाएँ करने के लिए विवश कर दिया उनको क्रमबद्ध करके जाँचने की आवश्यकता है। इन तर्कों को हम आठ वर्गों में बाँट सकते हैं :

१. मातृभाषाओं को प्रोत्साहन देने से हिन्दी के घर में विग्रह पैदा होगा--जनपदों में अपनी भाषा और संस्कृति अर्थात् जातीयता का अभिमान पैदा होगा--हिन्दी के लिए यह अनिष्टकारी होगा। एकता के सूत्र टूट जाएँगे, राष्ट्र टुकड़ों में बँट जाएगा। पर भारतीय संस्कृति अखंड और अविभाज्य है।

हिन्दी के घर में विग्रह पैदा होने का भय निराधार है। प्रारम्भ में अंग्रेज़ी के विरुद्ध अपने-अपने क्षेत्रों में भारत की प्रमुख भाषाओं--हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि ने आत्मनिर्णय के अधिकार की न्यायसंगत माँग को उठाकर संघर्ष किया। देश के विभिन्न क्षेत्रों से उठनेवाले इस आन्दोलन ने नये सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण में भरपूर योग दिया और जातीय स्वाभिमान को जगाया। इससे हमारे देश को क्षति नहीं पहुँची, बल्कि हमारे स्वाधीनता संग्राम में विभिन्न जन-स्रोत आकर मिले और उन्होंने हमारे साम्राज्य विरोधी संघर्ष को सशक्त बनाया। उस समय किसी ने यह नहीं कहा कि देश में केवल एक ही संस्कृति और एक ही जाति है, केवल एक भाषा को ही सारे देश की भाषा होना चाहिए और उसी के गढ़ने में सबको योग देना चाहिए, और अंग्रेज़ी के विरुद्ध उसी भाषा को जिताने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा किसी ने नहीं कहा, यद्यपि अंग्रेज़ी के विरुद्ध सम्मिलित संघर्ष करने के कारण हमारा राष्ट्रीय नारा यही था कि हम एक राष्ट्र हैं, हम और कुछ नहीं केवल भारतीय या हिंदुस्तानी हैं। उस समय अंग्रेज प्रभुओं का प्रधान तर्क था कि 'भारत एक राष्ट्र नहीं है उसे हम स्वराज्य कैसे दे सकते हैं?' विभिन्न भाषाओं में अंग्रेज़ी के विरुद्ध जो आन्दोलन चलते रहे, हम सदा उनकी विजय-कामना करते आये। अपने राष्ट्रीय उत्थान के लिए जातीय स्वाभिमान का जागृत होना हम वांछनीय समझते थे। राष्ट्रीय नेताओं ने सदैव जातीय जागरण का स्वागत किया, क्योंकि वे अनुभव करते थे कि जब तक देश के कोने-कोने में राष्ट्रीय जाग्रति न फैलेगी तब तक अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध कोई देशव्यापी आन्दोलन करना असंभव होगा। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'जनगन मङ्गलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' राष्ट्र-गीत में 'पंजाब, सिंध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंग' देशों की जातियों के गौरवमय योगदान की पुनीत कल्पना की। निश्चय ही उस समय हमारे सामने आज के से जटिल प्रश्न नहीं उठे थे। आज़ाद भारत की व्यवस्था कैसी होगी, जनतन्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा, विभिन्न जातियों के क्या अधिकार होंगे, उनके परस्पर सम्बन्ध किस आधार पर स्थिर किए जाएँगे--ये ऐसे प्रश्न थे जिन पर उस समय बहुत कम सोचा जाता था केवल

व्यापक राष्ट्रीय चेतना फैलाने का प्रश्न ही सर्वोपरि था। कतिपय ऐतिहासिक कारणों से मध्यदेश में हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) और उर्दू आधुनिक साहित्य का माध्यम बनने में समर्थ हुई, और इस विशाल प्रदेश की अन्य भाषाएँ जैसे राजस्थानी, भोजपुरी, मैथिली आदि अपना विकास न कर सकीं। परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीय जाग्रति ने इन प्रदेशों में भी चेतना की लहर दौड़ा दी और मध्य देश के जनपद भी अब अपनी सांस्कृतिक एकता का अनुभव करने लगे हैं। वे भी अपनी मातृभाषाओं को समुन्नत और समृद्ध बनाना चाहते हैं, उन्हें वे अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहते हैं। यदि राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को एक क्षण के लिए अलग करके देखें तो जनपदों की यह माँग भी अंग्रेज़ी के विरुद्ध है, यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा। यदि ये जनपद अपने आत्मनिर्णय की माँग को लेकर अंग्रेज़ी के विरुद्ध अखाड़े में कुछ देर से उतरे हैं तो इसमें उनकी स्वाधीनता की मांग अवांछनीय तो नहीं कही जा सकती। मध्य भारत में अनेक ऐसे जनपद हैं जोकि आज भी राष्ट्रीय चेतना और सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं और वे अभी तक अखाड़े में नहीं उतरे। जागृत होने पर वे भी अपनी एकता महसूस करेंगे और अपनी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व मनवाने के लिए माँग करेंगे। मध्य भारत में ही नहीं, आगे चलकर देश के अनेक विस्मृत जनपद-क्षेत्रों से भी यह माँग उठेगी। जिस तरह हमने अपेक्षाकृत उन्नत प्रान्तिक भाषाओं की इस माँग का स्वागत किया था, उसी प्रकार पिछड़ी भाषाओं के आन्दोलन का भी हमें स्वागत करना चाहिए। ये आन्दोलन इस बात के द्योतक हैं कि हमारे देश के पिछड़े जनपद भी अब सचेत होकर उन्नत और सबल जनपदों की श्रेणी में आकर बैठना चाहते हैं और इसके लिए वे अपने पिछड़ेपन को त्यागकर अपनी उन्नति में संलग्न होना चाहते हैं। उनकी इस आकांक्षा को किस जनवादी सिद्धान्त के आधार पर हम दबाने की कल्पना कर सकते हैं? जिस आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए हमारे देश की प्रमुख भाषाओं ने, और विशेषकर हिन्दी ने, अँग्रेज़ी से संघर्ष किया है, उसी आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए यदि छोटी भाषाएँ भी संघर्ष करना चाहती हैं तो हिन्दी उनके मार्ग में अवरोध बन कर क्यों खड़ी हो? जनपद आन्दोलन हिन्दी के विरुद्ध नहीं बल्कि मातृभाषाओं के अपने विकास के लिए है। जनपदीय क्षेत्रों में भी अंग्रेज़ी उच्च शिक्षा का माध्यम बनी हुई है। अतः हिन्दी को तो इस आन्दोलन का और भी स्वागत करना चाहिए, क्योंकि इससे अंग्रेज़ी को अपदस्थ करने में उसे जनपदों का भी सक्रिय सहयोग मिल सकेगा।

साम्राज्यवाद ने अपनी सुविधा के लिए हमारे देश की विभिन्न जातियों को एक शासन के अन्तर्गत बाँध रखा है। जो हमें एकता का सूत्र दिखाई देता है वह वास्तव में एक कारागार की चहारदीवारी में बन्द क़ैदियों की विवशता है। इस भ्रान्तिपूर्ण एकता का आधार क्या है? साम्राज्यवादी, गुलामी, दमन और निरंकुशता! स्वतन्त्र होकर यदि हमें अपने परिवार की एकता, अखंडता अथवा अविभाज्यता क़ायम रखनी है तो परिवार के सभी सदस्यों के परस्पर-सम्बन्ध किसी दूसरे ही आधार पर स्थापित करने पड़ेंगे। गुलामी, दमन और निरंकुशता तो साम्राज्यवादी अस्त्र हैं। स्वतंत्र भारत में उनके प्रयोग

का कोई औचित्य नहीं हो सकता। उस समय हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दी बड़ी बहन है तो वह अपनी छोटी बहनों के व्यक्तित्व को पनपने नहीं देगी। बल्कि उसका तो हित इसी में होगा कि उसकी छोटी बहनें भी पूर्ण यौवना हों और वे बराबरी के साथ हिन्दी से सहयोग कर सकें। स्वतन्त्र जनवादी भारत में समान अधिकार प्राप्त जातियाँ जब अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए एक दूसरे से सहयोग करेंगी और एक संघ-शासन के अन्तर्गत रहना स्वीकार करेंगी तभी भारत की अखंडता और अविभाज्यता क़ायम रखी जा सकेगी। इसके लिए हम अभी से अपनी संकुचित मनोवृत्ति के कारण छोटी जातियों के विरुद्ध खड़े होकर वातावरण को दूषित न करें; अन्यथा स्वतन्त्रता का कोई अर्थ न होगा और हमारे यह तथाकथित अखंडतावादी मृगमरीचिका के पीछे ही आजीवन दौड़ते रहेंगे और अपने भाग्य को और दूसरों के कर्मों को कोसते रहेंगे। जनपद आन्दोलन के समर्थक विग्रह का बीज नहीं बो रहे, बल्कि उसके विरोधी अनावश्यक ही विग्रह की दुन्दुभी बजा रहे हैं।

भारत एक बहुजातिक देश है, उसी के अनुसार उसमें अनेक भाषाएं भी हैं। मातृभाषाओं के स्वतन्त्र विकास के विरोधी जितने शीघ्र इस तथ्य को हृदयंगम कर लें उतना ही देश के लिए हितकर होगा। बहुत कुछ व्यर्थ का वितण्डावाद समाप्त हो जाएगा।

२. मातृभाषाओं को प्रोत्साहन देने का परिणाम होगा कि हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकेगी। मातृभाषाओं को स्वतन्त्र भाषाएँ मान लेने से कुरु जनपद के साठ लाख बोलने वालों की भाषा खड़ी बोली की स्थिति कितनी नगण्य हो जायगी, यह अनुमेय है। हिन्दी का जनसंख्या-बल नष्ट हो जाएगा और बंगला अथवा सरकारी पक्षपात के कारण उर्दू ही राष्ट्रभाषा पद पर अधिकार जमा लेगी।

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) के राष्ट्रभाषा मानने और मनवाने का प्रश्न नहीं है। वह आज भी राष्ट्रभाषा है। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में अंग्रेज़ी के अतिरिक्त हिन्दी (अथवा उर्दू) का ही सर्वत्र प्रयोग होता है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने (Lauguages and the Linguistic Problems) में लिखा है कि हिन्दी वस्तुतः राष्ट्रभाषा बन गयी है। राष्ट्रभाषा कितने लोगों की मातृभाषा है, अथवा उसमें कितना साहित्य है, इसका ब्यौरा लेने-देने की भी आवश्यकता नहीं है। केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि विशेष ऐतिहासिक कारणों से, जो हिन्दी के पक्ष में रहे हैं और हैं, हिन्दी बिना सरकारी स्वीकृति के भी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रसार पाती गयी है और आज हिन्दुस्तान के एक कोने से दूसरे कोने तक हिन्दी (अथवा उर्दू) का प्रयोग अन्तर-प्रान्तीय आदान-प्रदान में होता है। स्वयं डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी बंगला को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार असंगत समझते हैं, क्योंकि बंगला में अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार सम्भव नहीं है। काश्मीर का एक व्यक्ति हिन्दी या उर्दू में तो लखनऊ के व्यक्ति से बातें कर सकता है लेकिन बंगला में कलकत्ते के निवासी से बातें नहीं कर सकता, अथवा एक गुजराती कलकत्ते के बंगाली से हिन्दी में तो बातें कर सकता है, परन्तु बंगला में नहीं। यहाँ तक कि द्राविड़ी भाषा-परिवार की दक्खिन भारतीय जातियाँ भी हिन्दी के माध्यम से ही उत्तर भारत के लोगों से विचार-विनिमय कर सकती

हैं, बंगला के माध्यम से नहीं। राष्ट्रीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग आदि अखिल भारतीय राजनीतिक संस्थाएँ भी खड़ी बोली (हिन्दी अथवा उर्दू) को ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करती हैं। अतः बंगला कभी राष्ट्रभाषा बनने का दावा पेश करेगी, इसकी संभावना नहीं है। जहाँ तक उर्दू का प्रश्न है, वह एक अलग बात है और उस पर तभी विचार किया जा सकता है जब हम पहले इतना मान लें कि जनसंख्या-बल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि राष्ट्रभाषा का पद पाने में हिन्दी (संस्कृत प्रधान खड़ी बोली) को किसी भाषा से प्रतियोगिता करनी पड़ेगी या पड़ रही है तो वह उर्दू (फ़ारसी प्रधान खड़ी बोली) से। इतना तो निश्चित है कि खड़ी बोली ही अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनेगी, चाहे वह कुरु जनपद की ६० लाख जनता की ही मातृभाषा क्यों न हो। खड़ी बोली की कौनसी शैली—संस्कृत प्रधान हिन्दी अथवा फ़ारसी प्रधान उर्दू अथवा उनका कोई सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी अथवा अलग-अलग दोनों—समूचे भारत की या दो भिन्न-भिन्न भूभागों की राष्ट्रभाषाएँ बनेंगी, इसका निर्णय करने के लिए एक दूसरे को जनसंख्या-बल का थप्पड़ मारने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। राष्ट्रभाषा का प्रश्न कैसे और किस रूप में हल होगा, इस विषय पर यहाँ विचार करना विषयान्तर होगा। संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना कि 'राष्ट्रभाषा हिन्दी है' अथवा 'क़ौमी ज़बान उर्दू है' का गला फाड़कर नारा लगानेवालों को अपनी उत्तेजना में लगता है। समूचे भारत की एक मात्र राष्ट्रभाषा बनाने की क्षमता इन दोनों शैलियों में से किसी एक में नहीं है। अनुमानतः हमें दोनों को दो भिन्न भूभागों में अलग-अलग राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना होगा। मध्य पूर्व और दक्षिण भारत की संस्कृत-प्रधान तथा द्राविड़ी भाषाओं के बोलनेवालों के लिए फ़ारसी-अरबी प्रधान उर्दू अनुपयुक्त है, अतः इस बड़े भूभाग की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। उत्तर पश्चिम भारत की फ़ारसी-प्रधान भाषाओं को बोलनेवाली मुस्लिम जातियाँ हिन्दी (संस्कृत प्रधान) को राष्ट्रभाषा कदापि नहीं स्वीकार कर सकतीं। अतः उर्दू ही उस भूभाग की राष्ट्रभाषा बन सकती है। इस प्रकार का अनुमान किसी विशेष राजनीतिक व्यवस्था पर आधारित नहीं है, अर्थात् राहुलजी की तरह हम इस तरह का कोई निश्चित मत नहीं प्रकट करते हैं कि भारत का विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आधार पर होगा ही। यदि ऐसा विभाजन हुआ, तब तो यह स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी हिन्दुस्तान की और उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बनायी जाएँगी। परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो भी राष्ट्रभाषा का प्रश्न इसी आधार पर हल किया जा सकेगा। भारतीय संघ में सम्मिलित उत्तर भारत के मुस्लिम-प्रधान-राज्य अपने यहाँ उर्दू को ही राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कराने पर ज़ोर देंगे और वह संघ को मानना होगा, और यह कोई अनहोनी बात न होगी। स्वयं डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस बात का उल्लेख किया है कि अनेक राष्ट्रों में दो-दो राष्ट्रभाषाएँ राजकीय प्रयोग में आती हैं। यदि विभाजन न हुआ तो भारत में भी कुछ ऐसा ही समाधान अनिवार्यतः करना पड़ेगा और यही न्याय-सङ्गत होगा। परन्तु फिर भी यदि राष्ट्रभाषा-प्रेमी जन-संख्या बल के बिना किसी समाधान की कल्पना करने में असमर्थ

है तो उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि मातृभाषाओं के स्वाभाविक-विकास को रोककर ज़बर्दस्ती जनसंख्या बल बढ़ाने की नीति के स्थान पर यदि वे प्रेम और सद्भावना से हिन्दी का जनसंख्या बल बनाए रखने की चेष्टा करेंगे तो उन्हें अधिक सफलता मिलेगी। मध्यदेश की जनपदीय भाषाएँ हिन्दी की बहनें हैं, उनकी आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति रखने से उसे उनका समर्थन अवश्य मिलेगा। जनपदीय भाषाओं के पुनर्जागरण में हिन्दी आन्दोलन ने मार्ग प्रदर्शन किया है जिसमें उसके प्रति सभी की ममता है, वह जनपदीय भाषाओं की जागृति का प्रतीक है। इस समय जिन मातृभाषाओं में जनपद आन्दोलन चल रहा है उन्होंने निरन्तर इस बात पर ज़ोर दिया है कि हिन्दी उनकी राष्ट्रभाषा है। अतः हिन्दी का जन-संख्या बल कम हो जाने का भय निराधार है।

३. हिन्दी—राष्ट्रभाषा ही नहीं २० करोड़ जनता की मातृभाषा भी है और सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दी की बोलियाँ हैं।

इस तर्क के उत्तर में भाषा शास्त्रियों की सम्मति का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। राष्ट्रभाषा के रूप में खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू) को व्यवहार में लाने वालों की संख्या डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार लगभग २५ करोड़ ७० लाख है। इसमें से यदि उर्दू को राष्ट्र-भाषा मानने वालों की संख्या को घटा दें तो भी हिन्दी २० करोड़ अथवा उससे कुछ अधिक लोगों की राष्ट्रभाषा अवश्य है। परन्तु जिन लोगों की खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू) मातृभाषा है उनकी संख्या ग्रियर्सन के अनुसार ६५ लाख है, और डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार ५३ लाख है। ५३ या ६५ लाख की मातृभाषा किस प्रकार २० करोड़ की मातृ-भाषा हो गयी—इसे तिलस्मी चमत्कार ही कहना चाहिए! डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग के गाँवों में खड़ी बोली मातृभाषा के रूप में बोली जाती है। चूँकि कतिपय ऐतिहासिक कारणों से समस्त मध्य-देश में खड़ी बोली (हिन्दी-उर्दू) शिक्षा और साहित्य का माध्यम बनी हुई है, इससे हमारे व्याकुल हिन्दी सेवियों को, जो अधिकतर अपने घरों में राजस्थानी, कोसली, भोजपुरी, मैथिली आदि अपनी विशेष मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं, यह भ्रम हो गया है कि उच्च हिन्दी ही उनकी मातृभाषा भी है। कुछ लोग भाषा-शास्त्र को तिरस्कृत करके अब ऐसा आग्रह भी करने लगे हैं कि सारी जनपदीय बोलियाँ हिन्दी (खड़ी बोली) की ही बोलियाँ हैं! भाषा विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि वर्त्तमान आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति मध्य-देश के विभिन्न भागों में प्रचलित प्राकृतों और उनके अपभ्रंशों से हुई है। डॉक्टर धीरेन्द्र-वर्मा के अनुसार "शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, पहाड़ी आदि भाषाओं का सम्बन्ध है।······बिहारी, बंगला, आसामी और उड़िया का सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से है। पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से सम्बन्ध है।····· पंजाबी का सम्बन्ध भी केकय अपभ्रंश से करना चाहिए। पहाड़ी भाषाओं के लिए खस अपभ्रंश की कल्पना की गयी है। किन्तु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित

हो गई थीं।" इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंशों के परिवार की अनेक भाषाओं में से हिन्दी (खड़ी बोली) केवल एक भाषा है, वह स्वयं किसी भाषा की अथवा बोली की जननी नहीं है। खड़ी बोली की साहित्यिक शैली गत सौ वर्षों में ही विकसित हुई है। उसके पूर्व मध्यदेश की साहित्यिक भाषा के स्थान पर राजस्थानी और ब्रज सदियों तक विराजमान रह चुकी हैं। खड़ी बोली का यह आकस्मिक उत्थान उसकी अपनी विशेष प्रतिभा के कारण नहीं हुआ है, बल्कि अन्य राजनीतिक-ऐतिहासिक कारणों से। चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, विद्यापति, मीरा, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव आदि इनमें से कोई भी वर्तमान साहित्यक-हिन्दी के कवि नहीं थे। वे अपनी इन जनपदीय भाषाओं के ही कवि थे। अतएव विरोधियों को मिथ्या स्थापनाओं की शरण नहीं लेनी चाहिये। सुनीतिकुमार चटर्जी और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि भाषा शास्त्र की दृष्टि से **हिन्दी का अर्थ है साहित्यिक खड़ी बोली।** डॉक्टर चटर्जी के अनुसार 'भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी, कोसली, पंजाबी और हिन्दी' तो निश्चितरूपेण 'व्याकरण की दृष्टि से न्यारी या प्रथक्-भाषा पदवाच्य हैं।' बुन्देली, ब्रज और कन्नौजी के विषय में उनको सन्देह है और उन्हें वे हिन्दी (खड़ी बोली) का ही बदला हुआ रूप समझते हैं। 'काशिका, मल्लिका, वज्जिका' आदि को वे भोजपुरी की ही बोलियाँ मानते हैं। इस प्रकार वे राहुलजी के तीस जनपदों की तीस भाषाओं को संख्या में कुछ घटा देते हैं, परन्तु हिन्दी के 'निखिल उत्तर भारत की मातृभाषा' होने को वे स्वीकार नहीं करते। राहुलजी की गिनायी संख्या को 'अन्तिम निर्णय' के रूप में नहीं लेना चाहिये। इसका निर्णय तो कोई एक विद्वान नहीं कर सकता। इस प्रसंग में केवल इस तथ्य को स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-क्षेत्र में खड़ी बोली के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी हैं जिनका पृथक् अस्तित्व है।

४. मातृ-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया तो उनके व्याकरण बन जाएँगे। उनमें नया साहित्य उत्पन्न होने लगेगा और इस प्रकार हिन्दी और जनपदीय भाषाओं के एक रूप होने में नया व्यवधान खड़ा हो जाएगा और उनका अन्तर स्थायी बन जायेगा।

जिस समय संस्कृत मध्यदेश की साहित्यिक भाषा थी और प्राकृतों अथवा उनके विभिन्न अपभ्रंशों में न शिक्षा दी जाती थी, न साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाता था, उस समय भी जनता ने अपनी बोली को नहीं त्यागा, बल्कि संस्कृत ही कालान्तर में एक अप्रचलित भाषा बन गयी। रूसी साम्राज्यवाद ने भी विभिन्न जातियों की भाषाओं को दबाकर रूसी भाषा का ही सर्वत्र प्रयोग कराया, परन्तु उसका जो परिणाम निकला, वह सर्वविदित है। कृत्रिम उपायों से भाषाओं का विकास या स्वरूप-परिवर्तन नहीं हो पाता। और फिर जनपदों की जनता अपनी भाषाओं की उपेक्षा कब तक सहन करेगी? मध्यदेश की भाषाओं में जो अन्तर है वह भाषाओं के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। प्रतिबन्ध लगाकर इस अन्तर को मिटा देना असम्भव है। इस तरह का तर्क अत्यन्त परिमित इतिहास-ज्ञान का परिचय देता है; किसी भी उपाय से सभी जनपदीय भाषाएँ कभी एकरूप

हो जाएँगी, इसे मूढ़ कल्पना ही कहा जा सकता है[1]।

५. मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव अव्यावहारिक है। तीस विश्वविद्यालय स्थापित करके तीस भाषाओं में ज्ञान को प्रकाशित करने का विचार दुराशामात्र है। निर्धन भारत इतना बड़ा बोझ सँभालने में असमर्थ है।

भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री और समाजवादी विचारक सम्पूर्णानन्दजी ने मातृभाषाओं के दावे को ख़ारिज करने के लिये व्यावहारिकता की कसौटी पेश की है! कदाचित् हमारा निर्धन भारत, जिसमें आज व्यक्ति की औसत आय दो आने प्रतिदिन से अधिक नहीं है, मध्य देश के आठ विश्वविद्यालयों का बोझ भी उठाने में असमर्थ है। शिक्षा का विलास उसके लिये असहनीय और एक क्रूर व्यङ्ग है। शिक्षा-मंत्री पद से सम्पूर्णानन्दजी को तो कम-से-कम संयुक्त-प्रान्त में पाँच विश्वविद्यालयों और दर्जनों कॉलेजों आदि को बन्द करा देना चाहिये था। पाँच विश्वविद्यालयों और सैकड़ों स्कूल-कॉलेजों के लिये शिक्षा-विभाग, अध्यापकों और पाठ्य-ग्रन्थों के समुच्चयों आदि पर जो करोड़ों रुपया खर्च हो रहा है, कम-से-कम सम्पूर्णानन्दजी अपने प्रान्त की जनता के सिर पर से इस बोझ को उतारने में तो सहायक हो ही सकते थे। निर्धन भारत पहले अपना पेट भर ले, शिक्षा के सपने उसे कदापि नहीं देखने चाहिये! यदि हमारी स्मरण-शक्ति दुरुस्त है तो हमें याद है कि राष्ट्रीय काँग्रेस ने, जिसके सम्पूर्णानन्दजी प्रमुख सदस्य हैं, सदैव ब्रिटिश सरकार की शिक्षा सम्बन्धी नीति की निन्दा की है कि अपने डेढ़ सौ वर्ष के शासन-काल में वह देश की केवल आठ प्रतिशत जनता को ही साक्षर बना पायी है, इसमें शिक्षितों और विशेषकर उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या तो और भी नगण्य है। और जब ब्रिटिश सरकार देश की निर्धनता और बजट में रुपयों की कमी का बहाना पेश करती है तब राष्ट्रीय काँग्रेस और देश के सभी विचारक अपने कर्त्तव्य का ध्यान दिलाकर सरकार को निरुत्तर करने की कोशिश करते हैं। देश निर्धन हो अथवा सम्पन्न, सरकार का तो कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक शिक्षा का आयोजन करे और यदि वह रक्षा-विभाग पर राष्ट्रीय आय का आधे के लगभग रुपया अनावश्यक ही खर्च कर देती है तो इस अपव्यय को रोककर शिक्षा-विभाग पर और क्यों नहीं खर्च कर सकती! और फिर भारत निर्धन है तो इसमें दोष किसका है? राष्ट्रीय काँग्रेस जन-हित की भावना से प्रेरित होकर सदैव अनिवार्य शिक्षा की माँग करती आयी है और उसके

---

१. इधर सात-आठ वर्षों से, स्टालिन से अधिक बड़े स्टालिनवादी हमारे डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के अखंडतावादियों के कुतर्कों को सैद्धान्तिक आधार देने के लिए 'एक बृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति या राष्ट्र' की कल्पना करते आये हैं। उनका कहना है कि मातृभाषाएँ मिट रही हैं और हिन्दी उनका स्थान ग्रहण कर रही है, और इस प्रकार एक बृहत्तर हिन्दुस्तानी जाति का जन्म हो रहा है, बृहत्तर रूसी जाति की तरह। निश्चय ही आज़ादी मिलने के बाद भी मूढ़ कल्पनाओं का युग नहीं बीता।—लेखक १५ मई १९३९

सन् १९३७ ई० के चुनाव घोषणा-पत्र से भी विदित है कि उसकी दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य शिक्षा पाने का अधिकार है। सरकार को इसके लिये सुविधाएँ जुटानी ही पड़ेंगी। काँग्रेस का इसीलिए यह आदर्श है कि भारत के ४० करोड़ जन, सब-के-सब, केवल साक्षर ही नहीं, शिक्षित भी हों। काँग्रेस-जनों ने इसके लिए रूस का उदाहरण बार-बार दुहराया है कि यदि सोवियत रूस पच्चीस वर्षों में अपनी जनता को ९९ फ़ीसदी से ज़्यादा शिक्षित बना सकता है, जबकि क्रांति के पूर्व १३ फ़ीसदी ही साक्षर थे, तो भारत के ४० करोड़-जनों को भी हम स्वतन्त्र भारत में कम-से-कम अवधि के अन्दर ही शिक्षित क्यों नही बना सकते? बिना सार्वजनीन शिक्षा के हमारा देश उन्नति कैसे कर सकता है? काँग्रेस का आदर्श वर्तमान स्कूल-कॉलेजों से ही तो नहीं पूरा हो सकता। हर स्कूलवय के व्यक्ति के लिये यदि शिक्षा अनिवार्य कर दी जायगी तो निश्चय ही हमारे विद्यार्थियों की संख्या आज की अपेक्षा दस-बीस गुनी ज़्यादा बढ़ जायगी। इसके लिये आज की संख्या से दस-बीस गुने स्कूल-कॉलेज और विश्वविद्यालय भी आवश्यक हो जायेंगे। ये स्कूल-कॉलेज एक भाषा के हों अथवा अनेक, इससे विशेष फ़रक नहीं पड़ेगा, क्योंकि शिक्षा का व्यय तो अपने अनुपात में बढ़ ही जाएगा और निर्धन भारत के सिर पर इस दुष्पाप का बोझ बीस गुना ज्यादा हो जाएगा। जिस सहानुभूति के साथ सम्पूर्णानन्दजी ने खर्च का बही-खाता खोल-कर सार्वजनिक शिक्षा के आदर्श को त्याज्य और घातक घोषित कर दिया—राहुलजी की विचारधारा के मूल में सार्वजनिक शिक्षा का उद्देश्य ही सर्वत्र व्याप्त है—उससे तो ऐसा ही अनुमान होता है कि राष्ट्रीय काँग्रेस का अनिवार्य शिक्षा का आदर्श कोरा नारा है, वस्तुतः उद्देश्य कुछ दूसरा है। परन्तु हमारा विश्वास है कि बात ऐसी नहीं है। काँग्रेस अपनी घोषणाओं में बार-बार स्पष्ट कर चुकी है कि स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति या भाषा-क्षेत्र की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। यदि सम्पूर्णानन्दजी को काँग्रेस की नीति का सच्चा प्रतिनिधि मान लें तो फिर व्यावहारिक और आर्थिक कठिनाइयों के बहाने उन्हें राष्ट्र-संघ की ओर से जैसी सुरक्षा मिलेगी उससे उन्हें रसातल में ही कहीं अपने लिये जगह खोजनी पड़ जायेगी। या सम्पूर्णानन्दजी के अनु-सार स्वायत्त शासन और सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त मध्य-देश के जनपदों, संस्कृतियों और भाषाओं पर लागू न होकर भारत के अन्य भागों पर ही लागू होंगे? पर काँग्रेस की घोषणाओं में ऐसी कोई शर्त नहीं रखी गयी है। फिर भी जनपद-आन्दोलन का विरोध करते समय सम्पूर्णानन्दजी देश के भले की बात करते हैं, आश्चर्य इसी बात पर होता है। उनमें यह आशा की जाती थी कि भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री होने के नाते उन्होंने संसार की विभिन्न शिक्षा पद्धतियों का सम्यक् अध्ययन किया होगा और कदाचित् इति-हास की साक्षी पाकर वे कम-से-कम सिद्धान्ततः इतना तो मानने लगे होंगे कि मातृभाषाओं के द्वारा ही सार्वजनिक शिक्षा सम्भव है तथा विद्यार्थी की स्वाभाविक प्रतिभा का पूर्ण विकास भी मातृभाषाओं के द्वारा ही अधिक सम्भव है। इस सिद्धान्त को मानकर यदि वे व्यावहारिक कठिनाइयों का प्रश्न उठाते तो उनकी बात में ज्यादा वज़न होता।

६. राहुलजी ने मातृभाषाओं का प्रश्न उठाकर रूस के पौधे को भारत में गाड़ने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में रूस को आदर्श नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दोनों देशों की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में भेद है।

जनपद आन्दोलन को बदनाम करने की चेष्टा में विरोधी स्वयं अपने को कितना हास्यास्पद बना सकते हैं, इसका प्रमाण यह तर्क है। रूस के पौधे को भारत में गाड़ने का गौरव राहुलजी को देना, हम समझते हैं, उन उदारमना राष्ट्र नेताओं और जनपद-क्षेत्रों की जनता के प्रति अन्याय करना है जो राहुलजी के एक वर्ष पूर्व प्रकाशित लेख से कई वर्ष पहले से जनपद आन्दोलन कर रही थी अथवा जिन नेताओं ने भाषाओं और संस्कृतियों के स्वतन्त्र विकास की नीति को अपना समर्थन दिया था। जनपद आन्दोलन काँग्रेस की भाषाओं और संस्कृतियों सम्बन्धी-नीति और व्यापक राष्ट्रीय जागरण का परिणाम था अथवा रूस का बीज क्रान्ति की लपटों मे छिटक कर यहाँ आ पड़ा था और सबकी नजर बचा कर उग रहा था, इसका निर्णय आक्षेपकर्त्ता स्वयं करें। कम-से-कम वे राहुलजी को इतना सम्मान प्रदान कर दूसरों की अवमानना न करें। परन्तु किसी बहस में ऐतिहासिक तथ्यों का इतना सूक्ष्म-भेद करने की प्रवृत्ति उनके लिए नैसर्गिक नहीं है, अतः संक्षेप में उनकी स्मृति को पुनः ताज़ा करने की जरूरत है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व समस्त पूर्वी भारत की साहित्यिक भाषा अनुमानतः मागधी प्राकृत थी और बिहार, बंगाल, उड़ीसा और आसाम आदि विभिन्न भूमि-खण्डों में मागधी अपभ्रंश बोली जाती थी, किन्तु स्थान भेद के कारण इस बोली के अनेक रूपान्तर थे। वे मागधी प्राकृत की बोलियाँ थीं, स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं; परन्तु अपने ऐतिहासिक विकास-काल में ये सारी बोलियाँ स्वतन्त्र भाषाएँ बन गई—बल्कि मगधी अथवा बिहारी तो तीन प्रथक भाषाओं (मैथिली, भोजपुरी, मागधी) में विभक्त होकर विकसित हुई। यह शायद बहुत पुरानी बात है। अभी तीन सौ वर्ष ही बीते हैं (सन् १६०० के लगभग) जब गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा थीं, जिनकी साहित्यिक परम्पराएँ भी एक थीं। परन्तु इस थोड़ी-सी अवधि में ही गुजराती ने न केवल राजस्थानी से अपने को मुक्त कर लिया, वरन् आज उसका साहित्य अन्य उन्नत भाषाओं की तुलना में कम सम्पन्न नहीं है। उस समय किस सोवियत रूस के पौधे को कौन-सा राहुल रोप गया था? राहुलजी के लेख से अनेक वर्ष पूर्व भाषाओं और संस्कृतियों के आधार पर बने प्रान्तों में स्वतन्त्र भारत का पुनर्विभाजन करने का सिद्धान्त काँग्रेस मान चुकी है और इस समय भी काँग्रेस के विधान में ऐसे प्रान्तों का नाम है जिनका अस्तित्व ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार नहीं किया है। भाषा और संस्कृति के आधार पर आंध्र और महाकोसल प्रान्तों का अस्तित्व स्वीकार करके सोवियत रूस का पौधा पहले काँग्रेस ने हमारे देश में आरोपित किया या राहुलजी ने? सीमा-प्रान्त में पहले पश्तों में शिक्षा नहीं दी जाती थी। काँग्रेस मंत्रिमंडल ने पश्तों को शिक्षा का माध्यम बना कर हमारे निर्धन देश पर एक भाषा और लाद दी! राजस्थानी, मैथिली और बुन्देलखण्डी आदि में जो जनपद आन्दोलन चल रहे हैं, वे राहुलजी के लेख से कई वर्ष पहले से।

अतः राहुलजी पर दोषारोपण करना कि वे रूस का पौधा भारत में गाड़ना चाहते हैं, अनर्गल है। राहुलजी ने अपने लेख में जातियों की समस्या, और विशेषकर सार्वजनिक शिक्षा के प्रति सोवियत रूस की नीति का उल्लेख करते हुए केवल यह बताने की कोशिश की थी कि उसने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अवलंब लिया है और उसके अनुसार जो प्रयोग किए हैं उसके परिणाम इतने अपूर्व हुए हैं कि भारत में इन समस्याओं का हल करते समय हम रूस के तत्सम्बन्धी प्रयोगों की अवहेलना नहीं कर सकते। जनपद, जनशिक्षा और जनसंस्कृति के प्रेमी अपनी बुद्धि और आँखों पर पट्टी बाँध कर नहीं चलते। वे जहाँ से भी सबक सीख सकते हैं, सीख कर न केवल अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं, वरन् उससे अपने यहाँ की जटिल समस्याओं के हलको आसान बनाने की चेष्टा भी करते हैं। मगर हमारे ये हिन्दी-प्रेमी जन-हित के विरुद्ध आँखों पर पट्टी बाँध कर लाठी लिए जो सामने पड़ जाए उसका सिर फोड़ते घूमना चाहते हैं, और अगर कोई इस पट्टी की ओर इशारा करे तो उसे बड़े दर्प से सोवियत रूस का अंधसमर्थक कहने का दुस्साहस करते हैं। स्वतन्त्र विकास की नीति का समर्थन करके यदि राहुलजी सोवियत रूस का पौधा भारत में रोप रहे हैं, तो उनके विरोधी भी राष्ट्रीय आन्दोलन की नीति और परम्परा के विरुद्ध मातृभाषाओं को मिटा कर उनके स्थान पर हिन्दी-साम्राज्य की स्थापना करने की नीति का समर्थन करके क्या इतिहास के कूड़े-खाने में से निकाल कर ज़ारशाही के रूस का पौधा भारत में रोपने की कोशिश नहीं कर रहे हैं? उस ज़ारशाही के रूस का, जो लेनिन के शब्दों में 'भाषाओं का विशाल कारागार' था। विरोधी अपने दिलों को टटोल कर इस प्रश्न का उत्तर दें।

७ मातृभाषाओं को पृथक् विकास की स्वाधीनता देने का अर्थ होगा कि देश में पचासों छोटे-छोटे निर्बल राष्ट्र बन जायँगे और आत्मरक्षा और आर्थिक-दृष्टि से वे बाल्कन के छोटे-छोटे राष्ट्रों की तरह दूसरों पर निर्भर रहेंगे। इससे निरन्तर गृह-कलह और फूट को उत्तेजना मिलती रहेगी। जो चाहेगा देश को परतन्त्र बना लेगा।

शिक्षा, संस्कृति और साहित्य के प्रश्नों को लेकर जनपद आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। राजनीतिक नारे उसने नहीं लगाये। फिर भी उसके विरोधी हर तरफ से उस पर आक्रमण करना ही अपनी कूटनीति का चरम लक्ष्य समझते हैं। देश में कितने राष्ट्र होंगे, वे किसी संघ में मिलकर रहेंगे अथवा बिल्कुल अलग रहेंगे, इस तरह के प्रश्न जनपद आन्दोलन ने कभी नहीं उठाये। सांस्कृतिक क्षेत्र में ही उसने पूर्ण स्वाधीनता की माँग की है और जहाँ संभव लगा है, किसी एक भाषा के आधार पर पृथक् प्रान्त की भी माँग की है। यदि हिन्दी-क्षेत्रों तक ही जनपद-आन्दोलन को सीमित रख कर देखें, तो 'पचासों छोटे राष्ट्रों में देश बँट जायगा' इस तरह की आशंकाएँ उठाना देश के वर्तमान भूगोल की अनभिज्ञता का प्रदर्शन करना है। यदि क्षण भर के लिए मान भी लिया जाय कि मध्यदेश की भाषा मात्र हिन्दी ही रहे, तो भी उसके चारों ओर स्वतन्त्र और पृथक् भाषाओं की और उनके आधार पर बने राज्यों की एक मेखला बनी रहेगी, देश छोटे-छोटे भागों में तो बँटा ही रहेगा। आसामी, बंगाली, उड़िया, तामिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम,

मराठी, गुजराती, सिंधी, बलोची, पश्तो, काश्मीरी, नैपाली आदि भाषाएँ और उनके राज्य तो पृथक् रहेंगे ही।

८. हिन्दी साहित्य सम्मेलन का इस बखेड़े से क्या सम्बन्ध ?

जनपद आन्दोलन के विरुद्ध कुतर्कों का प्रपंच रचने के उपरान्त, अर्थात् साधारण हिन्दी प्रेमी के मन में घोर आशङ्काओं की कतारें खड़ी करके और उसकी स्वयं सोचने समझने की शक्ति को कुण्ठित बनाकर वे शिशुवत् सरलता से निष्पक्षता का आडम्बर रचकर कहते हैं, "ये सब बातें तो हैं, पर साहित्य सम्मेलन को इस बखेड़े में क्यों पड़ना चाहिए ?" ताकि साहित्य सम्मेलन के सामने जनपद आन्दोलन वाले अपनी माँग न रखें और इस प्रकार उनका अन्दोलन मध्यदेश के सबसे शक्तिशाली सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन से दूर एकान्त में जा पड़े, और वे साहित्य सम्मेलन के मंच से उसके विरुद्ध निर्द्वन्द्व होकर फतवे निकालते रहें। परन्तु लगता है, जनपद आन्दोलन वालों की इच्छा इस धोखे में आने की नहीं है, और वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दामन नहीं छोड़ना चाहते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को राष्ट्रभाषा पद पर पहुँचाने में सबसे बड़ा काम किया है और हिन्दी-परिवार की अन्य भाषाओं के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जागरण पैदा करने में उसका आभार सभी स्वीकार करते हैं। अतः समूचे मध्य देश की भाषाओं के प्रति सम्मेलन का दायित्व बहुत बड़ा है। उसे वह छोड़ कैसे सकता है ? और यदि आज कतिपय नामधारी हिन्दी-सेवियों के अकांडतांडव से भुलावे में आकर सम्मेलन स्वयं अपनी और व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन की जनवादी परम्पराओं को त्याग कर मातृभाषाओं के स्वतन्त्र विकास की आकांक्षा को अवांछनीय कहकर जयपुर में प्रस्ताव पास कर सकता है, तो कभी न्याय और जन हित का विचार करके वह मातृभाषाओं के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर उदारता और दूर-दर्शिता का भी परिचय दे सकता है, और जनपदों की भाषा और संस्कृति के विकास में सहायक होकर समूचे मध्य देश के समान-सांस्कृतिक-उत्थान का नया शिलान्यास कर सकता है। सम्मेलन इस प्रश्न पर तटस्थ नहीं है, हो भी नहीं सकता। यदि जनपदों के बखेड़े से सम्मेलन का सम्बन्ध न होता तो जयपुर का प्रस्ताव केवल इतना ही कहता कि मातृभाषाओं के आन्दोलन के प्रति सम्मेलन तटस्थ रहेगा। वह इन आन्दोलनों के कार्य-कर्त्ताओं से केवल इतना अनुरोध करता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को न उभरने दें जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने से इन्कार करें। दिल्ली, हरिद्वार और जयपुर के प्रस्तावों से यह सिद्ध है कि मातृभाषाओं-सम्बन्धी प्रश्न सम्मेलन की विचार-सीमा में आते हैं। किन्तु इस समय सम्मेलन का हस्तक्षेप मातृभाषाओं के विरोध में हुआ, यह हमारे लिए गौरव की बात नहीं है। यह तो उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार गांधीजी लार्ड इर्विङ्ग के पास 'रोटी माँगने गये पर बदले में मिला पत्थर।'

जनपद आन्दोलन के विरोधियों के तर्कों का इतने विस्तार से उत्तर देने की आवश्यकता थी, क्योंकि वे अभी तक अज्ञान के सागर में भय और आशंका की नाव पर

बैठ डूब-उतरा रहे हैं और जनवाद की दिशा भूल गये हैं।

प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण

जनपदीय भाषाओं के प्रश्न पर प्रगतिवादी विचारकों तथा साहित्यिकों का क्या दृष्टिकोण है, उनकी कार्यनीति का क्या स्वरूप है, अब इन प्रश्नों पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना है।

प्रगतिवादी और राष्ट्रभाषा हिन्दी

इस रिपोर्ट के कतिपय शब्दों को तोड़ मरोड़कर जनपदीय भाषाओं के विरोधी अर्थ का अनर्थ न करें और हमारे ऊपर कहीं यह मिथ्यारोप न लगाने लगें कि प्रगतिवादी हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद से गिराने के लिए जनपदीय भाषाओं का पक्ष-समर्थन कर रहे हैं, इसलिए हमें इस सम्बन्ध में पुनः अपनी नीति की स्पष्ट घोषणा करनी चाहिए। **हमारा निश्चित मत है कि पूर्वी पञ्जाब, दिल्ली, युक्त-प्रान्त, राजस्थान, बिहार, मध्य-भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बङ्गाल, आसाम आदि मध्य-देश और पूर्वी भारत के प्रान्तों में, जहाँ की वर्तमान भाषाओं में संस्कृत के सहस्रों शब्द अपने तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में प्रचलित हैं, जिसके कारण उनमें एक साम्य स्थापित किया जा सकता है, हिन्दी (संस्कृत प्रधान साहित्यिक खड़ी बोली) को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार करने का प्रयत्न जारी रहना चाहिए। एक प्रकार से इन विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में सर्वसाधारण के अन्दर हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। सरकारी तौर पर भी उसे मनवाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। दक्षिण की द्राविड़ी भाषाएँ भी यदि हिन्दी को स्वीकार करलें तो हमें प्रसन्नता होगी, परन्तु इसका अन्तिम निर्णय वहाँ के निवासी ही कर सकते हैं। यदि वे तमिल, तेलुगु, कनारी, मलयालम में से किसी एक को द्राविड़ क्षेत्रों की राष्ट्र-भाषा का पद देना चाहेंगे तो इससे उन्हें रोका नहीं जा सकेगा। पश्चिमी पञ्जाब, सिंध, बलोचिस्तान, सीमा-प्रान्त और काश्मीर आदि प्रदेशों में अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा, अर्थात् राष्ट्रभाषा भी हिन्दी (संस्कृत-प्रधान खड़ी बोली) ही हो, इस बात पर जोर देना हम उचित नहीं समझते। हमारा विचार है कि इन प्रदेशों में खड़ी बोली का उर्दू रूप ही अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा के लिये अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार भावी भारतीय राष्ट्रसंघ का चाहे जो विधान हो, हमें अन्तोगत्वा कम-से-कम दो विशाल भूमिखण्डों के लिये अलग-अलग दो राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी।**

एक समय था जब गांधीजी की तरह प्रगतिवादियों ने भी हिन्दी-उर्दू के झगड़े का अन्त करने के लिए एक सरल समाधान 'हिन्दुस्तानी' के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु भाषाओं के विकास के इतिहास ने और गत दस वर्ष की राष्ट्रीय परिस्थितियों ने हमें इस प्रश्न पर गहराई से सोचने पर मजबूर कर दिया और हम अब इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि एक सामान्य राष्ट्रभाषा का उद्देश्य चाहे कितना ही श्लाघ्य क्यों न हो, वर्तमान परिस्थितियों में वह असम्भव है। न कोई नयी भाषा कृत्रिम उपायों से गढ़ी जा

सकती है और न राजनीतिक वातावरण ही इस समय इसके पक्ष में है। अतः हिन्दी तथा उर्दू दोनों का सामान्य रूप तो सद्भावना के वातावरण में दोनों सांस्कृतिक धाराओं के स्वच्छन्द और स्वस्थ मेल से ही कहीं विकसित हो सकेगा।

इस स्पष्टीकरण से स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी क्षेत्रों में यदि जनपदीय भाषाओं के प्रतिनिधि प्रतिक्रियावश जातीय उन्माद और पृथकत्व की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद से गिराने का प्रयत्न करेंगे, तो प्रगतिवादी उस प्रयत्न को अपना समर्थन कदापि नहीं देंगे। हमारा यह भी निश्चित मत है कि हिन्दी के जनपदीय क्षेत्रों तथा उस समस्त भूखण्ड में जहाँ की राष्ट्रभाषा हम हिन्दी को बनाना चाहते हैं, मातृभाषाओं के साथ-साथ उच्च कक्षाओं में द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी का पढ़ाया जाना अनिवार्य होना चाहिए ताकि अन्तरप्रान्तीय व्यवहार और अधिक सुगम हो सके।

राष्ट्रभाषा के अनुकूल हिन्दी के साहित्य भण्डार को समृद्ध और गौरवशाली बनाने का दायित्व हम प्रगतिवादियों के ऊपर भी है। अपने अनुभव के आधार पर हम इतना तो निश्चित कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की वर्णन और भाव-प्रकाशन की शक्ति, सामाजिक और आर्थिक जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रयुक्त नाना प्रकार की उत्पादन व्यवस्था और निर्माणकी क्रियाओं का सजीव और साङ्गोपाङ्ग चित्रण करने की क्षमता अत्यधिक स्वल्प और अधूरी है। यही कारण है कि साधारण बोलचाल में पढ़े-लिखे नागरिक या तो भाव-प्रकाशन के लिए क्लिष्ट संस्कृत पदावली का आश्रय लेते हैं या फिर अङ्गरेज़ी-हिन्दी मिश्रित ऐसी खिचड़ी भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है और वह विरूप और कृत्रिम होती जाती है। यह परिस्थिति गम्भीर है और हिन्दी-भाषा (साहित्यिक खड़ी बोली) में उपस्थित एक क्रूर सङ्कट की चेतावनी देती है। इसके दो कारण हो सकते हैं, पहला तो यह कि मध्य-देश के उन जनपदों की भाषाओं के जहाँ की मातृभाषा खड़ी बोली नहीं है परन्तु साहित्यिक हिन्दी का वर्त्तमान रूप से खड़ी बोली ही है और शिक्षालयों में उसका ही प्रचलन है—स्थानिक प्रभाव से बचाकर हिन्दी के राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक रूप को सर्वत्र एक स्टैन्डर्ड रूप देने की प्रवृत्ति हिन्दी की क्षमताओं को संकुचित करती जा रही है। स्थानीय प्रभावों से अपना दामन बचाकर हर नयी क्रिया अथवा भाव की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी आज संस्कृत से शब्द उधार लेती है। विशुद्धता की यह प्रवृत्ति उसके प्रकृत विकास को रोक रही है। दूसरा कारण यह है कि हिन्दी कुरु जनपद की जिस खड़ी बोली का साहित्यिक रूप है, उससे उसका सम्बन्ध अत्यन्त शिथिल पड़ गया है, जिससे उसे पर्याप्त मात्रा में प्राणरस नहीं मिल पाता और उसकी प्रकृत शक्ति का विकास नहीं हो पा रहा। अपने को सक्षम और जीवित बनाये रखने के लिये उसे संस्कृत (हिन्दी को) फ़ारसी (उर्दू को) और अङ्गरेज़ी (हिन्दी-उर्दू दोनों को) से अपनी सामर्थ्य से इतना अधिक उधार लेना पड़ रहा है कि उसे तत्सम शब्दों का अजीर्ण-सा हो गया है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जिस प्रकार आचार्य द्विवेदी-काल में भाषा-क्रान्ति द्वारा खड़ी बोली का साहित्यिक रूप स्थिर किया

गया था, उसी प्रकार उसमें नया ओज, सूक्ष्म और सजीव वर्णन और भावाभिव्यंजन की शक्ति लाने के लिये आज दूसरी क्रान्ति अनिवार्य हो गयी है। यह क्रान्ति हिन्दी को अपने जनपद के सर्वसाधारण की बोली के निकट ले जाने से ही सम्पन्न की जा सकती है। अतः हमारा विचार है कि डॉ० अग्रवाल की योजना के अनुसार कार्य करने के लिये सर्वप्रथम कुरु जनपद में ही खड़ी बोली के अध्ययन और खोज के केन्द्र स्थापित किये जायँ। साहित्य सम्मेलन की इतिहास, साहित्य और विज्ञान परिषदों को सम्मिलित रूप से इस महत् कार्य का भार तुरन्त उठा लेना चाहिए।

जनपद समस्या का समग्ररूप

(१) अखिल भारतीय

सम्पूर्णानन्द जी मध्यदेश के ३० जनपदों के नाम से ही विवेक और धैर्य्य खो बैठे। यदि सम्पूर्ण भारत को दृष्टि में रखकर राहुलजी ने जनपद समस्या पर विचार किया होता तो क्या परिणाम होता, हम अनुमान लगाने में असमर्थ हैं। परन्तु हम अपने सुविशाल देश के संदर्भ में ही मध्यदेश की जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का समाधान खोजना चाहते हैं।

ग्रियर्सन कृत **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया** के अनुसार समूचे भारतवर्ष में १७९ पृथक् भाषाएँ और ५४४ उनकी बोलियाँ हैं। बोलियों को इस प्रसंग में लाना अनावश्यक है, क्योंकि वे इन्हीं १७९ भाषाओं की बोलियाँ हैं, उनका अपनी भाषा के अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व नहीं माना जाता, यद्यपि अनेक बोलियाँ प्राचीन साहित्य और विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और वे कालान्तर में कभी भी पृथक् भाषाएँ बन सकती हैं। इस प्रकार ये १७९ भाषाएँ भारतीय भाषाओं के चार बड़े भाषा-कुलों की हैं—**तिब्बती-चीनी, आस्ट्री, द्राविड़ी और हिन्द-ईरानी।**

तिब्बती-चीनी-कुल—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के कथनानुसार भारत की एक सौ उनासी भाषाओं में से एक सौ सोलह तो तिब्बती-चीनी-कुल की हैं। ये भाषाएँ आसाम के उत्तरी और पूर्वी भाग, नैपाल के थोड़े से भाग और हिमालय के भीतरी हिस्सों में बोली जाती हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार इनके बोलने वालों की संख्या कुल चालीस लाख के लगभग है। डॉ० बाबूराम सक्सेना इस संख्या को डेढ़ करोड़ से ऊपर बताते हैं। इस कुल की चार प्रमुख भाषाएँ हैं; **मनीपुरी**—(तीन लाख बानवे हज़ार), **लुशी**—(साठ हज़ार), बोदो जाति की भाषा **गारो**—(दो लाख तीस हज़ार) और नैपाल की **नेवारी**—(संख्या अज्ञात)। **नेवारी और मनीपुरी** में लिखित साहित्य भी मिलता है और **मनीपुरी, लुशी** और **गारो** को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 'छोटी भाषाओं' के रूप में पाठ्यक्रम में स्थान दिया है।

आस्ट्री-कुल—आस्ट्री कुल की भाषाएँ तीन वर्गों में विभक्त हैं—(१) **मुंडा** अथवा **कोल** जिसके अन्तर्गत निम्न भाषाएँ हैं—**संथाली**—(पच्चीस लाख), **मुंडारी**—(छः लाख पचास हज़ार), **हो**—(चार लाख पचास हजार), **कुर्कू**—(एक लाख साठ

हज़ार), **सवँर**–(एक लाख सत्तानवे हज़ार) और **गडाबा**–(चवालीस हज़ार)। (२) आसाम की **खासी**–(दो लाख चौंतीस हज़ार) और (३) **निकोबारी**–(दस हज़ार)। इनके बोलने वाले **छोटा नागपुर, मध्यभारत, उड़ीसा, मद्रास, पश्चिमी बङ्गाल,** और **बिहार** के जंगलों से लेकर **शिमला पहाड़ी** तक हिमालय की तराई में बिखरे मिलते हैं। **खासी** के बोलने वाले **आसाम की पहाड़ियों** पर मिलते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने **खासी** और **सन्थाली** को 'छोटी भाषाओं' के रूप में अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। भाषाओं के बोलने वालों की संख्या लगभग तिरेपन लाख है। उनमें लिखित साहित्य नहीं मिलता, और न कोई प्रचलित लिपि ही है। लोक गीत और वार्ताएँ ही केवल मिलती हैं।

द्राविड़ी-कुल––इस कुल में चौदह भाषाएँ हैं, जिनमें से चार तो उच्चकोटि की साहित्यिक भाषाएँ हैं––**तेलुगु**–(दो करोड़ साठ लाख), **कनारी**–(एक करोड़ दस लाख), **तामिल**–(दो करोड़ + सिंहल द्वीप में बीस लाख) और **मलयालम**–(नब्बे लाख)। इनके अतिरिक्त **मध्यप्रान्त, हैदराबाद रियासत** और **मद्रास** में **तुलु**–(एक लाख बावन हज़ार), **कोडगु**–(पैंतालीस हज़ार), **टोडा**–(छः सौ) और **गोंडी**–(अठारह लाख पैंसठ हज़ार), **उड़ीसा** प्रान्त में **कुई**–(या कन्धी, पाँच लाख छियासी हज़ार); **बिहार** और **उड़ीसा** प्रान्तों में **कुरुख**–(दस लाख अड़तीस हज़ार), **राजमहल की पहाड़ियों में माल्टो**–(इकहत्तर हज़ार) और **बलूचिस्तान** में **ब्राहुई**–(दो लाख सात हज़ार) आदि द्राविड़ी परिवार की पिछड़ी भाषाएँ हैं जिनमें लिखित साहित्य नहीं मिलता। कुल मिलाकर द्राविड़ी भाषाओं के बोलने वाले भारत में सात करोड़ पच्चीस लाख के लगभग हैं।

हिन्दी-ईरानी शाखा––हिन्द-ईरानी शाखा को तीन उपशाखाओं में बाँटना आवश्यक है :

(१) **ईरानी**, जिसकी दो भाषाएँ **पश्तो** (सोलह लाख) और **बलोची** (छः लाख अट्ठाइस हज़ार) हैं।

(२) **दर्दी**, जिसकी **काश्मीरी** (पंद्रह लाख), **शीना** (अड़सठ हज़ार), **खोवारी, बाशगली** और **पशाई** आदि काश्मीर के सुदूर पहाड़ी इलाकों की छोटी-छोटी भाषाएँ हैं; और

(३) **भारतीय-आर्य** जिसके अन्तर्गत **लँहदी** या **पश्चिमी-पंजाबी** (छियासी लाख), **सिन्धी** (चालीस लाख), **मराठी** (दो करोड़ नौ लाख), **उड़िया** (एक करोड़ बारह लाख), **बंगाली** (पाँच करोड़ पैंतीस लाख), **आसामी** (बीस लाख), **मैथिली** (एक करोड़), **मगही** (पैंसठ लाख), **भोजपुरिया** (दो करोड़ पाँच लाख), **कोसली** या **पूर्वी-हिन्दी** जिसमें **अवधी, बघेली** और **छत्तीसगढ़ी** (दो करोड़ पच्चीस लाख) सम्मिलित हैं, **पश्चिमी-हिन्दी**–हिन्दी-उर्दू सम्मिलित **खड़ी बोली, बांगुरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी** और **बुन्देली** (चार करोड़ दस लाख), **पूर्वी-पंजाबी** (एक करोड़ पचपन लाख), **राजस्थानी**–चारों बोलियों को सम्मिलित करके (एक करोड़ उनतालीस लाख), **भीली** (बीस लाख),

गुजराती (एक करोड़ दस लाख), **पूर्वी-पहाड़ी या नेपाली** (साठ लाख), **मध्य-पहाड़ी–गढ़वाली और कुमाऊँनी** (दस लाख) और **पश्चिमी-पहाड़ी** (बीस लाख) हैं। हिन्द-ईरानी शाखा की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या भारत में लगभग पच्चीस करोड़ पिचहत्तर लाख है[1]।

अपने देश की विभिन्न भाषाओं पर जब हम विहङ्गम दृष्टि डालकर देखते हैं तो हमें एक विचित्र रहस्य पर प्रकाश पड़ता दीखता है।

तिब्बती-चीनी कुल की एक-सौ सोलह भाषाओं के चालीस लाख अथवा डेढ़ करोड़ बोलने वाले असभ्य ही समझे जाते हैं। उनको अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने का अधिकार नहीं है। अर्थात् उनमें अशिक्षा निन्यानवे फीसदी है। दूसरे प्रान्तों के लोगों से व्यवहार रखने के लिए उन्होंने **बंगाली, आसामी** या **नेपाली** सीख ली है, जिसके द्वारा वे सभ्य भारत के अफसरों, ठेकेदारों या बाबुओं के हुक्मों को समझ जाते हैं या बनिये की दूकान से ज़रूरत की चीज़ें खरीद लाते हैं।

आस्ट्रो कुल की आठ-नौ भाषाओं को बोलने वाली जातियाँ भी—जिनकी संख्या साढ़े तिरेपन लाख है—असभ्य समझी जाती हैं, अतः उनको भी अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने का अधिकार नहीं है। अशिक्षा उनमें भी निन्यानवे फ़ीसदी से ज्यादा है। उनका भाग्य भी **तिब्बती-चीनी** भाषाओं को बोलने वाली जातियों से किसी प्रकार उत्तम नहीं है।

द्राविड़ी कुल की चौदह भाषाओं में से चार भाषाओं में ही साहित्य-शिक्षा का प्रबन्ध है। बाकी दस भाषाओं के लगभग पैंतालीस लाख बोलने वालों के लिए यदि शिक्षा की कोई व्यवस्था है तो विजातीय भाषाओं में ही। अशिक्षा उनमें भी ६५ फ़ीसदी से अधिक ही है। उस पर इन उपेक्षित भाषाओं में **गोंडी, कुरुख, कुई,** या **ब्राहुई** काफी बड़े जनपदों की भाषाएँ हैं।

हिन्द-ईरानी शाखा की लगभग पच्चीस भाषाओं में से केवल आठ भाषाओं में ही शिक्षा का प्रबन्ध है। इन भाषाओं के अतिरिक्त दस भाषाओं और चार बड़ी उपभाषाओं के—जिनमें प्राचीन साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है—बोलने वाले लगभग पन्द्रह करोड़ बयासी लाख व्यक्तियों को अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने से वंचित रखा गया है। उल्लेखनीय बात केवल इतनी है कि इस अभागी पन्द्रह करोड़ बयासी लाख जनता को यदि शिक्षा पाने की लालसा होती है तो उसे हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) अथवा उर्दू आदि विजातीय भाषाओं द्वारा शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। लगभग पिचासी फ़ीसदी हिन्द-ईरानी शाखा के भाषा-क्षेत्रों के निवासी भी अनपढ़ हैं। किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में, जैसे काश्मीर, पश्चिमी पंजाब, बलोचिस्तान, पहाड़ी प्रदेश आदि में तो अशिक्षा पिचानवे फ़ीसदी तक व्याप्त है।

---

१ यह लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया १९३१ के आधार पर दी संख्याएँ ह।

भारत की एक सौ उन्नासी भाषाओं में से केवल बारह भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम हैं। ये बारह भाषाएँ लगभग सत्रह करोड़ अट्ठाईस लाख जनता की मातृभाषा हैं। भारतीय भाषाओं के चार बड़े कुलों की अन्य एक-सौ-बावन भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में शिक्षा का माध्यम बनने का अधिकार नहीं है। इन एक-सौ-बावन भाषाओं को बोलने वाली लगभग सत्रह करोड़ इक्कीस लाख जनता विजातीय भाषाओं में ही शिक्षा पा सकती है। लगभग एक दर्जन से अधिक और भाषाएँ हैं जो भारतीय भाषाओं के चार बड़े कुलों से बाहर की हैं और उनके बोलने वालों की संख्या यद्यपि नगण्य है परन्तु वे भी अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने से वञ्चित हैं।

अकेली खड़ी बोली (हिन्दी-उर्दू) ने लगभग पन्द्रह करोड़ बयासी लाख व्यक्तियों को अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा पाने से वञ्चित कर रखा है। इससे सिद्ध है कि भारत भी 'भाषाओं का विशाल कारागार' है।

जब हम इन संख्याओं पर दृष्टि डालते हैं और अपने देश की अशिक्षा और सांस्कृतिक हीनता पर गौर करते हैं, तो अनायास ही लज्जा से हमारा मस्तक झुक जाता है। विदेशी-शासन का उद्देश्य कभी सार्वजनिक शिक्षा और प्रत्येक जाति की सांस्कृतिक उन्नति नहीं हो सकता था, उसका उद्देश्य तो अपने शासन-कार्य के लिए कुछ लोगों को शिक्षित करके देश की बाकी जनता को असभ्य और अर्ध-सभ्य अवस्था में ही पड़े रहने देना हो सकता था। उसी का यह परिणाम है कि हमारी स्थिति इतनी दयनीय है कि देश की कम-से-कम आधे दर्जन ऐसी भाषाएँ भी, जिनके बोलनेवालों की संख्या ईरानी, तुर्की, बर्मी, यूनानी आदि अनेक स्वतंत्र देशों की भाषाओं से ज्यादा है और जिनमें गौरवशाली प्राचीन-साहित्य भी मौजूद है, उपेक्षित पड़ी रहीं; छोटी-छोटी भाषाओं की तो बात जाने दीजिए। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस स्थिति को कभी श्लाघ्य नहीं समझा और उसने सदैव इस बात पर ज़ोर दिया कि देश की पिछड़ी और अनुन्नत भाषाओं, संस्कृतियों और जातियों को शिक्षित, सभ्य और उन्नत बनाने के लिए उनके स्वाभाविक विकास की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जायँ। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की गौरवशाली, जनवादी परम्परा है[1]। इसे ध्यान में रखकर ही जनपद आन्दोलन की वांछनीयता और अवांछनीयता का निर्णय करना चाहिए।

एक बात और। जनपदीय भाषाओं का प्रश्न केवल हिन्दी-क्षेत्रों अथवा मध्य-देश की भाषाओं तक ही सीमित नहीं है। यह एक अखिल भारतीय प्रश्न भी है। हम अभी बता

---

१ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आशा की जाती थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन की इस परम्परा का अनुसरण करके देश की पिछड़ी अथवा अधिकारवंचित भाषाओं के साथ समुचित न्याय होगा, किन्तु संविधान में केवल १४ बड़ी भाषाओं को ही स्वीकृति दी गई है, यद्यपि अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने का सामान्य अधिकार हर नागरिक के लिए सिद्धान्ततः स्वीकार किया गया है। —लेखक, १५ मई १९५६

चुके हैं कि **तिब्बती-चीनी** कुल की भाषाओं के लगभग एक सौ सोलह जनपद, **आस्ट्री** कुल की भाषाओं के आठ-नौ जनपद, **द्राविड़** कुल की भाषाओं के लगभग दस जनपद और **हिन्दी-ईरानी** शाखा की भाषाओं के लगभग सोलह से लेकर बीस जनपद साम्राज्यवादी शासन की दुर्नीति के निरुपाय शिकार बने हैं, उनके आत्म-विकास के सारे द्वार बन्द हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रकाश-रेखाएँ पहुँच गई हैं, और जो जनपद अपने प्राचीन गौरव के इतिहास को एकदम विस्मृत नहीं कर पाये हैं, उनमें जाग्रति के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। अहिन्दी भाषा क्षेत्रों में भी जनपद-आन्दोलन मुखर हो उठा है। पश्तो, आंध्री (तेलुगु), उड़िया, असामी आदि के आन्दोलनों के विषय में हम अनभिज्ञ नहीं हैं। काश्मीरी सिंधी, पंजाबी आदि में जनपद-चेतना फूट निकली है।

जो भाषाएँ साम्राज्यवादी शासन की आवश्यकताओं के फलस्वरूप प्रोत्साहन पाकर तथा राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा उत्पन्न की हुई चेतना की वाहन बनकर अपेक्षाकृत उन्नत और साहित्य-सम्पन्न हो गई हैं, उनका ही यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी निर्बोध, छोटी बहनों को अपने-अपने क्षेत्रों में सहारा देकर ऊपर उठाएँ, उनके लिए स्वतन्त्र विकास के द्वार खोलें। यह बड़ी भाषाओं का जनवादी कर्तव्य है और इस कर्तव्य का पालन अखिल भारत में सर्वत्र करना अपेक्षित और अनिवार्य है। साम्राज्यवाद ने देश को भाषाओं और संस्कृतियों और इस प्रकार जातियों का जो 'विशाल कारागार' बना रखा है, उसकी शृंखलाओं को तोड़ने में यदि सशक्त भाषाएँ और जातियाँ सहयोग नहीं देंगी तो इसका अर्थ होगा कि वे भी साम्राज्यवादी नीति को ही स्वतन्त्र भारत में भी जारी रखना चाहती हैं। अल्पसंख्यक जातियों की भाषा-संस्कृति को मिटाकर उन्हें हम गुलाम ही बनाये रख सकते हैं, उन्नति के पथ पर अग्रसर कर अपने बराबर नहीं बना सकते। जो लोग इसे ही वांछनीय समझते हैं वे वास्तव में जयपुर-सम्मेलन के अवसर पर राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति श्री कन्हैयालाल मुन्शी के शब्दों में 'भाषा का साम्राज्यवाद' स्थापित करने का दुःस्वप्न देख रहे हैं। अखिल भारत में जनपदीय भाषाओं और संस्कृतियों का प्रश्न किस प्रकार हल किया जाय, इसके लिए सोवियत् रूस की जातीय समस्याओं के प्रति व्यवहृत नीति का अध्ययन उपयोगी होगा। परन्तु चूँकि जनपद आन्दोलन के विरोधी, जिनमें समाजवादी-गांधीवादी दोनों शामिल हैं, सोवियत् रूस के नाम से ही भड़क उठते हैं, हम यहाँ उसका उल्लेख नहीं करेंगे। यहाँ हमें जनपद समस्या के अखिल भारतीय समग्र रूप पर विहङ्गम दृष्टि डालकर पुनः हिन्दी क्षेत्रों तथा मध्य-देश की जनपद-समस्या का समाधान ढूंढ़ने तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित रखना चाहिए, क्योंकि हमारे कार्यक्षेत्र की सीमा में मध्यदेश ही आता है। अहिन्दी-प्रान्तों के लोग अपने-अपने यहाँ इस समस्या का हल स्वयं अपने अनुभव और जनवादी विचारधारा के आधार पर कर लेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

मध्य-देशीय जनपद-समस्या

मध्य-देश से तात्पर्य 'बिहार, संयुक्त-प्रान्त, हिन्दी मध्य-प्रान्त, मध्य-भारत, हिमालय

के पहाड़ी प्रान्त तथा पंजाब' से है। इसमें से हम पंजाब की लहँदी और पंजाबी भाषाओं के क्षेत्रों को निकाल सकते हैं। केवल पूर्वी पंजाब की बाँगरू बोली के क्षेत्र को ही मध्य-देश में सम्मिलित करना अपेक्षित है। लहँदी के छियासी लाख बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं। अब उन्होंने अपनी 'लेंडा' लिपि को छोड़कर फ़ारसी लिपि का प्रयोग शुरू किया है। पंजाबी के एक करोड़ उनतालीस लाख बोलनेवाले अब दो लिपियों का प्रयोग करते हैं, पश्चिम में फ़ारसी लिपि का और मध्य-पूरब के सिख गुरुमुखी लिपि का। जम्मू की डोगरी बोली भी पंजाबी के अन्तर्गत है।

राजस्थान की भीली और बिहार के संथाल परगना की संथाली आदि आस्ट्री-कुल की भाषाओं की भी हम मध्य-देश की भाषाओं में गिनती न करेंगे। भीली, संथाली आदि के बोलनेवालों को अपनी ही भाषाओं में शिक्षा देनी होगी। उनकी लिपियाँ भी बनानी होंगी। उन्हें केवल हिन्दी सिखाने से काम न चलेगा।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, भाषा-शास्त्री समूचे मध्य-देश की एकमात्र भाषा हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) है, ऐसा नहीं स्वीकार करते। केवल साधारण व्यवहार में ही हिन्दी शब्द से लोग इतने व्यापक अर्थ लगाते हैं। इसी कारण जब जनपदीय भाषाओं का प्रश्न उठता है तब आग्रह और दुराग्रह भाषा-शास्त्रीय दृष्टि का स्थान ले लेता है।

अंग्रेज़ी शासन ने वर्तमान प्रान्तों की सीमाएँ भाषाओं के आधार पर नहीं रखीं। किसी भी नई व्यवस्था के अन्दर वर्तमान असुविधाओं को दूर करके नई सीमाएँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। नई सीमाएँ क्या होंगी और वे जनपदीय भाषाओं को स्वतन्त्र विकास की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से बनाई जायेंगी अथवा हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) के जनसंख्या बल को और ठोस बनाने की दृष्टि से निर्धारित की जायेंगी, इसका निर्णय तो तत्कालीन जनपद-आन्दोलन की शक्ति और राष्ट्र-सङ्घ के कर्णधारों की न्याय-भावना पर ही निर्भर करेगा। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा का बहुत दिनों से स्वप्न रहा है कि समूचे मध्य-देश का नई व्यवस्था में एक महाप्रान्त बना दिया जाय, क्योंकि इस विशाल प्रदेश में साहित्यिक खड़ी बोली (हिन्दी-उर्दू) ही साहित्य की भाषा है। उनके स्वप्न में लहँदी जनपद भी सम्मिलित हैं। हम इस प्रश्न पर कोई मत प्रकट करना अनावश्यक समझते हैं। सर्वप्रथम हमारा उद्देश्य जनपदीय भाषाओं की वस्तुस्थिति समझ कर जनपद-आन्दोलन का पूरा परिचय पाना है ताकि अपना दृष्टिकोण स्थिर करते समय मध्य-देश की जनपदीय समस्या अपने रूप में हमारे सामने स्पष्ट हो।

मध्यदेश की भाषाओं और उनके जनपद आन्दोलनों पर एक बार निकट से दृष्टि डालें :

राजस्थानी—राजस्थानी **शौरसेनी** प्राकृत के नागर **अपभ्रंश** की भाषा है। वह **पश्चिमी हिन्दी** (खड़ी बोली, ब्रज, बुन्देली, बाँगरू) की अपेक्षा **गुजराती** के अधिक निकट है। एक समय राजस्थानी समस्त मध्यदेश की साहित्यिक भाषा रह चुकी है और राजस्थान का प्राचीन चारण, जैन, सन्त और लोक-साहित्य—गद्य और पद्य दोनों में—काफ़ी बड़ा है।

आधुनिक साहित्य भी उसमें न्यूनाधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगा है। परन्तु समस्त राजस्थान की साहित्यिक भाषा का एक ही रूप नहीं है। राजस्थानी के चार रूप प्रचलित है :

(१) **मेवाती**—अलवर राज्य और देहली के दक्षिण में गुड़गाँव के आस-पास की बोली;

(२) **मालवी**—मालवा प्रदेश अर्थात् इन्दौर राज्य में प्रचलित बोली;

(३) **जयपुरी-हाड़ौती**—जयपुर, कोटा, बूँदी राज्यों में प्रचलित बोली;

(४) **मारवाड़ी-मेवाड़ी**—जोधपुर, बीकानेर, जैलसमेर तथा उदयपुर राज्यों की बोली।

राजस्थानी के कुल बोलनेवाले एक करोड़ उन्तालीस लाख से अधिक हैं। और राजस्थान का क्षेत्रफल लगभग डेढ़-लाख वर्गमील है। भारत के बम्बई, पञ्जाब, बंगाल आदि प्रान्तों अथवा इंग्लैण्ड, आयलैंड, रूमानिया, ग्रीस, नार्वे, फिन्लैंड, जापान आदि देशों से राजस्थान का क्षेत्रफल बड़ा है। राजस्थान सदियों से अनेक देशी राज्यों में बँटा रहा है, अतः आश्चर्य की बात नहीं है कि राजस्थानी का कोई एक ही साहित्यिक रूप विकसित नहीं हो पाया है। राजस्थानी-आन्दोलन के नेताओं को पूरी आशा है कि यदि राजस्थानी को स्वतन्त्र विकास की सुविधा दी गयी तो वे निकट भविष्य में ही राजस्थानी का एक सर्वसम्मत रूप निखार लेंगे। इसके मार्ग में कई बाधाएँ हैं। पहली तो यह कि जब तक देशी नरेश रहेंगे, वे समूचे राजस्थान को एक भाषा के सूत्र में बँधने के मार्ग में अवरोध बने रहेंगे। दूसरे स्वयं सदियों से पृथक् राज्यों में बँटी जनता विभिन्न आर्थिक-सामाजिक इकाइयों में विभाजित रही है और उसकी अलग-अलग जातीयता का विकास होता गया है। अतः बिल्कुल सम्भव है कि देशी नरेशों से मुक्ति पाकर **मेवाती, मालवी, जयपुरी** और **मारवाड़ी** अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र भाषाएँ बनने का प्रयत्न करें और अपनी पृथक् जातीयता को सुरक्षित रखना ही आवश्यक समझें। इस प्रकार असंभव नहीं है कि राजस्थानी के एक संयुक्त साहित्यिक भाषा बनने के पूर्व ही उसके वर्तमान चारों रूप स्वतन्त्र विकास कर जाएँ। यह अनिवार्य नहीं है कि वे भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से 'पृथक् भाषा पदवाच्य' हों तभी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना सकें। गुजराती तीन सौ वर्ष पूर्व राजस्थान की ही बोली थी, परन्तु आज एक स्वतन्त्र भाषा है। राजस्थानी के जनपद-आन्दोलन के नेता भी सोचते हैं कि 'प्रारम्भ में सभी बोलियों में रचना होगी। धीरे-धीरे या तो कोई एक बोली साहित्य की भाषा बन जायगी या सबका मिश्रण होकर साहित्य की भाषा का निर्माण होगा।' अभी इस विषय में निश्चितरूपेण कुछ कहना दुस्साहस होगा, परन्तु राजस्थानी के नेताओं को इस संभावना की ओर भी ध्यान रखना होगा। राजस्थान में मातृभाषा आन्दोलन बहुत व्यापक है और **जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, जयपुर, इन्दौर** आदि इस आन्दोलन के केन्द्र बन गये हैं। राजस्थानी अपनी मातृभाषा की अवहेलना से खिन्न हैं, इसका उदाहरण मारवाड़ी की इस व्यंग्योक्ति में मिलता है :

'अगर-मगर' के सोरह आने 'इकड़े-तिकड़े' बार।
'अठें-कठे' के अठहिज आने 'मूँछे' पइसा चार।

अर्थात् राजस्थान में जहाँ हिन्दी-उर्दू की क़ीमत सोलह आने और मराठी की बारह आने है, वहाँ मारवाड़ी की क़ीमत उसी के देश में आठ आने है।

राजस्थानी स्वतन्त्र भारत में अपना अलग राज्य बनाना चाहेंगे अथवा वे मध्य-देश के संयुक्त राज्य में सम्मिलित होना चाहेंगे, इसका निर्णय वे स्वयं करेंगे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के स्वप्न को वही सफल अथवा विफल बना सकते हैं। ऊपर से, राष्ट्रसंघ की ओर से, उन पर कोई व्यवस्था नहीं लादी जा सकेगी।

मैथिली—**मागधी अपभ्रंश** की भाषा है, और अपनी उत्पत्ति के कारण **बंगाली, उड़िया, आसामी** से अधिक मिलती है। मैथिली दरभंगा के आस-पास के जनपद की भाषा है। बोलने वालों की संख्या एक करोड़ है, लिपि मैथिली है जो प्राचीन नागरी से निकली है। प्राचीन साहित्य उच्च-कोटि का है। **विद्यापति** इसी भाषा के कवि थे। मैथिली साहित्य परिषद् है, जिसकी ओर से परीक्षाएँ होती हैं, परन्तु वह शिक्षा का माध्यम नहीं बनायी गयी है, यद्यपि इसके लिए आन्दोलन किया जा रहा है। मैथिली का जनपद आन्दोलन भी काफ़ी संगठित और मुखर है। मैथिली का आधुनिक काव्य-साहित्य भी उत्तम है। दरभंगा से **मिथिला मिहिर** और मुजफ़्फ़रपुर से **तिरहुत समाचार** मैथिली में निकलते हैं। **प्रो० जयकान्त मिश्र** ने **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** को उत्तर देते हुए अगस्त १९४४ में **लीडर** में लिखा था कि मिथिला कभी मध्यदेश का अंग नहीं रहा है।

मगही—**पटना** और **गया** केन्द्रों के आस-पास की भाषा **मगही** भी **मागधी अपभ्रंश** से उत्पन्न हुई है। इसके बोलने वालों की संख्या पैंसठ लाख है। मगही में प्राचीन साहित्य नहीं के बराबर है और आधुनिक साहित्य भी नहीं है। इस भाषा-क्षेत्र में जनपद आन्दोलन अभी तक नहीं पैदा हुआ। एक प्रकार से बिहार की भाषाओं में सबसे पिछड़ा यही जनपद है।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का कथन है कि मैथिली और मगही को भोजपुरी के साथ एक कोष्ठ में रखकर तीनों को एक 'बिहारी' भाषा के अन्तर्गत रख देना ग़लत है, क्योंकि मगही और मैथिली मागधी-अपभ्रंश से निकली हैं और उनका हिन्दी से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु भोजपुरी अर्धमागधी से निकली है और कोसली के वह अधिक निकट है।

भोजपुरी—बिहार के **शाहाबाद, आरा, चम्पारन और सारन जिलों** में तथा **संयुक्त प्रान्त की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों में भोजपुरी भाषा बोली जाती है।** बोलने वालों की संख्या दो करोड़ पाँच लाख है। इसमें **काशिका, मल्लिका, बज्जिका** आदि भोजपुरी की बोलियाँ हैं। भोजपुरी भी अन्य बिहारी भाषाओं के समान ही हिन्दी से बिल्कुल पृथक् भाषा है। अब इस भाषा क्षेत्र में जनपद चेतना काफ़ी व्याप्त हो गयी है और यद्यपि भोजपुरी की अभी कोई साहित्य परिषद् नहीं बनी है, और न उसमें पत्र-पत्रिकाएँ हा निकलती हैं, फिर भी भोजपुरी के लिए आन्दोलन शुरू हो गया है, भोजपुरी के लोक-

गीतों के संग्रह प्रकाशित हो रहे हैं और भोजपुरी का व्याकरण लिखा जा रहा है।

पहाड़ी भाषाएँ—पूर्वी पहाड़ी, नेपाली—नेपाल की भाषा को **नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली** या **खसकुरा** कहते हैं। बोलने वालों की संख्या लगभग ६० लाख है। नेपाल राज्य में सर्वत्र नेपाली ही नहीं बोली जाती, मुख्यतः यह **काठमांडू घाटी की भाषा** है। **वैसे तिब्बती-चीनी** कुल की अनेक भाषाएँ नेपाल में प्रचलित हैं, जिनमें **'नेवारी'** सबसे प्रमुख है। नेपाली देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। इधर सौ वर्षों से इसमें साहित्य भी पैदा होने लगा है, और यह **नेपाल राज्य की राजभाषा** भी है। पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से अधिक मिलती-जुलती हैं, हिन्दी से कम।

मध्य-पहाड़ी—मध्य-पहाड़ी के दो मुख्य भेद हैं :

(१) **कुमाउँनी**, जो **अलमोड़ा नैनीताल** के प्रदेश में बोली जाती है। इसमें थोड़ा सा साहित्य है। कवि सुमित्रानन्दन पन्त की मातृभाषा कुमाउँनी ही है। कुमाउँनी में गत तीस वर्षों से जनपद आन्दोलन भी चल रहा है, यद्यपि यह आन्दोलन कभी बहुत प्रबल नहीं हो पाया।

(२) **गढ़वाली**, जो गढ़वाल राज्य तथा मसूरी के निकट पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। इसमें विशेष साहित्य नहीं है।

ये दोनों बोलियाँ देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं। गढ़वालियों में जातीय-चेतना तीव्रता से फैल रही है और यद्यपि अभी गढ़वाली में नियमित रूप से जनपद आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हुआ है, तथापि **इलाहाबाद, लखनऊ**, और **लाहौर** आदि शहरों में **गढ़वाली साहित्य परिषदों की** स्थापना उनकी जातीय चेतना की शक्ति की सूचक है। गढ़वाली की उन्नति के प्रयत्न शुरू हो गये हैं। **प्रो० बल्देवप्रसाद नौटियाल** गढ़-वाली का कोष तैयार कर रहे हैं, **शालिग्राम वैष्णव** ने नागरी प्रचारिणी सभा से गढ़वाली पखावों (कहावतों) का संग्रह निकाला है।

(३) **पश्चिमी-पहाड़ी**—पश्चिमी-पहाड़ी लगभग **तीस बोलियों का एक समूह है।** उनका कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है। **शिमला के** निकटवर्ती प्रदेश में इनके लगभग बीस लाख बोलनेवाले पहाड़ों पर फैले हुए हैं। मुख्य बोलियाँ, संयुक्त-प्रान्त के **जौनसार-बाबर** प्रदेश की **जौनसारी, शिमला पहाड़** की **क्योंथली, कूलू** प्रदेश की **कुलुई** और **चंबा राज्य** की **चंबाली** हैं। **चंबाली** को छोड़कर ये सभी बोलियाँ **टाकरी** या **टक्करी** लिपि में लिखी जाती हैं। इन बोलियों में कोई साहित्य नहीं मिलता, और न जनपद आन्दोलन ही है। अधिकांश बोलने वाली पहाड़ी जातियाँ बहुत पिछड़ी दशा में हैं।

मध्य देश की उपरोक्त भाषाएँ—लहँदी, पंजाबी, सिंधी, भीली, राजस्थानी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, संथाली और पहाड़ी भाषाएँ आदि—भाषा शास्त्रीय दृष्टि से अ-हिन्दी भाषाएँ हैं। यहाँ पर ब्रिटिश शासन ने हिन्दी या उर्दू को ही प्राइमरी शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने दायित्व से छुट्टी पा ली है। स्वाभाविक है कि शिक्षा का और कोई माध्यम न होने के कारण और राज्य की ओर से हिन्दी-उर्दू को ही प्रोत्साहन मिलने के

कारण, इन अ-हिन्दी जनपदों के शिक्षित वर्ग ने स्थिति में समझौता किया और हिन्दी-उर्दू को ही अब तक साहित्य का माध्यम मानकर उसमें स्वयं भी साहित्य-सृजन किया। परन्तु वहाँ की असंख्य अनपढ़ जनता अपनी-अपनी भाषाओं और बोलियों में ही बोलती है और स्वयं शिक्षित वर्ग भी अपने घरों में अपनी मातृभाषाओं का ही प्रयोग करता है। अब जातीय चेतना के उदय होने से इन भाषाओं में जनपद आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं। यह स्थिति तो है हिन्दी के अ-हिन्दी भाषा-क्षेत्रों की, अब हमें संक्षेप में हिन्दी के अपने घर की परिस्थिति पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी—हिन्दी स्वयं एक-रूप भाषा नहीं है, वरन् आठ बोलियों के समुदाय को हिन्दी के नाम से पुकारा जाता है। इनमें से **बाँगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी** तथा **बुन्देली** को भाषा-शास्त्री **पश्चिमी हिन्दी** समुदाय की बताते हैं और **कोसली, बघेली** तथा **छत्तीसगढ़ी** को **पूर्वी-हिन्दी** की। ऐतिहासिक दृष्टि से **पश्चिमी-हिन्दी** का सम्बन्ध **शौरसेनी प्राकृत** से है और **पूर्वी-हिन्दी** का **अर्धमागधी** प्राकृत से। पहले हम पूर्वी-हिन्दी पर विचार करेंगे।

पूर्वी-हिन्दी—(१) **कोसली : अवधी**—संयुक्त प्रान्त के **लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी** आदि जिलों तथा दक्षिण में **गंगापार, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्ज़ापुर** के कुछ भागों की मातृभाषा **अवधी** है। बोलने वालों की जनसंख्या लगभग एक करोड़ बयालीस लाख है। थोड़ा प्राचीन साहित्य भी है, जिसमें **मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत'** और **गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस'** अवधी के महान् महाकाव्य हैं। अवधी में अभी जनपद आन्दोलन का सूत्रपात नहीं हुआ है तथापि स्वर्गीय **बलभद्रप्रसाद दीक्षित**, स्वर्गीय **बुद्धिभद्र दीक्षित, चन्द्रभूषण** और **बन्शीधर** ने अवधी में उच्चकोटि की आधुनिक कविता की है।

(२) **बघेली**—**अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। रीवाँ राज्य** इसका केन्द्र है, किन्तु यह **मध्य-प्रान्त** के **दमोह, जबलपुर, माँडला** तथा **बालाघाट** के ज़िलों तक फैली हुई है। बोलनेवालों की संख्या छियालीस लाख है। बघेली में प्राचीन साहित्य थोड़ा ही है, परन्तु बघेलों में जनपद-चेतना कई वर्षों से फैल रही है। बघेली के जनपद आन्दोलन की माँगें अभी स्पष्ट नहीं बन पायी हैं, तथापि बघेले अपने को एक जाति मानते हैं, ऐसा अनुमान किया जा सकता है; तथा उनका जनपद आन्दोलन निकट भविष्य में ही बघेली की पृथक् सत्ता की माँग करेगा, इसकी सम्भावनाएँ भी मौजूद हैं। रीवाँ की **रघुराज साहित्य परिषद्** बघेली की उन्नति के लिए कार्य कर रही है, और बघेली जनपद-आन्दोलन की ओर से एक पत्र **'बान्धव'** भी निकलता है।

छत्तीसगढ़ी—"छत्तीसगढ़ी को **लरिया या खल्ताही** भी कहते हैं। यह **मध्यप्रान्त में रायपुर** और **बिलासपुर** के जिलों तथा **कांकेर, नन्दगाँव, खैरगढ़, रायगढ़, कोटिया, सरगुजा, उदयपुर** तथा जयपुर आदि राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में बोली जाती है।" बोलने वालों की संख्या तेंतीस या अड़तीस लाख के लगभग हैं। थोड़ा पुराना साहित्य है, कुछ **अत्यन्त साधारण** नया साहित्य भी है। छत्तीसगढ़ी में अभी तक जनपद आन्दोलन नहीं

पैदा हुआ, क्योंकि अधिकांश बोलने वाले भिन्न-भिन्न रियासतों में बँटे हुए हैं और उनमें शिक्षा का प्रसार नहीं के बराबर है। **श्यामाचरण दुबे** छत्तीसगढ़ी के लोक साहित्य का संग्रह कर रहे हैं।

पश्चिमी हिन्दी—(१) **बांगरू—जाटू** या **हरियानी** नाम से प्रसिद्ध बाँगरू बोली **पंजाबी और राजस्थानी** मिश्रित **खड़ी बोली** है। यह **दिल्ली, करनाल, रोहतक** और **हिसार** ज़िलों में और पड़ोस के **पटियाला, नाभा** और **जींद** रियासतों के गाँवों में बोली जाती है। बोलने वालों की संख्या लगभग बाईस लाख है। पानीपत और कुरुक्षेत्र इस बोली की सीमा में ही पड़ते हैं। बाँगरू में न तो अधिक साहित्य है और न जनपद आन्दोलन ही।

(२) **ब्रजभाषा**—खड़ी बोली के पूर्व कई शताब्दियों तक **ब्रजभाषा** हिन्दी साहित्य की भाषा रह चुकी है। इसका प्राचीन काव्य-साहित्य अद्वितीय है। यह बोली **मथुरा, आगरा, अलीगढ़** जिलों और **धौलपुर** रियासत में बोली जाती है। **गुड़गाँव, भरतपुर, करौली** तथा **ग्वालियर** के पश्चिमोत्तर भाग में, **बुलन्दशहर, बदायूँ**, तथा **नेपाल** की तराई में; **एटा, मैनपुरी, बरेली, पीलीभीत** और **इटावा** के जिलों में ब्रजभाषा पर स्थानानुसार राजस्थानी, बुन्देली, खड़ी बोली, कन्नौजी का प्रभाव पड़ा है और बोली का रूप मिला-जुला हो गया है। ब्रजभाषा के बोलने वालों की संख्या लगभग उन्नासी लाख है। **टर्की, बेल्जियम, हालैण्ड, हंगरी, आस्ट्रिया, पुर्तगाल** आदि देशों की भाषाओं मे ब्रजभाषा के बोलने वालों की संख्या ज्यादा है। **खड़ी बोली** थोड़े ही दिनों से **ब्रजभाषा** के साहित्यिक स्थान पर विराजमान हुई है। ब्रजभाषा-भाषियों को अपनी भाषा पर गर्व है और वे आज भी उसके अपने प्राचीन गौरव को विस्मृत नहीं कर पाये हैं। '**ब्रज-साहित्य मण्डल**' की मथुरा में कई वर्ष पूर्व स्थापना भी हो चुकी है और उसकी ओर से '**ब्रजभारती**' पत्रिका भी निकलती रही है। मण्डल की ओर से डॉ० अग्रवाल की योजना के अनुसार कुछ कार्य भी प्रारम्भ किया गया था। ब्रजभाषा में थोड़ा प्राचीन गद्य साहित्य भी है। वर्तमान काल में **अलीगढ़, आगरा** और **मथुरा** के दर्जनों जन-कवि ब्रजभाषा में राष्ट्रीय जागरण के सुन्दर गीत और खंडकाव्य लिखकर जनता को उद्बुद्ध कर रहे हैं।

(३) **बुन्देली**—जैसा नाम से ही प्रकट है, बुन्देली **बुन्देलखंड** की भाषा है। '**झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी** तथा **होशंगाबाद** में बुन्देली अपने शुद्ध रूप में बोली जाती है। **दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट** तथा **छिन्दवाड़ा** के कुछ भागों में इसके कई मिश्रित रूप पाये जाते हैं।' बोलने वालों की संख्या लगभग उनहत्तर लाख है।' 'मध्यकाल में बुन्देलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है।' बुन्देली **ब्रजभाषा** के बहुत निकट है, परन्तु इधर कुछ दिनों से बुन्देलखण्ड में जनपद-चेतना बहुत तेज़ी से जगी है। वे न केवल अपनी मातृभाषा के स्वतन्त्र विकास की माँग करने लगे हैं, वरन् पृथक् **बुन्देलखंड प्रान्त के निर्माण की** भी जोरदार माँग कर रहे हैं। इस प्रदेश के राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी इस माँग का समर्थन कर रहे हैं। **व्यौहार राजेन्द्रसिंह** जो पहले **महाकोसल प्रान्त** बनाने की कमेटी के मन्त्री थे, **बुन्देलखंड प्रान्त निर्माण**

आंदोलन के भी अग्रगण्य नेता हैं। **पं० बनारसीदास चतुर्वेदी** और **जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी** के सम्पादकत्व में टीकमगढ़ से निकलने वाला पाक्षिक-पत्र **'मधुकर'** बुन्देली जनपद आन्दोलन और बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण आन्दोलन का मुख-पत्र है। इस पत्र ने बुन्देलखण्ड में जनपद-चेतना फैलाने में सराहनीय कार्य किया है। **कृष्णानन्द गुप्त** के सम्पादकत्व में बुन्देली में **'लोकवार्ता'** नाम से एक त्रैमासिक पत्रिका टीकमगढ़ से प्रकाशित होने लगी है जिसमें बुन्देलखण्डी जनता के **'रहन-सहन, रीति-रिवाजों, उत्सवों, धार्मिक-विश्वासों, और संस्कारों** तथा **लोक-साहित्य और लोक-कलाओं का अध्ययन' रहता है।** बुन्देली जनपद के अधिकांश कार्यकर्त्ता और साहित्य-सेवी **राहुलजी** की विचारधारा से सहानुभूति रखते हैं।

(४) **कनौजी**--**ब्रजभाषा और अवधी** के क्षेत्रों के बीच में **कनौजी** बोली जाती है। "कनौजी का केन्द्र **फर्रुखाबाद** है किन्तु यह **हरदोई, शाहजहाँपुर** तथा **पीलीभीत** तक और दक्षिण में **इटावा** तथा **कानपुर** के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कनौजी के बोलने वालों की संख्या पैंतालीस लाख है।" भाषा-शास्त्री कनौजी को ब्रजभाषा का ही एक उपरूप मानते हैं और उसे स्वतन्त्र बोली भी मानने को तैयार नहीं हैं। जो भी हो, कनौजी में अपना साहित्य नहीं है और न कनौजी में जनपद-चेतना ही है कि उसका कोई पृथक् अस्तित्व ऊपर उभर कर सामने आये।

(५) **खड़ी बोली**--**खड़ी बोली** जिसका साहित्यिक रूप आज **हिन्दी** और **उर्दू** के नाम से विख्यात है **'पश्चिमी रुहेलखण्ड, गंगा के उत्तरी दोआबा** तथा **अम्बाला जिले की बोली है।'** इसके बोलने वालों की संख्या लगभग साठ लाख है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रदेश की ग्रामीण खड़ी बोली में **फारसी-अरबी** के शब्दों का हिन्दी-समुदाय की अन्य बोलियों की अपेक्षा बहुत अधिक समावेश है। परन्तु ये शब्द शुद्ध तत्सम रूप में कम प्रयुक्त होते हैं। ग्रामीण खड़ी बोली के साथ वे अर्धतत्सम अथवा तद्भव रूप में घुलमिल गए हैं। उन्हीं को तत्सम बनाने में खड़ी बोली **उर्दू** बन जाती है। इसका कारण यह है कि खड़ी बोली का क्षेत्र मुस्लिम शासन के केन्द्र **दिल्ली** के निकट रहा है, अतः उस पर मुस्लिम-प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ा। आज जो **संस्कृत-प्रधान** रूप साहित्यिक खड़ी बोली का है, वह ग्रामीण बोली से बहुत दूर हटा हुआ है।

साहित्यिक खड़ी बोली **'हिन्दी'** या **उर्दू** के नाम से आज हिन्दी-समुदाय की आठ बोलियों के क्षेत्र में ही नहीं वरन् अ-हिन्दी भाषाओं, जैसे राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी भाषाओं के क्षेत्रों तथा पंजाबी के क्षेत्र में भी साहित्यिक भाषा बनी हुई है एवं प्राथमिक शिक्षा का माध्यम है।

हिन्दी-समुदाय की आठ बोलियों की स्थिति का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट है कि खड़ी बोली के अतिरिक्त और जो सात बोलियाँ हैं वे भाषा-शास्त्र की दृष्टि से किसी भी प्रकार **खड़ी बोली की बोलियाँ** नहीं कही जा सकतीं, **वे स्वतन्त्र बोलियाँ** हैं, जिस प्रकार **खड़ी बोली एक स्वतन्त्र बोली** है। केवल एक दूसरे के काफ़ी निकट होने के कारण ही इन

सब बोलियों को अलग-अलग भाषाएँ न मानकर उनके समूह को **'पश्चिमी'** और **'पूर्वी' हिन्दी** का नाम दिया जाता है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य भाषाशास्त्री इन बोलियों के इतिहास का उल्लेख करते हुए जब यह कहते हैं कि इनमें से कभी **ब्रजभाषा** साहित्य की भाषा के स्थान पर आसीन थी तो अब **खड़ी बोली** उस स्थान को सुशोभित कर रही है और इस परिवर्तन को ब्रज तथा अन्य बोलियों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है, तो वे इतिहास का ग़लत विवेचन हमारे सामने रखते हैं। किसी आन्तरिक वैशिष्ट्य के बल पर अथवा अन्य बोलियों के जनपदों की सर्वसम्मति से कोई बोली साहित्यिक भाषा के पद पर पहुँची हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। इसमें बाहरी और राजकीय प्रभाव ही निर्णायक रहे हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा या अन्य लोग इस तथ्य को स्वीकार करके यह निष्कर्ष निकालने में हिचकिचाते हैं कि चूँकि पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ, स्वतन्त्र बोलियाँ हैं, और खड़ी बोली के पूर्व ब्रज भी साहित्य की भाषा रह चुकी है, अतः सम्भव है कि जनपद-चेतना उत्पन्न होने के पश्चात् इन सभी बोलियों में पुनः साहित्य की भाषा बनने की इच्छा प्रबल हो उठे, केवल इस बार ऐसा न होगा कि एक साहित्य की भाषा बनकर दूसरी भाषाओं के क्षेत्र में भी राज्य करने लगे; ऐसी साम्राज्य-कामना से प्रेरित उनकी इच्छा न होगी, बल्कि इस बार वे स्वयं अपने घर की रानी बनने का दावा करेंगी और इस दावे को वे पूरा भी करा सकेंगी, क्योंकि ये बोलियाँ आत्मनिर्भर हो सकती हैं। वे खड़ी बोली की दूध पीती बेटियाँ नहीं हैं बल्कि वयस-प्राप्त बहनें हैं और स्वयं अपनी गृहस्थी बसाने का निश्चय कर सकती हैं। यदि ऐसा हुआ और बुन्देली, बघेली, ब्रज आदि भाषा-क्षेत्रों के जनपद आन्दोलन हमें ऐसा होने का संकेत दे रहे हैं तो फिर खड़ी बोली को अपने साम्राज्य का पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र में भी विघटन करके अपने जनपद से ही सन्तोष करना पड़ेगा! भविष्य पुराने इतिहास की ही लकीर नहीं पीटेगा—इतिहास के क्षितिज पर नयी शक्तियों, नये विचारों, नये नैतिक-सम्बन्धों का उदय हो गया है जिनके आलोक में नहा कर हमारा नव-संस्कार हो रहा है।

उक्त विवेचन में हमने भाषा-शास्त्र की मान्य सीमाओं के अन्दर ही अपने को सीमित रखकर **'हिन्दी-साम्राज्य'** के विभिन्न **'भाषा-उपनिवेशों'** की आन्तरिक परिस्थितियों पर दृष्टि डाली है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का सुझाव मानकर हमने राहुलजी की तरह अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन करने का प्रयत्न नहीं किया है और न उनकी तरह अनेक छोटे जनपदों की बोलियों को स्वतन्त्र भाषाएँ मानकर (जैसे पंचाली, वात्सी, चेदिका, काशिका, वज्जिका, अंगिका आदि) मातृभाषाओं के प्रश्न को और भी जटिल बनाने की चेष्टा की है, परन्तु इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि हिन्दी का वर्तमान साम्राज्य **'ताश के घर'** से अधिक मज़बूत नहीं है, क्योंकि जिस आधार पर वह टिका है वह आधार समानता, स्वतन्त्रता और न्याय का नहीं है वरन् राजकीय प्रोत्साहन, पक्षपात, और अन्यान्य भाषाओं के असमान विकास अथवा पिछड़ेपन के कारण ही यह **'ताश का घर'** खड़ा हुआ है। राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी पहले हिन्दी को ही आगे बढ़ाया, परन्तु राष्ट्रीय

आन्दोलन से ही अब अन्य भाषाएँ भी प्रेरणा ले रही हैं और यदि वर्तमान आधार को हटाकर न्याय, समानता और स्वतन्त्रता का नया आधार न प्रदान किया गया तो भारत के स्वतंत्र होने पर हिन्दी के साम्राज्य को ढहते देर न लगेगी। यह बड़ी द्वन्द्वमूलक परिस्थिति है और हमारे विचारकों को जनपदीय समस्या पर अपने विचार प्रकट करते समय अपने शब्दों के अर्थारोपों पर खूब विचार करके देख लेना चाहिए कि कहीं वे जो कुछ कह रहे हैं वह वास्तव में हिन्दी-क्षेत्रों के करोड़ों नर-नारियों की सांस्कृतिक (तथा राजनीतिक) गुलामी का चार्टर तो नहीं है। हिन्दी का हित और जनपदीय भाषाओं का हित दो विरोधी स्वार्थ नहीं है, जिनमें सामंजस्य सम्भव ही न हो। जो इस दृष्टि से देखने के आदी हैं वे लाख चेष्टा करने पर भी जनता के हित में नहीं सोच सकते।

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के सुझाव

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने पक्षपात रहित दृष्टि से मातृभाषाओं के प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने मातृभाषाओं को या घरेलू बोलियों को शिक्षा, साहित्य तथा बाहरी जीवन की भाषा के पद पर उन्नति करने का निर्णय करने के पूर्व छ: विषयों पर ध्यान देने की सम्मति दी है। (१) **व्याकरण या भाषा-तत्त्व,** (२) **भाव-प्रवणता,** (३) **आवश्यकता,** (४) **सम्भाव्यता,** (५) **सामाजिक योग-सूत्र** और (६) **प्रवृत्ति।**

(१) **व्याकरण या भाषा-तत्त्व**—अर्थात् भाषा-तात्त्विक दृष्टि से पृथक् भाषा होना। (२) **भावप्रवणता**—अर्थात् बोलने वालों में अपनी भाषा के प्रति पर्याप्त ममता-बोध होना। (३) **आवश्यकता**—अर्थात् जो साहित्य या शिक्षा का माध्यम अब चालू है उसे अपनाने में अनपढ़ लोगों को तकलीफ होती है, लोग उसे दिक्कत समझते हैं। (४) **सम्भाव्यता**—अर्थात् कहाँ तक मातृभाषा की साहित्यिक स्थापना सम्भव है, उसमें प्राचीन साहित्य है अथवा नहीं; यदि साहित्य है तो जागृति आसानी से सम्भव होगी, यदि नहीं तो कठिनाई होगी। (५) **सामाजिक योग-सूत्र**—अर्थात् ऐतिहासिक और सामाजिक योग के फलस्वरूप वह किसी अन्य भाषा की उपभाषा तो नहीं बन गई है। (६) **प्रवृत्ति**—अर्थात् बोलने वालों में स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है अथवा मिलन-बोध। यदि स्वातन्त्र्य-बोध अधिक है तो उपभाषाएँ तक भाषा तात्त्विक भेद न होने पर भी स्वतन्त्र भाषा होने का प्रयत्न करेंगी और यदि मिलन-बोध अधिक है तो स्वतन्त्र भाषा भी किसी अन्य भाषा का एकाधिपत्य स्वीकार कर सकती है, जैसे प्राचीनकाल में संस्कृत का।

किसी भाषा के भाग्य का निर्णय करने में डॉक्टर चटर्जी के बताये हुए सुझाव उपयोगी हो सकते हैं, परन्तु इन सुझावों में दो-एक बातें ऐसी संदिग्ध रह जाती हैं जिनके कारण परस्पर-विरोधी विचारों से प्रेरित व्यक्ति उनकी व्याख्या अपने-अपने अनुकूल कर सकते हैं। **भाषा-तत्त्व** की कसौटी तो वैज्ञानिक है और उसमें खेंचातानी की ज्यादा गुँजाइश नहीं है, परन्तु **भाव-प्रवणता, आवश्यकता, सम्भाव्यता, सामाजिक-योगसूत्र** और **प्रवृत्ति** का स्थायी रूप से निर्णय करना असम्भव है। ऐतिहासिक कारणों से भाषाओं का असमान विकास हुआ है। अतः वर्तमान को ही उनकी चिरंतन स्थिति मानकर कोई निर्णय

कर लेना ग़लत होगा, क्योंकि **सामाजिक योग-सूत्र** और **प्रवृत्ति** किसी भी समय बदल सकती हैं। फिर किसी भाषा की **सम्भाव्यता** के बारे में भविष्यवाणी करके यह कहना कि चूंकि उसमें प्राचीन साहित्य नहीं है, अतएव उसकी साहित्यिक स्थापना नहीं हो सकती, उसको बोलनेवाली जाति के भावी विकास की सम्भावनाओं को ही नकारना है। वस्तुत: ऐसी कोई भाषा नहीं है—चाहे उसकी अभी तक लिपि भी न बनी हो—जिसमें लोक-गीतों और लोक-वार्ताओं का सजीव प्राणवान् साहित्य न हो। मनुष्य अपनी अर्ध-सभ्य अवस्था में भी जैसा कुछ सोचता और अनुभव करता है उसको और अपने भावों को अभिव्यक्ति देने की सतत् चेष्टा करता रहता है। उसमें संवेदन और अनुभूतियों की जागृति अक्षर-ज्ञान के उपरान्त ही नहीं पैदा होती। इस प्रकार प्रत्येक जाति के पास अज्ञात कवियों और कथाकारों-द्वारा रचित लोक-साहित्य की अक्षय पूँजी है और किसी भी जाति की विशिष्ट प्रतिभा की विकास-संभावनाएँ जाँचने के लिए इस पूँजी की ओर देखना चाहिए न कि केवल ज्ञातनामा कवियों और लेखकों की कागज़ पर लिखी कृतियों की ओर। इससे हमारे अन्दर प्रत्येक भाषा और जाति के जीवित रहने की औचित्य भावना का उदय होगा और इससे हम श्रेष्ठ और निकृष्ट वर्गों में किये अवैज्ञानिक जाति-भेद की दलदल में गिरने से बचजायेंगे। **भावप्रवणता** और **आवश्यकता** का निर्णय तो तभी हो सकता है जब प्रत्येक भाषा और जाति का ऐतिहासिक विकास समान रूप से हुआ हो, और उसको अपने आत्म-विकास की समान सुविधाएँ प्राप्त हों, वह पूर्ण रूप से स्वाधीन हो, ताकि कोई प्रचार की आँधी चला कर उसके **ममता-बोध** को धूल से न ढँकदे। आज की परिस्थिति में ऐसा असम्भव है। राष्ट्रीय जागरण भी सर्वत्र समान रूप से नहीं हुआ है। कोई जाति पहले जागृत होकर आगे बढ़ गयी, कोई बाद में जागृत होकर मध्य में पड़ी है, और कोई अभी बिल्कुल अन्धकार में डूबी है और कहीं भविष्य में ही उससे बाहर निकलकर अपने अस्तित्व की घोषणा कर पायेगी। ऐसी स्थिति में यदि डॉक्टर चटर्जी के बताये हुए नियमों का उदारतापूर्वक प्रयोग न किया गया, जिसकी सम्भावना ही अधिक है, तो फिर निरंकुशता की ही अन्तिम विजय होगी। डॉ० चटर्जी की इस कसौटी की सब से बड़ी कमी यह है कि वह वर्तमान स्थिति को ही थोड़ा-सा इधर-उधर उलट-फेर कर क़ायम रखने तक सीमित है। कोई व्यापक विचारधारा अथवा सिद्धान्त उसके मूल में नहीं है जो आमूल ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलाफल का निर्णय कर सके। हमारी दृष्टि में भाषा-शास्त्रियों के सम्मुख यह प्रश्न नहीं है कि वे विभिन्न भाषाओं और इस प्रकार उनको बोलने वाली विभिन्न उन्नत-अनुन्नत जातियों के भाग्य-निर्णायक बन कर अपने बनाये नियमों के आधार पर किसी भाषा के जीवित रहने अथवा जीवित न रहने का फैसला करें—यह भाषा-शास्त्र की कार्य-सीमा से बाहर की बात है। भाषा शास्त्रियों का कर्तव्य केवल इतना है कि वे अपने देश की विभिन्न भाषाओं और भाषा-क्षेत्रों की खोज करके यह बताएँ कि तथोक्त भाषाओं की लिपि, व्याकरण साहित्य, शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ किस प्रकार हल की जा सकती हैं। प्रत्येक छोटी-बड़ी

भाषा को जीवित रहने और अपनी साहित्यिक स्थापना करने का अधिकार है, केवल इतना ही नहीं; जिनकी साहित्यिक स्थापना नहीं हुई है, उनकी साहित्यिक स्थापना में सक्रिय सहयोग देना भाषा-शास्त्रियों और उन्नत भाषाओं के साहित्य-सेवियों का जनवादी कर्तव्य है। अतः यदि भाषा-शास्त्री किसी बात के निर्णायक हो सकते हैं तो केवल इस बात के कि छोटी या अनुन्नत भाषा की शीघ्रातिशीघ्र साहित्यिक स्थापना किस विधि से की जाय कि वह निकट भविष्य में ही प्रारम्भिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की माध्यम बन सके।

तीन सिद्धान्त : तीन उद्देश्य

इतना तो निर्विवाद है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओं के स्वतंत्र विकास के पूर्ण समर्थक हैं और इसे वे राष्ट्र और हिन्दी की सांस्कृतिक उन्नति का एक मात्र मार्ग समझते हैं। परन्तु ऐसे कौन से सिद्धान्त हैं, कौन से उद्देश्य हैं जो प्रगतिवादियों की दृष्टि के सामने हिन्दी-क्षेत्रों की १६-२० भाषाओं के विकास की एक सुविशाल समन्वित तस्वीर खोल देते हैं? निश्चय ही अब हम उक्त रिपोर्ट के आधार पर इस विचारधारा, सिद्धान्त, उद्देश्य और कार्यक्रम की अविलम्ब स्थापना करके बहस के परिणामों को सूची-बद्ध कर सकते हैं।

प्रगतिवाद एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। सांस्कृतिक प्रश्नों पर उसके दृष्टिकोण की विधायक, मूलभूत विचारधारा को हम तीन सिद्धान्तों में बाँट सकते हैं:

(१) जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का सिद्धान्त;
(२) सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त; और
(३) प्रगतिवाद का सिद्धान्त।

जनपदीय भाषाओं का प्रश्न एक सांस्कृतिक प्रश्न है, अतः प्रगतिवाद की विचार-धारा के उपरोक्त तीनों सिद्धांत पृथक् और सम्मिलित रूप में इस प्रश्न का समाधान निर्दिष्ट करने में हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं और उसके लक्ष्य की रूप-रेखा भी स्थिर करते हैं। जनपदीय प्रश्न पर, हमारी सम्मति में, प्रगतिवाद के तीन उद्देश्य : कार्यक्रम हो सकते हैं—

(१) जन-भाषा;
(२) जन शिक्षा; और
(३) जन-साहित्य-संस्कृति।

ये सिद्धान्त और उद्देश्य मनुष्य की सहस्रों वर्ष की स्वातन्त्र्य कामना के प्रतीक हैं और सांस्कृतिक क्षेत्र में जनवाद की श्रेष्ठतम परम्परा का सूत्रपात करते हैं। जनपदीय भाषाओं के विरोधियों से हमारा अनुरोध है कि वे भी एक बार निष्पक्ष भाव से इन सिद्धान्तों और उद्देश्यों पर विचार करें और इनके आलोक में अपना हृदय-मन्थन करके देखें।

१. जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का सिद्धान्त

जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की चर्चा अब हमारे देश में होने लगी है। विचारशील लोग इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि अपने देश की स्वाधीनता का व्यापक

आधार इस सिद्धान्त को ही बनाना अभीष्ट होगा। हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन न भी अब आंशिक रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। प्रगतिवादियों के निकट जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का समाधान इस सिद्धान्त का आधार लिए बिना असम्भव होगा। जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति का लक्ष्य उस समय तक आकाश कुसुम बना रहेगा जब तक कि इस सिद्धान्त पर अमल न किया जायगा।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लौर राहुलजी ने मातृभाषाओं को उनके जनपदों से सम्बद्ध किया है। डॉ० अग्रवाल ने जनपद का अर्थ केवल 'ग्रामों का समूह' ही बताया है। परन्तु ऐतिहासिक अर्थ में भी केवल 'ग्रामों का समूह' बिना आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन की इकाई हुए अपने पृथक् जनपद-अस्तित्व का औचित्य नहीं रख सकता था। विभिन्न ग्राम-समूहों का विशिष्ट जनपद-नामकरण तभी हुआ होगा जब उनका विशिष्ट जातीय जीवन रहा होगा। जनपद शब्द की प्राचीनता और उपयुक्तता के कारण प्रगतिवादी 'जनपद' शब्द का आज भी प्रयोग करना वांछनीय और श्लाघ्य समझते हैं। परन्तु वे 'जनपद' शब्द के अर्थों को संदिग्ध और अनिश्चित न छोड़कर उसकी एक निश्चित आधुनिक परिभाषा देना आवश्यक समझते हैं ताकि लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ न लगाते जायँ। प्रगतिवादियों के अनुसार **'जनपद' एक ऐसा भू-खंड है जिस पर बसने वालों की एक ही भाषा हो, एक ऐतिहासिक परम्परा हो, एक संस्कृति हो और एक आर्थिक-सामाजिक जीवन हो, रहा हो या भविष्य में भी हो सकता हो—अर्थात् वह जन-समुदाय एक विशिष्ट जाति हो।**

अतएव भाषा, इतिहास, संस्कृति और आर्थिक जीवन की एकता के आधार पर फिर से प्रादेशिक विभाजन का प्रश्न उठेगा कि इन मातृभाषाओं का पृथक्-पृथक् क्षेत्र कहाँ से कहाँ तक समझा जाय। जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर ही इस प्रकार के भाषा-मूलक जनपदों में मध्यदेश का पुनः क्षेत्र विभाजन प्रतिपादित किया जा सकता है। अपने-अपने क्षेत्रों में ये भाषा-जनपद एक संघ-शासन के अन्तर्गत अपना राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन सङ्गठित करने के लिए स्वतन्त्र हों, इसकी अनिवार्यता भी स्वीकार की जा सकती है। परन्तु मध्यदेश के ये पृथक् भाषा-जनपद अलग-अलग राज्य होंगे, अथवा एक विशाल मध्यदेशीय संयुक्त राज्य की विभिन्न स्वायत्त शासन-प्राप्त इकाइयों के रूप में रहेंगे, यह एक राजनीतिक प्रश्न है और उस पर कोई मत प्रकट करना हम अनपेक्षित समझते हैं। इन क्षेत्रों की जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि ही इसका निर्णय कर सकेंगे। सांस्कृतिक दृष्टि से हम केवल इतना ही प्रस्ताव कर सकते हैं कि भाषागत आधार पर मध्यदेश का प्रादेशिक विभाजन किया जाय। कदाचित् यह तभी संभव होगा जब भारत स्वतन्त्र हो और कोई सरकारी कमीशन पुनः समूचे मध्यदेश (तथा अखिल भारतवर्ष) के भाषा-क्षेत्रों का निर्णय करने के लिए भौगोलिक जाँच या सर्वे करे और तदन्तर क्षेत्र विभाजन किया जाय। कमीशन के बिना इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु तब तक के लिए ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक

सर्वे ऑफ इण्डिया' (Linguistic Survey of India) में निर्दिष्ट भाषा-क्षेत्रों को ही स्वीकर करके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने विधान में मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी, मैथिली, मगही, भोजपुरी, नेपाली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, पश्चिमी पहाड़ी (जौनसारी, क्योंथली, कुलुई, चम्बाली आदि), कोसली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, बुन्देली, कनौजी, बाँगरू और खड़ी बोली के १९ भाषा-क्षेत्रों के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करले और इन भाषा-जनपदों के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए प्रतिनिधि चुने जाने का नियम बनावे। इस प्रकार का क्षेत्र-विभाजन सम्मेलन और इन भाषा-जनपदों, दोनों के लिए सुविधाजनक होगा। इन जनपदों की विशिष्ट परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के अनुसार राष्ट्रभाषा-प्रचार का प्रबन्ध करना अधिक सुगम होगा और जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य के उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए विशेष सहयोग जुटाना भी सम्भव होगा।

अन्त में, भाव-प्रवणता, आवश्यकता, सम्भाव्यता और प्रवृत्ति को कसौटी मानकर जो कठिनाइयाँ उपस्थित होतीं, जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार को मान लेने से वे कठिनाइयाँ भी नहीं उठेंगी। किस जनपद की भाषा को जीवित रहने का अधिकार है, किसको नहीं, इस प्रकार के जनवाद-विरोधी विवाद की कटुता और गन्दगी से बचाव करने का यही एक मात्र उपाय है। तब ऐसी दुर्भावनाओं को पनपने का अवसर ही नहीं मिलेगा कि एक दल उठकर कहे कि अमुक भाषा को जीवित रहने का अधिकार नहीं है, और न तब इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया को ही सिर उठाने का मौक़ा मिलेगा। प्रत्युत एक जन-वादी औदार्य से हम प्रत्येक उन्नत-अनुन्नत भाषा को पनपने और अपनी साहित्यिक स्थापना करने का अवसर देंगे। आत्म-निर्णय के अधिकार का सिद्धान्त जातियों के भाई-चारे का पुनीत सिद्धान्त है।

२. सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त

जातियों से आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के समान ही सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त भी अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। इसके दो पक्ष हैं। इस सिद्धान्त को मानकर ही राष्ट्रीय कॉंग्रेस ने 'अल्पसंख्यक जातियों और विभिन्न भाषा क्षेत्रों को संस्कृति-भाषा और लिपि की सुरक्षा' का दायित्व अपने ऊपर लिया है। जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस सिद्धान्त को स्वीकार करना अनिवार्य है, कदाचित् इतना तो स्पष्ट हो चुका होगा। विभिन्न भाषा-जनपदों को यदि अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्ण सांस्कृतिक स्वाधीनता न हुई तो वे कभी उन्नति न कर सकेंगे, यह भी असंदिग्ध है। सांस्कृतिक स्वाधीनता के अर्थ हैं कि वे कचहरियों में, राजकीय व्यवहार में, शिक्षालयों में और सांस्कृतिक आयोजनों में—जैसे रेडियो, सिनेमा, थियेटर आदि में—अपनी भाषा का प्रयोग करने को पूर्ण स्वतन्त्र हों। यदि उन्हें यह स्वतन्त्रता न मिली तो मातृभाषाएँ उपेक्षित ही बनी रहेंगी और विद्वानों के निकट पुरातत्त्व की दृष्टि से ही महत्त्व रखेंगी। राष्ट्र-

भाषा हिन्दी को ही तब अखण्ड भाषा के उन्माद में इन जनपदों की मातृभाषा बनाने का प्रयत्न होगा और इस प्रकार जो आज 'भाषाओं का विशाल कारागार' है, भविष्य में भी अक्षुण्ण बना रहेगा और जनता को कभी सौ फ़ीसदी शिक्षित न बनाया जा सकेगा। उदारचेता विचारक शिक्षा-प्रसार की योजनाएँ बनाते रहेंगे, पर वे योजनाएँ कभी सफल न हो सकेंगी। दूसरी ओर हिन्दी साम्राज्य स्थापित करने का उन्माद इस सीमा तक भी पहुँच जाने की सम्भावना है कि जब इन भाषा जनपदों की जातीय विशिष्टताओं को नष्ट करने की खुलेआम घोषणाएँ की जाने लगें और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हो कि घोर प्रतिक्रिया की गोद में इन जनपदों की जातीय चेतना जागे और वहाँ की प्रतिगामी, सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियाँ, जनपदों की आत्मनिर्णय के अधिकार और सांस्कृतिक स्वाधीनता की न्यायोचित भावना को अत्यन्त संकीर्ण पृथकत्व की भावना में परिणत करने में समर्थ हो जायँ और इस प्रकार हिन्दी और इन मातृभाषाओं में स्थायी विग्रह के बीज उगने लगें। ऐसी स्थिति में जन-साहित्य के स्थान पर ऐसे साहित्य की रचना की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़े जिसमें अपनी-अपनी जनपदीय संस्कृति और इतिहास को मिथ्या गौरव में अतिरञ्जित किया जाय और एक वैज्ञानिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण के स्थान पर अंध-विश्वास, मिथ्याभिमान और जातीय अवसरवाद साहित्य और संस्कृति का आधेय बन जाय। साहित्य-सम्मेलन और उसके अनेक कार्यकर्त्ताओं ने अब तक जिस संकीर्ण मनो-वृत्ति का परिचय दिया है, उसने वातावरण को काफी विषैला बनाया है परन्तु फिर भी जनपदीय कार्यकर्त्ताओं ने असाधारण धैर्य और संयम दिखाया है। सम्मेलन के विचारक और कार्यकर्त्ता यदि इतिहास की साक्षी से इस तथ्य को हृदयंगम करलें कि सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना देश की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक प्रगति नहीं हो सकती, तो विग्रह के बीज को कभी उर्वर धरती न मिले।

परन्तु साथ ही भाषा-जनपदों के कार्यकर्त्ताओं को भी सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्त के व्यापक अर्थों को समझ कर अपनी चेतना का नया संस्कार करना होगा। जिस भाषागत तथा भौगोलिक एकता अथवा अखंडता के आधार पर जातियों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है, वह आधार भी सर्वथा अविभाज्य और अवंचक नहीं है। प्रत्येक जनपद में अनेक ऐसे छोटे-छोटे जनसमूह बसते हैं जिनका धर्म, भाषा, सांस्कृतिक-स्तर, रीति-रिवाज, रूढ़ि-परम्पराएँ, रहन-सहन अपने जनपद-विशेष की भाषा, जाति और इति-हास-परम्परा से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिए हिन्दी क्षेत्रों के समस्त जनपदों में मुसलमान काफ़ी संख्या में बसते हैं, और वे अपनी मातृभाषा उर्दू बता सकते हैं—कम-से-कम नगरों के मुसलमानों की मातृभाषा तो उर्दू ही है। दफ़्तरों में अथवा उद्योग-धंधों में पंजाबी, गुजराती, मद्रासी, बंगाली, बिहारी, मराठी आदि अनेक जातियों के लोग प्रत्येक भाषा-जनपद के क्षेत्र में लगे हुए हैं और वे अपने परिवारों के साथ वहाँ बसते हैं। सम्भव है, अनेक जनपदों में हबूड़ी भाषा को बोलनेवाली डोम और जिप्सी जातियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी हों। ऐसी स्थिति में आत्मनिर्णय का अधिकार और सांस्कृतिक स्वाधीनता पाने का

यह अर्थ नहीं होगा कि हठपूर्वक यह कहा जाय कि किसी भाषा-जनपद विशेष की सीमा में केवल उस जनपद की भाषा ही शिक्षा का माध्यम होगी, उसी का एकच्छत्र राज्य होगा और बाहर से आकर बसी हुई विभिन्न अल्प-संख्यक जातियों को उनकी अपनी मातृभाषाओं में शिक्षा नहीं दी जायगी। ऐसा सोचना साहित्य सम्मेलन के तर्क को ही अपना लेना होगा। जन-शिक्षा की योजना बनाते समय प्रत्येक भाषा-जनपद को स्वयं अपने जनपद की विस्तृत सर्वे करनी पड़ेगी और यह देखना होगा कि किन-किन स्थानों पर, नगरों में अथवा ग्रामों में किसी अन्य मातृभाषा के बोलनेवाले कम-से-कम इतनी संख्या में रहते हैं कि उनके लिए उनकी भाषा में प्राथमिक और यदि आवश्यक हो तो पृथक् ही माध्यमिक अथवा उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाय। किसी छोटी-से-छोटी, यत्र-तत्र बिखरी अथवा खाना-बदोशों का जीवन व्यतीत करने वाली जाति से भी उसकी मातृभाषा को छुड़ाने का प्रयत्न जनवाद और सांस्कृतिक स्वाधीनता के सिद्धान्तों के मूल पर आघात करेगा, इस सत्य को भाषा-जनपदों के कार्यकर्त्ताओं को हृदयंगम कर लेना चाहिए। वैज्ञानिक नृशास्त्र उच्च और निम्न—इस प्रकार का फ़ासिस्ती जातिभेद नहीं स्वीकार करता, अतः केवल संख्या की अल्पता अथवा विजातीयता के कारण किसी भी जाति या भाषा समूह को सांस्कृतिक स्वाधीनता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सांस्कृतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त विभिन्न भाषाओं और संस्कृतिओं में परस्पर समानता और आदर-भाव स्थापित करने का उदार सिद्धान्त है।

३. प्रगतिवाद का सिद्धान्त

भाषा-जनपदों में जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति के निर्माण में प्रगतिवाद का सिद्धान्त प्रेरक-शक्ति और पथ-प्रदर्शक के रूप में क्यों अभिप्रेत है, इसका उत्तर सरल है। प्रगतिवाद एक वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोण है। प्रत्येक भाषा-जनपद के कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख यह प्रश्न उठेगा अथवा उठना चाहिए कि उनके जनपद की भाषा की साहित्यिक स्थापना, उनके जनपद में सार्वजनीन शिक्षा का प्रबन्ध और उनके जन-पदीय साहित्य-संस्कृति के निर्माण का कार्य अनियमित-अनियन्त्रित-अराजक गति से आगे बढ़े अथवा किसी व्यापक, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर योजनानुसार सङ्गठित किया जाय, ताकि अल्प-से-अल्प काल में ही उनकी भाषा यथेष्ट उन्नति कर जाय, शिक्षा का प्रसार अपूर्व गति से आगे बढ़ जाय और साहित्य-संस्कृति आधुनिक और शक्तिशाली हो जाय। हमारा दृढ़ मत है कि पहला मार्ग जोखिम का है। भाषा-जनपदों की प्रगति को अवसर पर छोड़ देना हानिकर भी हो सकता है और जटिल समस्याएँ भी पैदा कर सकता है; फिर, ऐसे अनेक पिछड़े जनपद हैं जिनमें प्राचीन साहित्य नहीं है। अतः भाषा का साहित्यिक संस्कार करते समय किसी वैज्ञानिक, जनवादी दृष्टिकोण के अभाव में बहुत संभव है कि यह प्रवृत्ति ज़ोर पकड़े कि साहित्य की भाषा को बोलचाल की भाषा से एक-दम भिन्न रूप देने की चेष्टा की जाय, और इससे भाषा कृत्रिम बन जाय। संभव है, शिक्षा-

प्रणाली, पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्य-क्रम को ऐसा बनाने की प्रवृत्ति हो जो पुरानी लकीरों को ही पीटता है और जनता को कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक और उच्च-कोटि का ज्ञान देने की दृष्टि से न बनाया जाय। इससे अनुन्नत जनता दक़ियानूसी अवैज्ञानिक विचार पद्धति को पकड़े रहे। संभव है साहित्य और संस्कृति का निर्माण ऐसा हो जिसमें जर्जर, रूढ़ परम्पराओं, हानिकर रस्मरिवाजों और अन्ध-विश्वासों को ही अपने जनपद का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बनाकर मिथ्या गौरव से मण्डित किया जाय और प्राचीन रूप-विधानों में नयी, आधुनिक वस्तु न देकर पुरानी दक़ियानूसी वस्तु ही दी जाय और इस प्रकार एक जनपद का सांस्कृतिक विकास टेढ़े-मेढ़े और उल्टे-सीधे मार्ग पकड़ ले। इस प्रकार अवसर पर छोड़ देने से प्रगति के मार्ग में जो अराजकता फैलेगी, उसमें श्रम-साधन का कितना अपव्यय होगा और उद्देश्य-सिद्धि में कितनी अप्रत्याशित बाधाएँ पड़ेंगी, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। अतएव प्रगतिवाद के व्यापक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर ही योजना बनाकर प्रत्येक जनपद को जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति के अभ्युत्थान का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस प्रकार प्रगतिवाद जातियों के सांस्कृतिक अभ्युदय का सबसे अधिक वैज्ञानिक और प्रशस्त मार्ग है।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का समाधान करते समय किसी भी अवस्था में संकीर्ण राष्ट्रीयता, संकीर्ण जातीयता और संकीर्ण सांस्कृतिक दृष्टिकोण को प्रश्रय नहीं देते।

इन तीन मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जनपदीय भाषाओं के लिए जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य-संस्कृति के जो महान् उद्देश्य प्रगतिवादी अपने समक्ष रखते हैं, उनकी पूर्ति से राष्ट्रभाषा हिन्दी की किसी भी प्रकार से हानि संभव नहीं है। प्रत्युत हमारा विचार है कि इससे राष्ट्रभाषा अधिक समृद्ध और समुन्नत ही होगी। अर्थात् राष्ट्र-भाषा और जनपदीय भाषाओं में प्रतियोगिता अथवा हित-वैषम्य का प्रश्न नहीं उठता। ऐसा प्रश्न तभी उठ सकता है जब सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर अनर्गल वादों-अपवादों का सहारा पकड़ा जाय।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य-संघ

उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जनपदीय भाषाओं के प्रश्न को विवाद के क्षेत्र से हटाकर कार्य के क्षेत्र में ले आया जाय। अर्थात् जनपदों को एक निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार संगठित किया जाय। विवाद तो चलते ही रहेंगे परन्तु जो उपरोक्त सिद्धान्तों को मानते हैं वे निष्क्रिय नहीं बैठ सकते, क्योंकि उनकी निष्क्रियता का अर्थ है मध्यदेश की सांस्कृतिक प्रगति के एकमात्र मार्ग के प्रति उदासीनता दिखाना। जिन जनपदों में आन्दोलन मुखर हो गया है उसको भी एक व्यापक आधार पर पुनः संगठित करने का प्रश्न है। अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न जनपदों में जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ

निर्विलम्ब स्थापित किये जायँ। 'प्रगतिशील' इसलिए कि जनपदीय साहित्य संघ अपने तीन सिद्धान्तों और तीन उद्देश्यों से कभी दूर न जा पड़ें अथवा उन्हें कभी विस्मृत न कर दें।

इन जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों में प्रत्येक भाषा जनपद के उन सभी लेखकों की, जो इस समय चाहे हिन्दी में ही क्यों न लिखते हों, उन सभी वैज्ञानिकों, इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों, ग्रामीण कवियों आदि को संगठित किया जाय जो उपरोक्त तीन सिद्धान्तों और तीन उद्देश्यों को स्वीकार करते हैं।

भाषा-जनपदों का वर्गीकरण

ऊपर दिये गये विवरण से यह विदित हो चुका है कि मध्यदेश के सभी जनपदों का समान विकास नहीं हुआ है; कुछ भाषा, साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से अधिक उन्नत हैं, कुछ बहुत पिछड़े हुए। कुछ जनपदों की जनसंख्या योरप के कतिपय राष्ट्रों के बराबर है और कुछ की जनसंख्या बहुत कम है, जैसे पूर्वी और पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं के जनपदों की। ऐसी स्थिति में सभी जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों का न एक ही कार्यक्रम सम्भव है और न उनकी तात्कालिक माँगें ही एक हो सकती हैं। विभिन्न जनपदों की भाषा और उनके साहित्य की वर्तमान अवस्था के आधार पर मध्यदेशीय जनपदों का तीन भागों में वर्गीकरण करना सुविधाजनक होगा।

(१) मेवाती, मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी, मैथिली, भोजपुरी, कोसली, बुन्देली और व्रज भाषाओं के जनपद। इन जनपदीय भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या भी बड़ी है और उनमें पुराना साहित्य भी मिलता है। अतः थोड़े प्रयत्न के पश्चात् ही इन भाषाओं और बोलियों को अपने-अपने क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा (हाईस्कूल तक) का माध्यम बनाया जा सकता है।

(२) मगही, बघेली, छत्तीसगढ़ी, कनौजी, बाँगरू, कुमाऊँनी, गढ़वाली भाषाओं के जनपद। जनसंख्या की दृष्टि से इनमें से पहली पाँच भाषाएँ बड़ी भाषाएँ हैं, तथापि उनमें प्राचीन साहित्य का अभाव है, अतः उनमें उच्चकोटि का साहित्य उत्पन्न करने में समय लगेगा। इन भाषाओं को थोड़े प्रयत्न से अभी केवल प्राथमिक शिक्षा (छठे दर्जे तक) का ही माध्यम बनाया जा सकेगा।

(३) जौनसारी, क्योंथली, कूलुई और चंबाली भाषाओं के जनपद। इन भाषाओं को बोलनेवालों की संख्या भी थोड़ी है और ये भाषाएँ बहुत पिछड़ी हुई हैं, अतः उनको नागरी तथा चंबाली की जगह पर देवनागरी लिपि में लिखने का प्रबन्ध करने तथा पाठ्य-पुस्तकें आदि तैयार करने में समय लगेगा। प्रारम्भिक प्रयत्न के पश्चात् ही इन भाषाओं को वर्णमाला सिखाने का माध्यम बनाया जा सकता है, अर्थात् उनमें प्रारंभिक शिक्षा (तीसरे दर्जे तक) दी जा सकती है।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों का कार्यक्रम

अपने-अपने भाषा-क्षेत्रों में जन-भाषा, जन-शिक्षा और जन-साहित्य का निर्माण

ग्रौर प्रसार करने के लिए जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों को उपरोक्त वर्गीकरण को ध्यान में रखकर ही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए। ज्यों-ज्यों उनका तात्कालिक कार्यक्रम पूरा हो जाय, तीसरे वर्ग के जनपद दूसरे वर्ग के कार्यक्रम को अपना सकते हैं, दूसरे वर्ग के जनपद अपनी भाषाओं में उच्चशिक्षा दी जाने की माँग कर सकते हैं। निश्चय ही सारा कार्य अविराम निर्माण का कार्य है, केवल प्रचार का नहीं। विभिन्न जनपदों में जन-भाषाओं का साहित्यिक संस्कार कैसा होगा, जन-शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम और शिक्षा-पद्धति कैसी होगी, जन-साहित्य के निर्माण की योजना प्रारम्भ में किन अङ्गों की समृद्धि पर विशेष ज़ोर देगी आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनका निर्णय विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ स्वयं ही करेंगे। हम यहाँ पर प्रस्तावित साहित्य संघों के लिए कोई विस्तृत कार्य-योजना नहीं बना सकते, केवल कतिपय साधारण सुझाव रख सकते हैं जिन्हें केवल विस्तृत योजना का आधार बनाया जा सकता है :

जन-भाषा

(१) जनपदीय भाषाओं का साहित्यिक रूप स्थिर करने और उनकी प्रकृत-शक्ति का पूर्ण विकास करने के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद-योजना के अनुसार कार्य करना। भेद केवल इतना रहे कि वैज्ञानिक खोज और संग्रह के उपरान्त जो अध्ययन प्रस्तुत किये जायँ, वे यथा-संभव जनपदीय भाषाओं में ही हों। इसके लिए व्याकरण, साहित्य भूगोल, इतिहास और विज्ञान आदि की परिषदें स्थापित की जायँ और गद्य और पद्य की आधुनिक शैलियों का प्रयोग जनपदीय भाषाओं में सिखाया जाय।

(२) जनपदीय भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में (उपरोक्त वर्गीकरण के आधार पर) प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए आन्दोलन करना।

जन-शिक्षा

(१) शिक्षा की दृष्टि से उन्नत देशों की शिक्षा-पद्धतियों का विस्तृत अध्ययन करके अपनी-अपनी जनपदीय भाषा की स्थिति के अनुसार समूची जनता को प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक शिक्षा देने के लिए शिक्षा-प्रणाली का निर्णय करना और व्यापक कार्य-योजना बनाना।

(२) विभिन्न परिषदों द्वारा शिक्षण-योजना को कार्यान्वित करने के लिए ऐसी वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों की रचना जो संक्षेप में सरलतापूर्वक अधिक ज्ञान प्रदान कर सकें।

(३) जनपदीय भाषाओं में प्रारम्भिक, प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्टेज तक की परीक्षाएँ चालू करना और उनका व्यापक प्रचार करना। इनके ऊपर की शिक्षा के लिए जब तक जनपदीय भाषाएँ स्वयं सम्पन्न न हो जायँ, हिन्दी-माध्यम को प्रोत्साहन देना।

जन-साहित्य

(१) काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के रूप मे मौलिक-साहित्य की रचना के लिए जनपदीय कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन देना।

(२) विज्ञान और समाजशास्त्र के विभिन्न अंगों की समृद्धि के लिए परिषदों द्वारा ग्रन्थों का निर्माण कराना। जहाँ तक सम्भव हो हिन्दी में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को ही ग्रहण किया जाय।

(३) एक व्यापक योजना के अनुसार अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओं के उच्च-कोटि के उपन्यास और नाट्य-साहित्य तथा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय साहित्य के प्रामाणिक अविकल अनुवादों का प्रबन्ध करना।

(४) उक्त साहित्य के लिए प्रेस और प्रकाशन की सुविधाएँ जुटाना, तथा जनपदीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करना।

जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघ और हिन्दी साहित्य सम्मेलन

उपरोक्त विवेचन में यद्यपि हम जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के परस्पर सम्बन्ध के बारे में एक-आध बार संकेत कर चुके हैं, परन्तु फिर भी सम्भव है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वर्तमान कार्यकर्त्ताओं और विशेषकर जनपद आन्दोलन के विरोधियों के मन में अब भी शंकाएँ हों। इसके अतिरिक्त स्वयं जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों के प्रतिनिधि साहित्य-सम्मेलन की विरोधी नीति से क्षुब्ध होकर उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना ही आवश्यक समझ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जब बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि आर्य और द्राविड़ भाषाओं के साहित्य-संघ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से संबद्ध नहीं हैं तो जनपदीय प्रगतिशील साहित्य-संघों को इससे क्यों संबद्ध होना चाहिए? जनपदीय भाषाएँ भी स्वतन्त्र हैं और उन्हें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना चाहिए।

यहाँ पर हम केवल प्रगतिवादियों की ओर से कुछ सुझाव पेश कर सकते हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय तो जनपदीय साहित्य-संघ ही करेंगे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से जनपदीय साहित्य-संघों का क्या और कैसा सम्बन्ध रहे इस प्रश्न पर प्रगतिवादियों को अभी से अपनी कार्य-नीति निर्धारित कर लेनी चाहिए। मेरी सम्मति से इस विषय में दो-तीन बातें विचारणीय हैं:

पहली बात—जनपदीय भाषाओं के विकास के विरोध में सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि इससे हिन्दी (साहित्यक खड़ी बोली) का अहित होगा। इस आशंका का निर्मूल करना जनपदीय भाषाओं के प्रतिनिधियों का कर्त्तव्य है, क्योंकि राजस्थानी, मैथिली और ब्रज आदि जनपदीय भाषाओं की प्राचीन साहित्यिक परम्परा का अपने को उत्तराधिकारी घोषित करके हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) ने समस्त मध्यदेश में साहित्यिक पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय जागरण की व्यापक नींव डाली है। जनपदीय भाषाओं की प्राचीन साहित्यिक

परम्पराओं का हिन्दी ने तिरस्कार करके फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के समय से अपनी कोई निराली संस्कृति और साहित्य-परम्परा बनाने की चेष्टा नहीं की, बल्कि उसने समूचे मध्य-देश के प्राचीन साहित्य की अटूट परम्परा को अपनाकर उसके प्रति अपना पूरा सम्मान दिखाया। इसी का परिणाम है कि आज मध्यदेश की अनेक जनपदीय भाषाएँ अपने प्राचीन साहित्य के गौरव से अपरिचित नहीं रहीं और वे अब पुनः नये जीवन के स्पन्दन का अनुभव करने लगी हैं। अतः अपने पुनर्जागरण के उषःकाल में जनपदीय भाषाओं को भी मध्यदेश की इस परम्परा से, जिसको हिन्दी ने समृद्ध और विकसित किया है, अलग हटकर एकान्त-साधक नहीं बन जाना चाहिए, अर्थात् दोनों का साहित्यिक आदान-प्रदान अक्षुण्ण बना रहना चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इस आदान-प्रदान का भविष्य में मध्य-केन्द्र बन सकता है।

दूसरी बात—यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिन्दी के अतिरिक्त और कोई दूसरी भाषा मध्यदेश की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती और यदि द्राविड़ी क्षेत्रों के निवासी भी स्वीकार कर लें तो हिन्दी मध्यदेश और दक्षिण भारत की भी राष्ट्रभाषा बन सकती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, और राष्ट्रभाषा प्रचार ही उसका मुख्य कार्यक्रम है। व्यावहारिक रूप में सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन बन गया है, परन्तु अभी तक राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन की दृष्टि से साहित्य सम्मेलन का विधान और कार्य-प्रणाली एकांगी है, जनतान्त्रिक और राष्ट्रीय नहीं। साहित्य सम्मेलन की ओर से अ-हिन्दी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का जो प्रचार किया जा रहा है उसमें अ-हिन्दी भाषाओं के साहित्य-सम्मेलनों के प्रतिनिधियों की सहमति-असहमति को महत्व नहीं दिया जाता, और न उनसे परामर्श ही किया जाता है। सारा प्रचार ऊपर से किया जा रहा है, जिससे अनेक भ्रम भी उत्पन्न हो गये हैं। कुछ कार्यकर्त्ता अनावश्यक रूप से ग़लत उत्साह दिखा रहे हैं जिससे लगता है कि वे हिन्दी को मध्यदेश की राष्ट्रभाषा ही नहीं, वरन् मातृभाषा भी बनाना चाहते हैं। दक्षिण भारत में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने हिन्दी को शिक्षालयों में अनिवार्य द्वितीय भाषा बनाकर द्राविड़ी भाषाओं के सम्मेलनों और प्रतिनिधियों की सम्मति के प्रति घोर उपेक्षा दिखाई और अपनी निरंकुश नीति के विरुद्ध स्वाभाविक विरोध को न्यौता दिया। इन सब जटिल समस्याओं का हल हिन्दी वाले नहीं कर पा रहे, फिर भी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपनी सीमित और एकांगी विजयों पर ही प्रमत्त हो उठा है, और अपने आधार को जनतान्त्रिक बनाने के लिए तैयार नहीं है। ऐसी स्थिति में जनपदीय साहित्य संघों का कर्तव्य है कि वे उसे जनतान्त्रिक आधार दें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम यह स्वीकार करलें कि हिन्दी को ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं बल्कि मध्यदेश और दक्षिण भारत की समस्त भाषाओं की सहमति से ही राष्ट्रभाषा बनाया जा सकता है, तथा इसके लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का राष्ट्रभाषा-साहित्य-सम्मेलन के रूप में जनतान्त्रिक आधार पर पुनर्सङ्गठन किया जाय। इससे बहुत से विवादों का भी अन्त हो जायगा।

तीसरी बात—मध्यदेश और दक्षिण की अनेक जनपदीय भाषाएँ पिछड़ी हैं। वे स्वयं अपने बल पर साहित्यिक स्थापना करने में समर्थ नहीं हैं। इसके लिए उन्हें उन्नत भाषाओं के सहयोग की आवश्यकता है। अतः यह ज़रूरी है कि साहित्यिक जगत् का वातावरण असाहित्यिक प्रश्नों की गूँज से क्षुब्ध न होता रहे। लोग इस सहयोग का व्यापक आयोजन कर सकें और एक शान्त वातावरण में आदान-प्रदान का क्रम अविराम चलता रहे। इस दृष्टि से भी साहित्य-सम्मेलन के आधार को व्यापक बनाने की ज़रूरत है और बिना उसे अन्यान्य भाषाओं की प्रतिनिधि संस्था, अर्थात् राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन बनाये यह कार्य सम्भव नहीं होगा। यह हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के हित में होगा। यदि वर्तमान हिन्दी जनपदों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, उड़िया, असामी, बंगाली आदि भाषाओं के प्रतिनिधि भी राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन में हिन्दी के प्रतिनिधियों के साथ समानता के आधार पर एकत्र किये जा सकें और वे एक मत से हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लें तो फिर कौन हिन्दी को अपदस्थ कर सकेगा? यदि द्राविड़ी भाषाओं के प्रतिनिधि भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लें तो मद्रास प्रान्त में हिन्दी को अनिवार्य द्वितीय भाषा बनाने से कौन आपत्ति करेगा? राष्ट्रभाषा आदि के प्रश्न तात्कालिक महत्त्व के प्रश्न नहीं हैं। सब भाषाओं के प्रतिनिधियों को इस पर खूब सोचने-विचारने का और स्वतन्त्र मत रखने का अधिकार देना चाहिए। अतः हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को विचार-स्वातन्त्र्य का वाहक बनाने के लिए उसे नये आधार पर संगठित करके राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन बनाना अनिवार्य हो गया है।

इन सभी दृष्टियों से देखने पर हमारा निश्चित मत है कि जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों को एक निश्चित कार्यक्रम लेकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सम्बद्ध हो जाना चाहिए। हम संक्षेप में इस कार्यक्रम की निम्न रूपरेखा बना सकते हैं :

(१) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विधान में परिवर्तन :—

(अ) सम्मेलन का नाम 'राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार सम्मेलन' रखा जाय।

(ब) रा० हि० प्र० स० उन सभी हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं का 'संघ' हो जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानती हैं, अर्थात् मध्यदेश के जनपदीय साहित्य संघों और गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, असामी और यदि सम्भव हो तो द्राविड़ी भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि) के साहित्य सम्मेलनों का संघ हो। हिन्दी और अहिन्दी भाषाओं के साहित्य सम्मेलन राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एक सामान्य नीति निर्धारित करने के लिए रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध हों और समस्त (छोटी-बड़ी) भाषाओं (हिन्दी को लेकर) को रा० हि० प्र० स० में एक बराबर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो। उदाहरण के लिए १६ जनपदीय साहित्य संघ और ६ अन्य अहिन्दी भाषाओं के सम्मेलन यदि रा० हि० प्र० स० से सम्बद्ध हो जायँ और यदि प्रत्येक

को दस-दस प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो तो इस प्रकार कुल प्रतिनिधियों की संख्या २८० होगी, अर्थात् उसमें अन्य किसी प्रकार के प्रतिनिधि स्वीकार न किये जायेंगे। प्रत्येक भाषा को अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार होगा। कोई भी राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय बहुमत से नहीं किया जा सकेगा, बल्कि जो भाषा बहुमत के निर्णय को स्वीकार करे वही उस पर पालन करने के लिए बद्ध हो। कार्यकारिणी के चुनाव में भी यही सिद्धान्त बरता जाय, अर्थात् प्रत्येक भाषा को अपना-अपना प्रतिनिधि समानता के आधार पर चुनने का अधिकार हो।

(स) रा० हि० प्र० स० की परिषदों का पुनर्निर्माण किया जाय। सम्बद्ध भाषाओं में साहित्यिक आदान-प्रदान के महत्त्वपूर्ण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए समस्त भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली ऐसी स्थाई परिषदों का निर्माण किया जाय जो इतिहास, भूगोल आदि की ऐसी खोजों और संग्रहों को जो राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व रखते हैं, राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसके द्वारा अन्य सभी सम्बद्ध भाषाओं में अनुवाद करायें और उच्च कोटि के विशुद्ध साहित्य (कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि) और वैज्ञानिक साहित्य का भी विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराने का प्रबन्ध करायें। जहाँ तक सम्भव हो परिषदें इसके लिए पारिभाषिक शब्दों की एक सामान्य सूची तैयार करें। इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य भी निरन्तर समृद्ध होता जायगा और अन्य उन्नत अथवा अनुन्नत भाषाओं का साहित्य भी समृद्ध होता जायगा। ये परिषदें विभिन्न विषयों के आधार पर बनाई जायँ और प्रत्येक सम्बद्ध भाषा के प्रतिनिधि उनमें हों जो अपनी-अपनी भाषा की साहित्यिक प्रगति पर छमाही रिपोर्ट दें और मिलकर इस बात का निर्णय करें कि कौन-कौनसी पुस्तकें राष्ट्रीय महत्त्व की हैं अतः अनुवाद के योग्य हैं।

(२) रा० हि० प्र० स० का पुनः केन्द्र-संगठन किया जाय अर्थात् मध्यदेश के किसी केन्द्रीय स्थान पर (दिल्ली, आगरा, लखनऊ अथवा इलाहाबाद आदि में) रा० हि० प्र० स० का स्थायी केन्द्र स्थापित किया जाय, और प्रचार और अनुवाद कार्य के लिए प्रेस और प्रकाशन की सुविधाएँ जुटायी जायँ।

(३) जनपदीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाय : रा० हि० प्र० स० जनपदीय भाषाओं की साहित्यिक स्थापना में सहयोग दे, अर्थात् विभिन्न जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों के कार्यक्रम को पूरा कराने में प्रकाशन की सुवि-

धाएँ और अन्य साधन प्रदान करे।

उक्त कार्यक्रम के आधार को लेकर जनपदीय प्रगतिशील साहित्य संघों को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्यक्रम और सुधारा जा सकता है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि जिस दिन हम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को० रा० हि० प्र० स० के रूप में प्रस्तावित आधार पर संगठित करने में समर्थ हो जायेंगे वह दिन हिन्दी और अन्य भाषाओं के साहित्यिक जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण दिन होगा। क्योंकि उस दिन मध्यदेश और यदि सम्भव हुआ तो दक्षिण भारत की समस्त भाषाओं के बीच स्थायी सौहार्द्र और सहयोग की नींव पड़ेगी और सभी भाषाओं के उत्तरोत्तर विकास की अपरिमित सम्भावनाएँ खुल जायेंगी। उस समय छोटी-से-छोटी और अनुन्नत-से-अनुन्नत मातृभाषा में भी लिखने से किसी भी प्रतिभावान् लेखक को संकोच न होगा, क्योंकि उसकी कृतियाँ प्रत्येक भाषा में पढ़ी जायेंगी। कोई भी महत्त्वपूर्ण रचना विस्मृति के गर्त में न डूब सकेगी, तब किसी भी जनपद की जनता को अपनी मातृ-भाषा को त्याग कर दूसरी भाषा में अपने भाव-विचारों को अभिव्यक्ति देने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ेगा।

जनपदीय भाषाओं के प्रश्न पर प्रगतिवादियों का यही दृष्टिकोण और कार्य-क्रम है[1]।

—नवम्बर, १६४५

१. देखिए परिशिष्ट ३।

२४

राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान

'Tis a great infirmity to think. God preserve you from it, my son, as He has preserved His greatest saints, and the souls whom He loves with special tenderness and destines to eternal felicity.

—*Anatole France.*

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी की बहस गत १४० वर्षों से जिस राजनीतिक उत्तेजना और धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद के वातावरण में अविराम चलती आई है, और जिस हठधर्मी और दुराग्रह से इन तीनों के समर्थकों और प्रतिपक्षियों ने अपनी तर्कावली को रूढ़ बना रखा है, मानो १४० वर्षों के अन्तराय में उनकी सूझ-बूझ में कोई विकास ही न हुआ हो; और जिस सतर्कता से वे इस बीच अपने पुराने तर्कों को ही और-और ऊँचे स्वर से दुहराते आये हैं उससे सिद्धान्त-कथन, तथ्य-निरूपण, विचार-विनिमय और विवेक-संगत समाधानों का स्थान आत्म-प्रवंचना और प्रमाद ने ले लिया है। केवल शक्ति-प्रदर्शन ही तर्क की सचाई का आधार बन गया है। राष्ट्रभाषा की गुत्थी सुलझने की जगह और भी उलझती गई है।

हिन्दी-उर्दू की बहस का अब वह प्रारम्भिक रूप नहीं रहा जब 'आर्य-भाषा' हिन्दी के समर्थक उसे हिन्दुओं की परम्परागत भाषा कहकर उर्दू के साथ-साथ अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उसका प्रचलन कराने के लिए आन्दोलन करते थे। इस बहस में हिन्दी सफलता पा चुकी है, और कचहरियों और दफ्तरों में उसका प्रयोग किया जा सकता है। प्रारम्भिक और कहीं-कहीं उच्च शिक्षा भी हिन्दी में दी जाने लगी है। अतः अब हिन्दी और उर्दू में प्रतियोगिता राष्ट्रभाषा-पद के लिए है। कुछ लोगों ने प्रारम्भ से ही हिन्दी और उर्दू की बहस में मध्यस्थ बनने की चेष्टा की है और आग्रह किया है कि हिन्दी-उर्दू के सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाय। परन्तु हिन्दुस्तानी के समर्थक, जो मध्यस्थ बनना चाहते थे, स्वयं एक वादी बन गये। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू का संघर्ष अब हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के संघर्ष का त्रिकोण बन गया है और इसमें विस्मय की बात नहीं है कि इस संघर्ष के त्रिकोण के तीन कोणों पर हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के स्थाई शिविर खुल गये हैं। अपने-अपने केन्द्र पर तीनों दल शक्ति-संगठन कर रहे हैं और वहाँ से राष्ट्रभाषा के सिंहासन के लिए बढ़-चढ़कर दावे पेश कर रहे हैं। कोई भी ठहर कर यह नहीं सोचना चाहता कि केवल शक्ति-संचय राष्ट्रभाषा के प्रश्न का

हल नहीं बना सकेगा। फिर, प्रत्येक दल के समर्थकों की संख्या में वृद्धि होती जाय तो उससे किसी भी दल के दावे को एकान्त औचित्य कहाँ से प्राप्त हो जायगा, यह विचारणीय है। अतः समर्थकों की संख्या-वृद्धि एक मरीचिका है जिसके पीछे तीनों दलों के नेता दौड़ रहे हैं। हिन्दी को हिन्दुओं का समर्थन मिल रहा है, उर्दू को मुसलमानों का—यह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की परीक्षाओं में बैठने वालों से स्पष्ट है। हिन्दुस्तानी को थोड़े हिन्दुओं और थोड़े ही मुसलमानों का समर्थन मिल पा रहा है। फिर भी तीनों दलों में कोई अपनी विचार-पद्धति को व्यापक बनाकर नई सूझ-बूझ से इस प्रश्न का हल नहीं ढूंढना चाहता। तीनों दलों की राष्ट्रीय चेतना अत्यन्त संकुचित और संकीर्ण हो गई है क्योंकि कोई भी अपने प्रतिपक्षियों के दृष्टिकोण को नहीं समझना चाहता। परिणाम यह है कि प्रत्येक दल के लिए राष्ट्रीयता भिन्न अर्थवाची शब्द बन गया है। एक विलक्षण, पर क्रूर, परिस्थिति पैदा हो गई है। हम यहाँ पर इस समूचे प्रश्न पर नई दृष्टि से सोचना चाहते हैं ताकि हम जिस दलदल में फँसे हैं उससे अपने पैर खींचकर आगे बढ़ सकें। इसके लिए वर्तमान संघर्ष का संक्षेप में सिंहावलोकन अपेक्षित है। इससे अनेक मनोरंजक तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के नेतृत्व का यदि हम विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि हिन्दी का नेतृत्व विशेष कर हिन्दू-राष्ट्रवादियों के हाथ में है। इनमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ० अमरनाथ झा आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक भी हैं; और बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल मुंशी, गोस्वामी गणेशदत्त आदि काँग्रेस, हिन्दू-महासभा, सनातन-धर्म-सभा, आर्य-समाज आदि के हिन्दू राष्ट्रवादी नेता और कार्यकर्त्ता भी हैं। इसी प्रकार उर्दू का नेतृत्व विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रवादियों के हाथ में है। यहाँ भी मौलवी अब्दुल हक़, मियाँ बशीर अहमद आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक हैं और मुस्लिम-लीग आदि के मुस्लिम-राष्ट्रवादी नेता हैं। उर्दू वालों के साथ सर तेजबहादुर सप्रू आदि उर्दू-फ़ारसी प्रेमी कतिपय हिन्दू नेता भी हैं। हिन्दुस्तानी का नेतृत्व उन लोगों के हाथ में है जो अखिल भारतीय एकता के भावुक समर्थक हैं, अर्थात् जो हिन्दू-उर्दू के पृथक् विकास का कारण ऐतिहासिक परिस्थितियों में न खोजकर उसे कुछ साम्प्रदायिक दुश्चिन्तकों का कुचक्र मानते हैं और सोचते हैं कि व्यापक राष्ट्रीय चेतना के फैलने पर यह कुचक्र अपने आप बन्द हो जायगा और हिन्दी-उर्दू की धाराएँ अपने आप मिल जायेंगी। इस दल के नेताओं में भी डॉ० ताराचन्द, डॉ० ज़ाकिर हुसैन, ज़फ़र हुसैन, पण्डित सुन्दरलाल, काका कालेलकर, गुलाम सैयदेन, डॉ० अब्दुल-अलीम आदि भाषाविद्, इतिहासज्ञ और विचारक हैं। नेताओं में महात्मा गाँधी, पण्डित जवाहरलाल और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आदि राष्ट्रीय नेता हैं।

तीनों दलों का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् **अखिल भारत के लिए एक सर्वसम्मत राष्ट्रभाषा का निर्माण और प्रचार**। गत १४० वर्षों में 'सर्वसम्मति' की ओर एक पग भी नहीं बढ़ाया जा सका है। साधारणतः जो इन तीनों दलों को सामान्य रूप से स्वीकार हो

वही सर्वसम्मत राष्ट्रभाषा कही जा सकती है, क्योंकि ये तीन दल ही अपनी-अपनी भाषा के लिए दावे पेश कर रहे हैं। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी विचित्र हो गई है कि 'सर्वसम्मत' का यह अर्थ किसी भी दल के निकट कोई महत्त्व नहीं रखता। अपना दावा ही 'सर्वसम्मत' है, बस इस प्रवंचना का ज़ोर है। राष्ट्रभाषा का अन्य भाषाओं से क्या सम्बन्ध रहेगा, अर्थात् राष्ट्रभाषा का क्षेत्र कितना होगा, उच्च शिक्षा और विशिष्ट वैज्ञानिक शिक्षा के लिए राष्ट्रभाषा को माध्यम बनाना उपयुक्त होगा अथवा अन्य प्रान्तिक भाषाओं में भी यह शिक्षा दी जा सकेगी आदि व्यापक रचनात्मक प्रश्नों तक विवादी नहीं पहुँचे हैं। वे राष्ट्रभाषा के प्रश्न को उठाकर पहले ही क़दम पर रुक गये हैं क्योंकि अभी यह निश्चित नहीं हो पा रहा है कि **राष्ट्रभाषा का नाम क्या हो, उसका स्वरूप क्या हो और उसकी लिपि क्या हो**। इन तीनों प्रश्नों का हल असाध्य लगता है; क्योंकि अपने-अपने दावे को वे ऐतिहाहिसक दृष्टि से सही मानते हैं। सर्वप्रथम हम तीनों के दावों का अध्ययन करेंगे :

एक : हिन्दी—(क) राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम अधिक समीचीन है।

ऐतिहासिक—मध्यदेश अथवा उत्तर भारत की भाषा का 'हिन्दी' नाम उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी की अपेक्षा अधिक पुराना है, और यह नाम मुसलमानों का दिया हुआ है। हिन्दू लेखकों (तुलसीदास आदि) ने सर्वत्र 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

अमीर खुसरो (सन् १३४०-८१) ने सर्वप्रथम अपनी 'खालिकबारी' (उर्दू-हिन्दी-कोष) में इस भाषा को 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' नाम दिया है, अर्थात् हिन्दुस्तानियों की भाषा हिन्दी, किसी जाति-विशेष की भाषा नहीं। अलाउद्दीन ख़िलजी (सन् १२९५-१३१५ ई०) के शासन-काल में फ़ख़रुद्दीन मुबारक ग़ज़नवी ने एक शब्द-कोष तैयार किया जिसमें उसने फारसी शब्दों के हिन्दी पर्याय दिये। शाह मीरानजी शम्शुल उशाक (सन् १४९५) अपनी रचनाओं की भाषा को हिन्दी कहते थे। दक्खिन में भी 'दक्खिनी' के साथ 'हिन्दी' नाम प्रचलित था। बीजापुर के अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६-१६७३) के दरबारी कवि नसराती ने भी अपनी हिन्दी कविताओं का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् 'सौदा' के उस्ताद शाह हातम (सन् १७५०), इंशाअल्ला खाँ (सन् १८५५-७५), एलोर (मद्रास) के बाकर आगाह (११५७ हिजरी में जन्म) आदि प्रसिद्ध मुसलमान लेखक अपनी भाषा के लिए 'हिन्दी' नाम का ही प्रयोग करते आये हैं। बाकर आगाह ने अपने दीवान का नाम 'दीवाने-हिन्दी' रखा। दिल्ली के विख्यात कवि 'मीर' ने अपनी भाषा को 'हिन्दी' ही कहा। हिन्दुओं ने अपनी 'भाषा' के लिए मुसलमानों द्वारा दिये गये इस नाम को अपना लिया। इस प्रकार हिन्दी नाम समस्त मध्यदेश की भाषा के लिए प्रयुक्त होता रहा है। उपयुक्त भी है।

'उर्दू' शब्द का भाषा के लिए कब से प्रयोग होने लगा, यह अभी तक विवादास्पद है। 'उर्दू' शब्द तुर्की भाषा का है, जिसका अर्थ लश्कर (छावनी) होता है। मीर अम्मन

देहलवी ने 'बाग़ोबहार' (सन् १८०१) में लिखा है कि उर्दू की उत्पत्ति अकबर बादशाह के समय में हुई। सर सय्यद अहमदखाँ की पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' (सन् १८५४) में उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँ के काल में बताई गई है। परन्तु यह भी संदिग्ध है, क्योंकि यदि उस समय 'उर्दू' शब्द प्रचलित हो गया होता तो सैयद अताहुसैन 'तहसीन' को 'चहार-दरवेश' के अनुवाद 'नौ तर्ज़मुरस्सा' में अपनी भाषा के लिए रेख़्ता, हिन्दी और उर्दू-ए-मुअल्ला इन तीन नामों का एक साथ प्रयोग न करना पड़ता। इससे सिद्ध है कि सन् १७६७ तक 'उर्दू' शब्द व्यापक और रूढ़ नहीं हो पाया था। इसके पश्चात् ही 'मसहफ़ी' और 'दाग़' ने अपने शेरों को उर्दू भाषा के शेर कहा। इस प्रकार 'उर्दू' बहुत नया नाम है। राष्ट्रभाषा के लिए यह नाम किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं। फिर उर्दू एक विशेष शैली का नाम है, किसी स्वतन्त्र भाषा का नाम नहीं।

'हिन्दुस्तानी' नाम की व्युत्पत्ति मनोरंजक है। सत्रहवीं सदी में पुर्तगालियों ने भारत में आकर यहाँ की भाषा का नाम 'इन्डोस्तान' (Indostan) रखा। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में एक अंग्रेज़ इतिहास-लेखक ने इस भाषा का नाम 'हिंडोस्टैंड' (Hindostand) लिखा है। इन महानुभवों के अनोखे नामों पर विस्मय न करके यदि हम और छानबीन करें तो हमें पता लगता है कि मौलाना वजही ने अपनी पुस्तक 'सरबस' (१०४० हिजरी) में इस भाषा को 'ज़बाने हिन्दुस्तान' लिखा था। परन्तु यह समस्त मध्यदेश या उत्तर भारत की भाषा का नाम नहीं था बल्कि केवल युक्त-प्रदेश और अन्तर्वेद (दोआब) के मुसलमानों की भाषा का नाम था जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ते के डॉ० गिलक्राइस्ट (सन् १८०३) ने जब हिन्दी-उर्दू में पुस्तकें लिखवायीं तब से ही 'हिन्दुस्तानी' शब्द पर सरकारी छाप लगी। हिन्दुस्तानी से अब तक हिन्दी की उर्दू शैली ही सूचित होती आई है। अतः यह नाम भी अनुपयुक्त है।

व्यावहारिक—'हिन्दी' नाम मुसलमानों का दिया है और हिन्दुओं को भी स्वीकृत हो गया है, अतः 'हिन्दी' नाम हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित भाषा के नाम का, उनकी एकता का द्योतक है। व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्वमान्य नाम है। इसके अतिरिक्त देशों के नाम पर ही भाषाओं के नाम भी होते हैं जैसे अरबी, ईरानी, फ़ारसी, चीनी, जापानी, रूसी, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी आदि। हिन्दी भी ऐसा ही नाम है।

उर्दू एक प्रकार से मुसलमानों द्वारा हठपूर्वक गढ़ी गई हिन्दी की ही एक शैली का नाम है। इस नाम को हिन्दुओं ने कभी नहीं अपनाया। सरकारी कृपादृष्टि बनी रहे, इसलिए कुछ सरकारी हिन्दू कर्मचारियों ने उर्दू को अपनी भाषा कहा हो तो वह बात दूसरी है। इसके अतिरिक्त उर्दू से किसी देश की भाषा होने का संकेत नहीं मिलता। अतः व्यावहारिक दृष्टि से उर्दू नाम सर्वथा अग्राह्य है।

हिन्दुस्तानी नाम संकुचित अवश्य है, क्योंकि इससे हिन्दुस्तान (उत्तरी दोआब) की भाषा का ही संकेत होता है। परन्तु अब सारे भारत को भी अक्सर हिन्दुस्तान कहा जाता है, अतः यदि सारा झगड़ा इस नाम को स्वीकार करने से ही ख़त्म हो जाय अर्थात् 'राष्ट्र-

भाषा के स्वरूप' और 'राष्ट्रलिपि' के लिए विवाद न उठे तो राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' भी स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस विवाद में इन नामों के पीछे भाषा के स्वरूप का विवाद छिपा हुआ है। अतः 'हिन्दुस्तानी' नाम भी उपयुक्त नहीं है।

(ख) राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दी हो—ऐतिहासिक, भाषाशास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दी होना ही अधिक उपयुक्त है।

ऐतिहासिक——हिन्दी से तात्पर्य संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली से है, परन्तु हिन्दी की समस्त बोलियाँ भी हिन्दी के ही अन्तर्गत आती हैं और उनके रूपों और प्रत्ययों में परस्पर इतना भेद होते हुए भी खड़ी बोली, ब्रज, बाँगरू, राजस्थानी, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिल, मगही आदि भाषाओं का प्राचीन काव्य-साहित्य हिन्दी का ही काव्य-साहित्य माना जाता है। इस दृष्टि से उर्दू के समान हिन्दी कोई नयी कृत्रिम भाषा नहीं है, वरन् सीधे संस्कृत और मध्यदेश की शौरसेनी और मागधी, अर्ध-मागधी प्राकृतों और अपभ्रंशों से उत्पन्न हुई भाषा है। गत एक हज़ार वर्षों की हिन्दी की गौरवमयी काव्य-परम्परा उसको अन्य भाषाओं के मुक़ाबले में राष्ट्रभाषा पद के लिए सबसे उपयुक्त भाषा बना देती है। चन्दबरदाई, विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, बिहारी, केशव, मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर, हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी के द्वारा प्रवाहित हिन्दी-काव्य और साहित्य परंपरा की इस अजस्र-धारा में ग्यारहवीं शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व से लेकर अब-तक कहीं विक्षेप नहीं हुआ है। समस्त मध्यदेश और उत्तर भारत के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यंजना हिन्दी में हुई है, अतः वह यहाँ की संस्कृति की प्रतीक है। देश जब विदेशी आक्रमणों और अनार्य विजेताओं की नृशंसताओं के कारण पदाक्रान्त हो रहा था, उस समय हिन्दी के कवियों ने ही उसे आशा का संदेश सुनाया, उसमें जीवन और स्फूर्ति का संचार किया। केवल मध्यदेश ही नहीं, दक्षिण और पूर्व भारत में भी हिन्दी की चैतन्य काव्य-परंपरा ने अपना अस्तित्व ज्ञान पैदा कर नयी जाग्रति फूँकी। लोक जीवन की श्रुति-परंपरा ने हिन्दी के कवियों की रचनाओं को देश के गाँव-गाँव और घर-घर में पहुँचा दिया है। अतः हिन्दी जनता की भाषा है।

स्वयं मुसलमानों ने हिन्दी के इस भारतीय स्वरूप को ही अपनाया और हिन्दी काव्य के निर्माण में योग दिया। कारण, हिन्दी जनता की भाषा थी और मुसलमान बादशाहों के दरबारों में फ़ारसी का प्रचलन था। हिन्दी को समृद्ध बनाने में मुसलमानों ने प्रत्येक काल में और प्रत्येक काव्य-धारा में रचनाएँ की हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा, रीति काव्य, आधुनिक काव्य——इन सभी काव्य परंपराओं में मुसलमान कवियों ने जो योगदान किया है वह उपेक्षणीय नहीं है। अमीर ख़ुसरो (सं० १३४०) से लेकर, कबीर (सं० १४५६), कुतबन (सं० १५५०), मलिक मुहम्मद जायसी (सन् १५२८), रसखान (सं० १६४०), रहीम (सं० १६१०-८३), आलम (सं० १६४०), जमाल (सं० १६२७), क़ादिर (सं० १६६५), मुबारक (सं० १६७०),

उसमान (सं० १६१३), शेखनबी (सं० १६७६) अलीमुहिबखाँ (सं० १७८७), रसलीन (सं० १७१४), आलम (सं० १७४०), कासिमशाह (सं० १७८८), नूरमुहम्मद (सं० १८०१) और वर्तमान युग में अजमेरी जी तक मुसलमानों ने हिन्दी के जो काव्य ग्रन्थ रचे हैं उनपर किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। परन्तु ये रचनाएँ उन्होंने अपने काल की हिन्दी की साहित्यिक भाषा अवधी, ब्रज या खड़ी बोली में ही कीं और उनमें विदेशीपन लाकर भारत की सांस्कृतिक एकता के तार को विच्छिन्न करने की चेष्टा नहीं की। ये कवि दिल्ली, काशी, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, पिहानी, बिलग्राम, हरदोई, बाराबंकी, आगरा आदि मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों में जन-जीवन के निकट रहकर कविता करते थे, दरबारों में जाकर शासकों के इंगित पर उन्होंने अपनी सरस्वती के आँचल को कलुषित नहीं होने दिया। इस प्रकार हिन्दी को हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित भाषा होने का गर्व है। आज भी, नगरों के कुछ पढ़े-लिखे मुसलमानों को छोड़कर, आमतौर पर मुस्लिम जनता हिन्दी की ही विभिन्न बोलियों को बोलती हैं। अतएव हिन्दी का परम्परागत स्वरूप ही राष्ट्रभाषा का स्वरूप हो सकता है, अन्य कोई स्वरूप जनता में सर्वमान्य न हो सकेगा।

उर्दू के समर्थकों का दावा है कि खड़ी बोली का साहित्यिक भाषा के रूप में निर्माण सर्वप्रथम मुसलमानों ने ही किया और ग़दर, सन् १८५७ ईस्वी, तक उर्दू ही हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा रही। यह एक भ्रान्त धारणा है। खड़ी बोली हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह एक प्राचीन बोली है। उसमें अधिक काव्य-रचना नहीं हुई, इसका कारण केवल यह था कि ब्रजभाषा उस समय साहित्य की भाषा थी, और जब दिल्ली दरबार में फ़ारसी का प्रयोग होने लगा तो उसका प्रभाव दरबार से सम्बन्ध रखने वाले आस-पास के लोगों पर भी पड़ा और उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द घुसने लगे। जिन्होंने मुस्लिम दरबारों के आश्रय में रहकर खड़ी बोली में कविता लिखनी प्रारम्भ की उन्होंने उसे शासकों की सुविधा के लिए फ़ारसी-अरबी-मिश्रित बनाने की कोशिश की। इस कविता का आदर्श, पद-विन्यास, शब्द-भण्डार सभी विदेशी होता चला गया। अतः मध्यदेश की हिन्दू और मुस्लिम जनता को खड़ी बोली का यह 'उर्दू' संस्कार मान्य नहीं हुआ, और वह ब्रजभाषा में ही अपने को अभिव्यक्त करती आई। मुग़ल साम्राज्य के ध्वंस के बाद जब कायस्थ, अग्रवाल, खत्री आदि दिल्ली की व्यापारी अथवा दफ़्तरों में काम करनेवाली जातियाँ पूरबी युक्तप्रान्त में आकर बसने लगीं तो खड़ी बोली को भी अपने साथ लेती गईं और इस प्रकार खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में मध्यदेश के अन्य स्थानों में भी फैलने लगी। यह कहना सरासर ग़लत है कि फ़ोर्टविलियम कॉलेज अथवा ग़दर के पश्चात् ही प्रतिक्रियावश हिन्दुओं ने संस्कृतनिष्ठ गद्य लिखना प्रारम्भ किया और हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा उर्दू को त्यागकर विग्रह का बीज बोया। मुसलमानों ने खड़ी बोली में जब गद्य लिखना आरंभ किया उसके बहुत पहले से उसमें गद्य लिखा जाता रहा है, परन्तु वह गद्य हिन्दी-परम्परा के अनुसार था, उसमें जान-बूझकर अरबी-फ़ारसी नहीं भरी जाती थी। विग्रह का बीज तो मुसलमानों ने ही बोया। अकबर के समकालीन कवि गङ्ग की पुस्तक 'चन्द-छन्द

बरनन की महिमा' को खड़ी बोली गद्य की प्रथम पुस्तक कह सकते हैं। श्रीरामप्रसाद 'निरञ्जनी' का 'भाषा योगवासिष्ठ', (सं० १७९८) पण्डित दौलतराम का हरिषेणाचार्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का ७०० पृष्ठों का भाषानुवाद, मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेश वाली पुस्तक, मुंशी इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' (सं० १८५८) आदि पुस्तकें फ़ोर्टविलियम कॉलेज द्वारा (सं० १८६० में) खड़ी बोली गद्य में पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था होने के पहले ही लिखी जा चुकी थीं। इससे सिद्ध है कि खड़ी बोली का हिन्दी-रूप शिष्ट-जनों की भाषा बन चुका था। इस समय तक खड़ी बोली का शुद्ध रूप मध्यदेश के अन्य स्थानों में भी फैल गया था, उच्चकोटि के हिन्दी गद्य-साहित्य के लिए क्षेत्र बन गया था, और उसका विकास स्वाभाविक हो गया था। प्रतिक्रिया का कोई प्रश्न कब उठता है?

इसके अतिरिक्त गत पचास-साठ वर्षों में हिन्दी-साहित्य की जैसी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई है, और उसका प्रचार जिस परिमाण में हुआ है उससे भी सिद्ध है कि हिन्दी का वर्तमान संस्कृतनिष्ठ स्वरूप ही जनप्रिय और सर्वमान्य है; जनता किसी कृत्रिम, आपादमस्तक विदेशी वेश-भाषा में सजी भाषा को स्वभावतः नहीं अपना सकती। सरकारी पक्षपात के रहते हुए भी यदि देखा जाय तो उर्दू की लोकप्रियता दिनोंदिन गिरती जा रही है। सन् १८८९-९६ में हिन्दी की ३६१ और उर्दू की ५६९ पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, परन्तु सन् १९३५-३६ में संयुक्त प्रान्त में हिन्दी की २१३९ और उर्दू की केवल ७५२ पुस्तकें ही प्रकाशित हुईं। यदि हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों, हिन्दी समाचार पत्रों और उनके पाठकों की संख्या के आँकड़े दिये जायँ तो उनमें और उर्दू के आँकड़ों में दसगुने से अधिक का अन्तर होगा। इससे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति राष्ट्रभाषा के सर्वमान्य स्वरूप के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाल सकता है।

भाषा-शास्त्रीय--यदि उर्दू में अरबी के अनार्य (सामी) और फ़ारसी के अभारतीय शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करना छोड़ दिया जाय तो वह हिन्दी से भिन्न शैली भी न रह जाय। उर्दू खड़ी बोली की ही एक विशिष्ट (अरबी-फारसी-निष्ठ) शैली है, अन्यथा वह स्वतन्त्र भाषा नहीं है। मुसलमान उर्दू को अपनी पृथक् भाषा बनाने के लिए उसमें अभारतीय उपमाएँ और रूपक भर रहे हैं, यद्यपि हिन्दी-उर्दू का व्याकरण एक ही है, अर्थात् क्रिया, सर्वनाम, प्रत्यय, उपसर्ग और अव्यय एक ही हैं। केवल कुछ संज्ञाएँ और विशेषण अब दोनों में भिन्न हो गये हैं, फिर भी दोनों भाषाओं की गठन एक है। अरबी-फ़ारसी के शब्द यदि हिन्दी व्याकरण के अनुसार भाषा की स्वाभाविक समीकरण पद्धति से हिन्दी में घुलमिल जायँ, जिस तरह हज़ारों शब्द घुलमिल गये हैं, तो उनसे किसी को कोई आपत्ति न हो। इससे तो भाषा और समृद्ध ही होती है, परन्तु यदि वे अपनी विदेशी वेषभूषा त्यागे बिना ही अपना सम्मान चाहें तो यह कैसे संभव है? प्रत्येक भाषा की अपनी गठन होती है, अपनी प्रकृतिगत आभा होती है, अपनी संस्कृति का वातावरण और आदर्श होता है। भाषा का ध्वनि-सामंजस्य और स्वर-सामंजस्य उसके विकास और मार्जन की दिशा निर्दिष्ट करता है। विदेशी शब्द अपने विदेशीपन को लेकर यदि घुस आयें तो वे

इस सामंजस्य को नष्ट करके भाषा को भोंडी और विषम ही बना सकते हैं, उसको निखार नहीं सकते। इसके अतिरिक्त उर्दू वालों का आग्रह है कि पारिभाषिक शब्द अरबी से लिये जायँ। ऐसा क्यों किया जाय जबकि हिन्दी अपनी माँ संस्कृत और प्राकृतों से पारिभाषिक शब्द ले सकती है ?

व्यावहारिक—संस्कृत से पारिभाषिक शब्द उधार लेने का व्यावहारिक औचित्य भी है। हिन्दी-भाषा हिन्द-ईरानी-शाखा की भारतीय-आर्य उपशाखा की एक भाषा है। अतः भारतीय-आर्य उपशाखा की अन्य भाषाओं—जैसे बंगाली, गुजराती, मराठी, असामी, उड़िया, सिंधी, पंजाबी, आदि से उसका निकट का सम्बन्ध है। ये सब भाषाएँ संस्कृत और प्राकृतों से निकली हैं। स्वाभाविक है कि उनमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुलता है। ये सब भाषाएँ भी अधिकतर संस्कृत की धातुओं को ही प्रयोग में लाती हैं और पारिभाषिक शब्दों को अपनी जननी संस्कृति से उधार लेती हैं। ऐसी दशा में राष्ट्रभाषा हिन्दी भी यदि संस्कृत से ही पारिभाषिक शब्द लेती है और तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करती है तो इसमें अस्वाभाविक क्या है ? वह अपनी बहनों के और निकट ही पहुँचना चाहती है। दक्षिण की द्राविड़ी-कुल की भाषाओं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम पर भी संस्कृत और प्राकृतों का गहरा प्रभाव पड़ा है, जिसके कारण उन भाषाओं में भी अरबी-फ़ारसी की अपेक्षा संस्कृत के शब्द अधिक हैं। अतः हिन्दी को अपनी संस्कृतनिष्ठता के कारण इन भाषा-क्षेत्रों में भी प्रचलन पाने में अधिक सुगमता होगी। यदि उर्दू अथवा प्रचलित हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बन गयी तो इन प्रान्तों के निवासियों को राष्ट्रभाषा सीखने में दुर्गम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। उल्लेखनीय बात यह है कि इन भाषा प्रान्तों के मुसलमान भी अपने-अपने यहाँ की मातृभाषा को ही बोलते हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक उन्माद को जगाकर इन क्षेत्रों के मुसलमानों को भी उर्दू सीखने के लिए विवश किया जा रहा है, और इस प्रकार उर्दू को एक अखिल भारतीय भाषा बनाने का षड्यन्त्र रचा जा रहा है, तो भी अभी तक उर्दू बोलने वाले उत्तर भारत के कुछ लाख मुसलमान ही हैं। इसके विपरीत हिन्दी १४ करोड़ की मातृभाषा है और लगभग २५ करोड़ व्यक्ति उसे बोल लेते हैं और उसे अपने अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में भी लाते हैं। इन सब दृष्टियों से देखने पर हिन्दी का दावा निर्विवाद हो जाता है। केवल चन्द लोगों की हठधर्मी और साम्प्रदायिक-राजनीतिक स्वार्थों के कारण ही राष्ट्रभाषा का प्रश्न हल नहीं हो पा रहा।

(ग) राष्ट्रलिपि देवनागरी हो—ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा के लिए देवनागरी लिपि ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक—ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी लिपि का सम्बन्ध भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी से सिद्ध है। प्राचीन काल में पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर समस्त भारत में ब्राह्मी लिपि का ही प्रचलन था। ब्राह्मी लिपि का आविष्कार आर्यों ने ही किया था, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि सामी आदि विदेशी लिपियों से उसकी

उत्पत्ति बताने वाले मत कपोल-कल्पित ही लगते हैं। ब्राह्मी बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी और सामी लिपियाँ दाहिनी ओर से बायीं ओर को। उनके वर्णों में कोई आकृति-मूलक समता भी नहीं है। यह भी निर्विवाद हो चुका है कि समस्त भारतीय लिपियों का उद्गम प्राचीन राष्ट्र-लिपि ब्राह्मी से हुआ है। लगभग ३५० ई० तक ब्राह्मी लिपि का भारत में प्रचार रहा, उसके पश्चात् ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रवाह हो गये, एक को दक्षिणी शैली कहते हैं, दूसरी को उत्तरी शैली। द्राविड़ी परिवार की भाषाओं की तेलुगु-कन्नड़ी, ग्रन्थ, तामिल आदि लिपियाँ ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से निकली हैं। उत्तरी शैली का विकास नागरी और काश्मीरी की शारदा लिपियों के रूप में हुआ। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बंगला, नैपाली, मैथिली और उड़िया लिपियाँ निकलीं और प्राचीन नागरी से कैथी, महाजनी, राजस्थानी, गुजराती आदि लिपियाँ भी निकलीं। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी और गुरुमुखी लिपियों की उत्पत्ति हुई। वर्तमान देवनागरी लिपि का विकास प्राचीन नागरी लिपि से दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ और आजकल मराठी और हिन्दी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं तथा संस्कृत के ग्रन्थ सर्वत्र देवनागरी लिपि में ही मुद्रित होते हैं। इससे सिद्ध है कि देवनागरी लिपि भारत की परम्परागत लिपि का विकसित रूप है और उसके ही विभिन्न रूप सारे देश में प्रचलित है।

भाषा-शास्त्रीय—देवनागरी लिपि की विशेषता उसके ध्वनि-चिन्हों (वर्णों) की वैज्ञानिक योजना और सुवाच्यता है। उसकी यही महत्ता है कि उसमें जो कुछ लिखा जाता है वही पढ़ा भी जाता है, अर्थात् अक्षरों का विन्यास उच्चारण के अनुकूल है। देवनागरी की वर्णमाला और लिपि अरबी-फ़ारसी-रोमन वर्णमालाओं की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ध्वनि-क्रम के अनुसार है, इसे सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। देवनागरी लिपि सहज, सुबोध, सुवाच्य, नियमित और सरल है, यह भी सर्वमान्य तथ्य है। ऐसी दशा में किसी अवैज्ञानिक, जटिल और दुर्बोध लिपि (जैसे अरबी-फ़ारसी) को किस भाषा शास्त्रीय आधार पर स्वीकार किया जा सकता है?

उर्दू के समर्थक अरबी-फ़ारसी की लिपि के लिए आग्रह करते हैं। पहले तो अरबी-फ़ारसी की लिपि और वर्णमाला सामी लिपियों के परिवार की है, अतः दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती है। नागरी अक्षरों से उर्दू के अक्षरों की आकृति एकदम भिन्न है। उर्दू वर्णमाला में ध्वनि-क्रम की कोई योजना नहीं है। एक ही ध्वनि को अंकित करने के लिए अनेक वर्ण हैं जैसे '**स**' के लिए 'स्वाद' 'सीन' और 'से'; '**त**' के लिए 'ते और 'तोय'; '**ह**' के लिए छोटी 'हे' और बड़ी 'हे'; '**ज़**' के लिए 'ज़ाल' 'ज़े' ज़्वाद' और 'ज़ोय'। इन वर्णों के प्रतिरूप अरबी के समान उर्दू में ध्वनियाँ नहीं हैं, अतः यदि किसी को अरबी इमलों का ज्ञान न हो तो केवल सुनकर अक्षर-विन्यास शुद्ध नहीं लिख सकता। आर्य-भाषाओं की लिपियों में (देवनागरी आदि) स्वर मात्रा से दिखाये जाते हैं, परन्तु सामी भाषाओं की लिपियों में स्वर चिह्नों से अंकित किए जाते हैं। पर ज़ेर, ज़बर, पेश आदि चिन्हों

को लगाकर भी आर्य-भाषाओं के सभी स्वर उसमें अंकित नहीं हो पाते और सामी लिपि में इन चिह्नों का प्रयोग बहुधा लेखक की इच्छा पर निर्भर करता है। फलतः ऐसी अराजकता फैलती है कि जो लिखा जाता है वह पढ़ा नहीं जाता और वाक्य-सन्दर्भ से संगति बैठाकर पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कुतुब' को 'कुतब' और 'कतब' पढ़ा जा सकता है, कोर को 'कूर', 'कवर' और 'कौर' भी पढ़ा जा सकता है। अतः बिना अर्थ समझे केवल अक्षर-ज्ञान से शुद्ध पढ़ लेना असंभव है।

इसमें सन्देह नहीं है कि देवनागरी लिपि से भी कतिपय त्रुटियाँ हैं, परन्तु ब्राह्मी लिपि के समय से यदि अब तक का भारतीय लिपियों का इतिहास देखें तो उसमें बड़ा स्वस्थ विकास-क्रम मिलता है। १० वीं सदी की लिपि में 'अ, आ, घ, प, म, य, ष, स' के सिर दो हिस्सों में विभक्त होते थे, परन्तु ११ वीं सदी से उनका आधुनिक रूप चल निकला। वर्तमान काल में ही च्च, क्क, क्व, की लिखावट बदलकर च्च, क्क, क्व आदि आगे-पीछे लिखा हुआ रूप ग्रहण कर गयी है। इस प्रकार देवनागरी लिपि में संशोधन होता जा रहा है। यदि अभी तक देवनागरी लिपि में ऐसी त्रुटियाँ वर्तमान हैं जैसे कि उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ,) वर्णों के नीचे और ए, ऐ, ओ, औ की मत्राएँ (े, ै, ो, ौ,) वर्णों के ऊपर लगती हैं, अथवा ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, ह आदि व्यञ्जनों में खड़ी पाई स्पष्ट अन्तिम अंश नहीं है, और उनमें संयुक्त व्यञ्जनों को ऊपर-नीचे लिखने का क्रम अभी तक जारी है अथवा 'र' कार के तीन रूप (–, र्, ्र,) अभी तक प्रचलित हैं, ख से र व का भ्रम हो जाता है या ह्रस्व ए, ओ के लिए अतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नहीं हैं तो इन त्रुटियों के प्रति हिन्दी के भाषा-शास्त्री उदासीन नहीं हैं और वे देवनागरी लिपि को अधिक वैज्ञानिक और सम्पूर्ण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु फिर भी भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल देवनागरी लिपि ही है और उर्दू लिपि तो किसी प्रकार भी प्रयोग में नहीं लायी जा सकती। रोमन लिपि यद्यपि उर्दू लिपि से अधिक वैज्ञानिक और सरल-सुबोध है, तथापि किसी सामयिक लाभ की दृष्टि से देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि को त्याग देना समीचीन नहीं लगता।

व्यावहारिक—हिन्दी और मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं और **भारत की समस्त उत्तरी और दक्खिनी भाषाओं की लिपियाँ नागरी अथवा ब्राह्मी लिपि की ही रूपान्तर-मात्र हैं, अतः देवनागरी लिपि से भारत की समस्त भाषाओं की लिपियों का निकट साम्य है, जिसके कारण राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी लिपि को समस्त भारत में प्रचलित करना सुगम होगा।** यदि अहिन्दी भाषाएँ भी स्वेच्छा से देवनागरी लिपि को ही ग्रहण कर लें तो समस्त भारतीय भाषाओं की एक ही लिपि हो सकती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत का विशाल वाङ्मय देवनागरी लिपि में ही प्रकाशित हुआ है, तथा और भाषाओं का साहित्य भी देवनागरी अथवा उसका रूपान्तर करके बनी लिपियों में है। केवल उर्दू का अपेक्षाकृत थोड़ा-सा साहित्य ही एक विदेशी लिपि में है। यदि उर्दू वाले अपना दुराग्रह छोड़कर देवनागरी लिपि को अपना लें तो विग्रह का बहुत कुछ आधार

मिट जाय; क्योंकि तब मुसलमानों को भारतीय साहित्य और चिन्ता-धारा से एकदम अलग रखने वाला अवरोध हट जायगा। यह आसान भी है, परन्तु सारे संस्कृत और आधुनिक भाषाओं से साहित्य को उर्दू लिपि में करना असम्भव कार्य है। और कोई ऐसी राष्ट्र-लिपि नहीं स्वीकार की जा सकती जिसका भारती साहित्य की परम्परा से कोई सम्बन्ध न हो, अथवा जिसके कारण आधुनिक या प्राचीन भाषाओं का साहित्य पढ़ने के लिए एक और लिपि को सीखना पड़े। हिन्दुस्तानी के समर्थकों का यह कहना कि राष्ट्रभाषा दोनों लिपियों में लिखी जाय, व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयोगी प्रस्ताव है। देश की एकता के लिए एक राष्ट्रलिपि आवयश्क है। यदि दो लिपियाँ प्रयोग में लायी गयीं तो मुसलमान उर्दू लिपि सीखेंगे और हिन्दू देवनागरी और दोनों का सांस्कृतिक सम्पर्क फिर भी उतना ही असंभाव्य बना रहेगा। इसके अतिरिक्त मुद्रण और प्रकाशन की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि ज़्यादा उपयुक्त ठहरती है। सार्वजनिक शिक्षा का उद्देश्य मुद्रण और प्रकाशन की सुविधा के बिना पूरा नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में हिन्दी वालों का दावा है कि हिन्दी (संस्कृत निष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) ही समूचे भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो सकती है और देवनागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि बन सकती है।

दो : उर्दू—(क) क़ौमी ज़बान का नाम उर्दू हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करने के पूर्व इस साम्प्रदायिक धारणा को मन से हटा देना चाहिए कि केवल वे ही नाम 'भारतीय' संस्कृति के द्योतक होंगे जो मध्यकालीन आर्य भारत में प्रचलित थे। उस समय के भारत का सांस्कृतिक रूप प्रधानतः आर्य अथवा हिन्दू था। भारत में मुसलमानों के आने और आ कर यहाँ बस जाने से हिन्दुस्तान का सांस्कृतिक अद्वैत अविच्छिन्न न रह सकता था। परस्पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और आज जब हम भारतीय संस्कृति की बात करें तब हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन उपादानों से आधुनिक भारतीय संस्कृति का स्वरूप गढ़ा गया है उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों का सदियों का सक्रिय सहयोग और सम्मिलित योगदान है। हिन्दुस्तान की एकता या राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के प्रश्न मध्यकालीन भारत की मुस्लिम प्रभाव से अछूती हिन्दू संस्कृति को आदर्श या कसौटी मानकर नहीं हल किये जा सकते। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान की संस्कृति, भाषा और विचारधारा पर जो प्रभाव डाला है और उसके विकास में जो योग दिया है, उस सब को अलग करके किसी भी चीज़ को आधुनिक युग में 'भारतीय' नहीं कहा जा सकता। आँकड़े जोड़कर या सत्याभासों का इन्द्रजाल रचकर इस तथ्य को नज़र-अन्दाज़ करने की कोशिश करना एक बात है और गम्भीरतापूर्वक विचार करके इन प्रश्नों का हल तलाश करना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह सत्य है कि मुसलमान लेखकों ने प्रारम्भ में हिन्दुस्तान की भाषा का 'हिन्दवी' या हिन्दी नाम दिया। और मुसलमान आज भी 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी नाम को

स्वीकार कर लेते यदि हिन्दुओं ने अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिकता के प्रमाद में हिन्दू-मुसलमानों की सदियों की सम्मिलित कोशिश से बनायी संयुक्त भाषा उर्दू को मिटाकर उसके स्थान पर एक नयी संस्कृतगर्भित शैली चलाने की चेष्टा न की होती। हिन्दू-राष्ट्रवादी इतिहास की चरखी को पीछे घुमाना चाहते हैं, मुसलमान इसे कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?

सर्वविदित है कि आदि से अन्त तक मुसलमानों के राजत्वकाल में राजकीय भाषा फ़ारसी ही रही। किसी देशी भाषा को उन्होंने यह गौरव-पद नहीं दिया, जैसे अंग्रेज़ी शासन में राजकीय भाषा अंग्रेज़ी है। अतः मुस्लिम शासकों द्वारा गढ़ी अथवा प्रोत्साहन दी गयी भाषा उर्दू नहीं है। एक प्रकार से उर्दू की तो दरबारों में सदैव उपेक्षा ही की जाती रही। कारण स्पष्ट है कि उर्दू मुसलमानों की ख़ास भाषा नहीं थी, बल्कि दो संस्कृतियों के स्वाभाविक मेल से विकसित आम जनता की भाषा थी, और शासकगण यह अपनी शान के खिलाफ़ समझते थे कि वे आम जनता की भाषा को राजकीय पद प्रदान करें।

उर्दू तुर्की ज़बान का लफ़्ज़ है, इसके अर्थ लश्कर (छावनी) होते हैं। प्रारम्भ में तुर्क और मुग़ल बादशाह छावनी में रहते थे। इन छावनियों में राजकाज और व्यापार के सिलसिले में हिन्दू एक बड़ी तादाद में मुसलमानों के सम्पर्क में आते थे और यद्यपि राजकीय भाषा फ़ारसी थी, पर हिन्दू-मुसलमान आपस में देशी भाषा ही बोलते थे। स्वाभाविक है कि इस आदान-प्रदान में यहाँ की देशी भाषा (दिल्ली के आसपास की बोली—खड़ी बोली) में अनेक फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द घुलमिल गये। सदियों तक यह मिश्रण होता रहा और उत्तर भारत और हैदराबाद (दक्खिन) में हिन्दू-मुसलमानों की एक सम्मिलित भाषा का रूप विकसित होता गया। इस भाषा की ज़मीन खड़ी बोली थी; व्याकरण और वाक्य-विन्यास भी खड़ी बोली का ही था, केवल अरबी-फ़ारसी के योग से इस भाषा का एक नया साहित्यिक सुन्दर, समन्वित रूप निखर आया। यही भाषा आगे चलकर 'उर्दू' कहलाई।

इस प्रकार उर्दू उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों की सम्मिलित भाषा है। आज भी काश्मीर, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध, पंजाब और मध्यदेश के हिन्दू-मुसलमानों की लिखने-पढ़ने और बोल-चाल की भाषा उर्दू है। हिन्दी कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, क्योंकि उर्दू में से फ़ारसी-अरबी के शब्द निकाल कर संस्कृत के तत्सम शब्द ठूँस देने से ही हिन्दी शैली बन जाती है, जो सर्वथा कृत्रिम, कष्टसाध्य और अस्वाभाविक है। हिन्दू-सम्प्रदायी 'हिन्दी' का झण्डा खड़ा करके हिन्दू-मुसलमानों के बीच विग्रह का बीज बो रहे हैं। ऐसी स्थिति में मुसलमानों को 'हिन्दी' नाम कभी भी स्वीकार नहीं हो सकता। हिन्दी का नाम मुसलमानों की संस्कृति और उनके योगदान के प्रति कुटिल तिरस्कार का सूचक है। उर्दू आज भी हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा है। 'हिन्दुस्तानी' का नाम उर्दू वाले स्वीकार कर लेते परन्तु महात्मा गान्धी से लेकर अन्य सभी हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दुस्तानी का अर्थ वस्तुतः हिन्दी ही लगाते हैं, अतः हिन्दुस्तानी जैसे श्रुतिमधुर, निष्पक्ष शब्द

भी हिन्दुओं के षड्यन्त्र की गन्ध आने लगी है।

व्यावहारिक--उर्दू नाम उत्तर भारत के हिन्दुओं को भी मंजूर रहा है। उर्दू नाम किसी अन्य नाम से कम प्रचलित नहीं है, बल्कि उत्तर और पश्चिमोत्तर में तो उर्दू नाम ही प्रचलित है। उर्दू नाम दो जातियों की संस्कृतियों के संगम का प्रतीक है अतः सर्वमान्य होना चाहिए।

किसी देश के नाम पर ही एक भाषा का भी नाम हो यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका की भाषा अमरीकी नहीं बल्कि अँग्रेज़ी है। अतः **हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी नाम में हिन्द अथवा हिन्दुस्तान से साम्य बैठा करके** हिन्दू साम्प्रदायिकता के एकांगी दृष्टिकोण को औचित्य प्रदान करने की ख़ातिर अधिक व्यापक सांस्कृतिक हेतु को तिलांजलि नहीं दी जा सकती।

उर्दू नाम स्वीकार करने से कोई व्यावहारिक कठिनाई नहीं उत्पन्न होगी, उलटे यह हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक और स्मारक को नयी प्रतिष्ठा देना होगा।

(ख) **क़ौमी ज़बान का स्वरूप उर्दू हो**--ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से क़ौमी ज़बान का स्वरूप उर्दू होना ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक--उर्दू हिन्दुओं और मुसलमानों की सामान्य भाषा रही है। यही कारण है कि जब मुग़ल शासन के पश्चात् अँग्रेज़ी हुकूमत आयी और उसे एक ऐसी सर्वमान्य भाषा की ज़रूरत पड़ी जिसके द्वारा दफ़्तरों और कचहरियों का काम चलाया जा सके तो उन्होंने उर्दू को ही चुना। सन् १८३५ में उर्दू अदालतों में मंज़ूर कर ली गयी। उस समय किसी हिन्दू ने उसका विरोध नहीं किया, बल्कि उसके २६ वर्ष बाद बंगाल, बिहार और उड़ीसा के हिन्दू ज़मींदारों और दूसरे लोगों ने वायसराय से लिखकर अनुरोध किया कि उनके प्रान्तों में भी उर्दू को अदालती-भाषा बना दिया जाय। विग्रह का बीज तो सर्वप्रथम फोर्ट विलियम कॉलेज में बोया गया जब डॉ० जॉनगिलक्राइस्ट ने सदलमिश्र और लल्लूलाल को आदेश दिया कि वे ब्रजभाषा की पुस्तकों का अनुवाद खड़ी बोली में करें और ऐसी भाषा गढ़ने की कोशिश करें जो हिन्दुओं की भाषा बन सके और तत्काल प्रचलित दोनों की सम्मिलित भाषा उर्दू का स्थान ले सके। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' **के लेखक एफ़. ई. की ने भी इस बात को स्वीकार किया है और लिखा है कि उर्दू में से फ़ारसी के शब्दों को निकालकर और संस्कृत के शब्द भरकर हिन्दुओं के लिए हिन्दी भाषा गढ़ी गयी। वस्तुतः यह एक नयी भाषा थी। विग्रह का यह बीज सन् १८५७ के ग़दर के** पश्चात् पनपा **और उसका अंकुर दिखायी पड़ने लगा। वैदिक संस्कृति को पुन**-रुज्जीवित करने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों ने संस्कृत का ज़ोर-शोर से प्रचार शुरू किया। गुरुकुल खुलने लगे, हिन्दू-साम्प्रदायिकता का झंडा लेकर आर्य-समाजों की स्थापना होने लगी। स्वामी दयानन्द ने अपना सत्यार्थ प्रकाश संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली में लिखा। धर्म-प्रचारक ईसाइयों ने भी इस नयी बोली को चलाने में हिन्दुओं की कम सहायता नहीं की। उन्होंने हिन्दी में इंजील के अनुवाद प्रकाशित किये। अंग्रेज़ों

ने स्वयं हिन्दुओं को अपने लिए अलग हिन्दी-भाषा का निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रो० मेक्समूलर, मदाम ब्लेवत्स्की, एनीबेसंट और कर्नल अल्काट ने विशेषकर अपने लेखों द्वारा हिन्दुओं की पृथकतावादी साम्प्रदायिकता को प्रेरणा दी। सन् १८६७ के लगभग बिहार में हिन्दी के लिए आन्दोलन शुरू हो गया। परन्तु हिन्दी में उस समय उर्दू की तरह उच्चकोटि का पद्य या गद्य साहित्य का अभाव था, इस कारण शिक्षालयों के लिए पुस्तकों के बिना कोरा आन्दोलन कब तक चलाया जा सकता था। अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन अनेक हिन्दू लेखकों ने हिन्दी में समाचार पत्र और पत्रिकाएँ निकालीं, पुस्तकों की रचना बड़ी लगन के साथ शुरू कर दी और हिन्दी-आन्दोलन कुछ समय तक मध्यम पड़ा रहा। परन्तु जब पण्डित मदनमोहन मालवीय ने 'शुद्धि' और 'संगठन' आन्दोलन शुरू किये तब हिन्दी को राजकीय भाषा बनाने के लिए भी एक व्यापक कार्यक्रम बनाया और इससे हिन्दी-आन्दोलन में पुनः जान पड़ गयी। यहाँ तक कि मध्यदेश के बाहर पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रान्त के हिन्दुओं तक में हिन्दी प्रेम उमड़ पड़ा, यद्यपि पहले उन्होंने कभी हिन्दी का नाम भी नहीं सुना था और अपने घरों में वे सदियों से उर्दू ही बोलते आये थे। यह साबित करने की कोशिश की गयी कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है, अतः विदेशी और अभारतीय है। वस्तुतः सत्य इसके विपरीत है। मुसलमानों की अपनी भाषा फ़ारसी थी, परन्तु उन्होंने हिन्दुस्तान में आकर अपनी भाषा त्यागकर यहीं की भाषा अपना ली थी। अरबी-फ़ारसी के शब्दों के मिश्रण से तो यहाँ की भाषा की अभिव्यंजना शक्ति ही बढ़ी। वह अधिक बारीक-बुलन्द ख़यालों को व्यक्त करने योग्य बन गयी। यह नयी भाषा उर्दू संस्कृत-फ़ारसी से बनी थी, अतः कदापि अकेले मुसलमानों की भाषा न थी। परन्तु एक राष्ट्रीयता के लिए एक राष्ट्रभाषा के समर्थक वस्तुतः साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रेरित थे और वे हिन्दुओं के लिए एक नयी भाषा गढ़कर भारत की एकता की जड़ें स्वयं खोद रहे थे। सरसैयद अहमदखाँ आदि ने इसका भरसक विरोध किया, परन्तु हिन्दू साम्प्रदायिकता के उन्माद में किसी को सत्य न दिखायी दिया और हिन्दी-उर्दू का व्यवधान बढ़ता गया, यहाँ तक कि अब हिन्दी इतनी संस्कृतमय हो गयी है कि आम जनता उसको समझ ही नहीं सकती। वह केवल शिक्षित हिन्दुओं के साम्प्रदायिक अहंकार को ही सन्तुष्ट करती है। **इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि सन् १९०० में हिन्दी भी उर्दू के समान ही अदालती भाषा मान ली गयी और दफ़्तरों में उसका प्रयोग होने लगा। हिन्दी प्रचार के लिए सन् १९१० में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की नींव डाली गयी और तब से कांग्रेस के नेता और दूसरे हिन्दू नेता उसमें प्रमुख भाग लेते रहे हैं। कांग्रेस ने सन् १९३१ के प्रस्ताव में** 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया, परन्तु गाँधीजी ने सन् १९३६ में भारतीय परिषद् के नागपुर अधिवेशन से राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' पास करवाया। जब मौलमी अब्दुलहक़ आदि ने इसका विरोध किया तो गाँधीजी को अपनी त्रुटि का ज्ञान हुआ। परन्तु वे बहुत देर से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक बने जबकि ऐसा करना उर्दू के खिलाफ़ मोर्चा बदलना मात्र था, हिन्दी-उर्दू समस्या का हल नहीं था। गाँधीजी अब

सम्मेलन से अलग हो गये हैं, क्योंकि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने में असमर्थ हैं। किन्तु उर्दू-हिन्दी के भेद को बढ़ाने में उनका कितना बड़ा हाथ है, इसका वे स्वयं अनुमान नहीं लगा सकते। इसी की प्रतिक्रिया हुई कि मुस्लिम लीग ने भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न में दिलचस्पी ली और उर्दू के पक्ष में सन् १९३८ के लखनऊ अधिवेशन में प्रस्ताव पास कर दिया। सर तेजबहादुर सप्रू जैसे निष्पक्ष व्यक्ति भी हिन्दी वालों की संकीर्ण मनोवृत्ति से क्षुब्ध हैं, और उन्होंने अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू के सभापति पद से अपील की कि जाति-धर्म का विचार न करके सभी विचारशील लोगों को चाहिए कि वे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की एकता के इस पवित्र संबल 'उर्दू' को हाथ से गिरने न दें।

भाषा-शास्त्रीय—भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से देखने का तात्पर्य यह नहीं है कि ११वीं सदी की 'भारतीयता' की कसौटी पर हिन्दुस्तान की अन्य भाषाओं से उर्दू का साम्य अथवा असाम्य सिद्ध किया जावे। यह भाषाशास्त्र का ऐतिहासिक मूल्यांकन करना नहीं होगा। भाषाओं के इतिहास को एक गत्यात्मक विकास-क्रम के रूप में देखना चाहिए जिसमें नये प्रभाव अपनी प्रक्रिया से विकास की नयी दिशाएँ खोल देते हैं। पिछले १ हज़ार वर्ष हिन्दुस्तान के इतिहास में इस दृष्टि से अपूर्व रहे हैं। इस बीच भाषा, न्याय, रहन-सहन, नैतिक आचार-विचार, साहित्य और कला के आदर्श इन सभी क्षेत्रों में दो महान संस्कृतियों (हिन्दू और मुस्लिम अथवा आर्य और सामी) का संगम होता रहा है। हमारी मौजूदा ज़िन्दगी के हर पहलू पर इस मिश्रण की अमिट छाप है। इसी का परिणाम है कि देश की समस्त भाषाओं में अरबी और फ़ारसी के हज़ारों शब्द इस तरह घुलमिल गये हैं जैसे यहीं के हों। द्राविड़ी-कुल की भाषाओं तक में अरबी-फ़ारसी के शब्द व्यवहृत होने लगे हैं, बंगाली, गुजराती, मराठी, बिहारी और हिन्दुस्तानी भाषाओं की बात तो अलग है; और पंजाबी, सिंधी, काश्मीरी आदि भाषाओं पर अरबी-फ़ारसी का बहुत गहरा प्रभाव है। इस प्रभाव को अस्वीकृत करके हिन्दुस्तान की भाषाओं में 'शुद्धि' का आन्दोलन चलाना और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बहिष्कार करना एक प्रकार से हिटलर की यहूदियों के प्रति बरती गयी नीति को भाषा के क्षेत्र में ग्रहण करना है।

उर्दू एक विदेशी भाषा है, उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों की बहुलता है—आदि भ्रान्तियों का खण्डन करना सरल है। सैयद अहमद देहलवी के प्रसिद्ध उर्दू शब्द-कोश 'फरहंग आसफ़िया' के अनुसार उर्दू के ५४००९ शब्दों में २१६४४ शब्द पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी और पूर्वी हिन्दी आदि के हैं, १७५०५ शब्द उर्दू तथा अन्य भाषाओं से मिलकर बने हैं। इस प्रकार ठेठ और व्युत्पन्न भारतीय शब्दों की संख्या ३९१४९ है। बाक़ी शब्दों में ७५८४ अरबी के हैं, ६०४१ फ़ारसी के, ५५४ संस्कृत के, ५०० अँग्रेज़ी के, और तुर्की, इबरानी, सुरयानी, यूनानी, पुर्तगाली, लातीनी, फ्रांसीसी, पाली, बर्मी, मलयालम, हस्पानवी आदि के मिलाकर कुल १८७ शब्द हैं। सामी भाषाएँ आर्य परिवार के बाहर की हैं। उनके (अरबी-सुरयानी) कुल ७६०२ शब्द उर्दू में हैं; आर्य-भाषाओं (हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी) के शब्द इससे ६ गुना ज़्यादा हैं। इससे सिद्ध है कि यद्यपि उर्दू आर्य और सामी भाषाओं का मिश्रित रूप है परन्तु

उसमें दोनों का अनुपात ६ और १ है, जिसके कारण वस्तुतः उर्दू एक आर्य-भाषा ही है। उर्दू के व्याकरण से भी यही सिद्ध है कि वह आर्य-परिवार की ही भाषा है क्योंकि उसकी ज़मीन खड़ी बोली है और खड़ी बोली के व्याकरण के अनुसार ही उर्दू के क्रिया, सर्वनाम, प्रत्यय, अव्यय आदि हैं। विलक्षण बात यह है कि 'फ़रहंग-आसफ़िया' के पश्चात् काशी नागरी-प्रचारणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी शब्द सागर' में, जिसमें शब्दों की संख्या ९३११५ है, 'फ़रहंग-आसफ़िया' के हिन्दी-उर्दू के प्रायः सभी शब्द सम्मिलित किये गए हैं। स्पष्ट है कि किसी उर्दू निबन्ध में से जिन शब्दों को चुन-चुनकर उनके प्रयोग का हिन्दी वाले विरोध करते हैं वे सब शब्द स्वयं उनके हिन्दी शब्दसागर में मिलते हैं। उदाहरण के लिए असा-सुल्बैत, आमेज़िश, आज़ुर्दा, आक़बत, इस्तेदाद, इजमाल, इतलाक़, इताअत, इत्तिहाम, इन-फ़िसाल आदि। हिन्दी शब्दसागर के विद्वान कोषकारों ने इन शब्दों को वर्जित क्यों नहीं ठहराया ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं है कि ये शब्द आमफ़हम हो गये हैं और यहाँ की भाषा में घुलमिल गये हैं ? परन्तु व्यवहार में इन शब्दों का बहिष्कार करके हिन्दू-मुसलमानों के सामान्य इतिहास की परम्पराओं को नष्ट करने की चेष्टा की जाती है, और उर्दू से अलग एक संस्कृतनिष्ठ शैली चलाकर हिन्दुओं के लिए एक अलग भाषा गढ़ने की कुघड़ कोशिश हो रही है। 'बल्कि' के स्थान पर 'किन्तु', 'लेकिन' की जगह 'परन्तु', 'जैसे' की जगह 'यथा' आदि का प्रयोग इस मनोवृत्ति के साधारण उदाहरण हैं।

व्यावहारिक—उर्दू पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से लेकर सुदूर दक्खिन और पूरब तक अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बन चुकी है, इसे सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि उर्दू सबसे आमफ़हम भाषा है। अखिल भारतीय कान्फ्रेन्सों में भाषण देते समय वक्ता उर्दू भाषा में ही बोलते हैं। आज भी उर्दू की समस्त परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों की संख्या में हिन्दू विद्यार्थियों का अनुपात मुसलमानों से बहुत कम नहीं रहता। हिन्दी-परीक्षाओं में कदाचित् ही कभी कोई मुसलमान बैठता हो। सन् १९३१ की जन-गणना से सिद्ध है कि उर्दू बोलने और समझने वालों की संख्या २५ करोड़ से ज़्यादा है। अतः यदि हिन्दू-सम्प्रदाय-वादी मुस्लिम-संस्कृति और साहित्य के प्रति थोड़ा सम्मान दिखाने को तैयार हों तो उर्दू को राष्ट्रभाषा मान लेने से कोई व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होने की संभावना नहीं है।

(ग) **लिपि : क़ौमी रस्मुलख़त फ़ारसी हो।** ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से फ़ारसी लिपि का ही प्रयोग समीचीन होगा।

ऐतिहासिक—फ़ारसी लिपि कई सौ वर्षों तक राष्ट्र लिपि रह चुकी है। मुसलमान शासकों के काल में राजकीय कार्यों में फ़ारसी लिपि ही चलती थी। अँग्रेज़ों ने भी प्रारम्भ में राजकीय कार्यों के लिए उर्दू लिपि को ही स्वीकार किया। इससे कभी किसी को कोई कठिनाई नहीं हुई और न इससे अन्य भाषाओं के विकास पर कोई बुरा प्रभाव ही पड़ा। प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य उनकी अपनी लिपियों में ही लिखा जाता रहा। जो लिपि हिन्दू और मुसलमानों द्वारा समान रूप से प्रयुक्त होती रही है उसे हिन्दू सम्प्रदायवादियों के दुराग्रह से छोड़कर एक ऐसी लिपि को स्वीकार करना जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की नहीं

वरन् उनके पृथकत्व की प्रतीक है, सच्ची राष्ट्रीयता नहीं है। वस्तुतः उर्दू लिपि ज्यों-की-त्यों फ़ारसी लिपि नहीं है वरन् भारतीय ध्वनियों के लिए आवश्यक संकेत चिन्ह जोड़कर फ़ारसी लिपि का रूपान्तर करके बनी है, इस प्रकार यह लिपि आर्य-सामी भाषाओं के मिश्रण से उत्पन्न उनके ध्वनि-सामंजस्य को प्रकट करती है। देवनागरी लिपि में यह बात नहीं है।

व्यावहारिक—फ़ारसी लिपि दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती है जिसके कारण लिखने में सुविधा होती है। दाहिना हाथ स्वाभाविक रीति से बायीं ओर को चलता है। दूसरे जिस द्रुत-गति से उर्दू लिपि लिखी जाती है उतनी द्रुत-गति से अन्य कोई लिपि नहीं लिखी जाती।

इसमें सन्देह नहीं है कि इन गुणों के होते हुए भी उर्दू लिपि में अपूर्णताएँ और जटिलताएँ हैं। उर्दू के भाषा शास्त्री उनके प्रति उदासीन नहीं हैं। अंजुमन तरक़्की-ए-उर्दू की ओर से 'इसलाह रस्मुल ख़त' (लिपि-सुधार) की चेष्टा की जा रही है। उर्दू लिपि को सुधार कर ऐसा बनाया जा सकता है कि वह छापेखाने की सुविधाओं के अनुकूल भी हो और अक्षरों के उच्चारण और लिखावट में भी कोई दिक़्क़त न हो।

यदि हिन्दी वाले उर्दू लिपि को स्वीकार नहीं कर सकते तो फिर उचित होगा कि इस झगड़े को दफ़नाने के लिए रोमन लिपि को क़ौमी रस्मुलख़त मान लिया जाय। परन्तु इसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ ज्यादा पैदा होंगी।

संक्षेप में उर्दू वालों का दावा है कि उर्दू (अरबी-फ़ारसी मिश्रित खड़ी बोली) ही समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है और उर्दू लिपि ही राष्ट्र-लिपि बन सकती है।

तीन : हिन्दुस्तानी—(क) राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दुस्तानी हो। ऐतिहासिक और व्यावहारिक दृष्टि से यही नाम समीचीन है।

ऐतिहासिक—हिन्दुस्तानी नाम का प्रयोग सबसे पहले पुर्तगालियों और अंग्रेज़ों ने उत्तर-भारत के हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भाषा के लिए किया। तब से हिन्दुस्तानी नाम इसी अर्थ में प्रयोग में आ रहा है। वास्तव में हिन्दुस्तानी ही मूल बोली है जिसकी दो शैलियाँ बन गयी हैं, एक अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से उर्दू, और दूसरी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दी। जॉन गिलक्राइस्ट ने स्वयं हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में सोलह पुस्तकें लिखीं और फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा में पुस्तकें अनुवाद कराने के लिए पण्डित सदल मिश्र और पण्डित लल्लूलाल और मीर 'अम्मन' देहलवी आदि को नियुक्त किया। डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तानी की व्याख्या देते हुए लिखा है कि हिन्दुस्तानी मुख्यतः उत्तरी दो आब (अन्तर्वेद) की भाषा है, पर साथ ही समस्त भारत की राष्ट्रभाषा भी। उसे दोनों देवनागरी और फ़ारसी लिपियों में लिखा जा सकता है, और साहित्य के लिए प्रयोग करते समय विशुद्धता पर ज़ोर न देकर उसे अत्यधिक फ़ारसी अथवा संस्कृतनिष्ठता से बचाया जा सकता है।

व्यावहारिक—हिन्दुस्तानी नाम व्यावहारिक दृष्टि से इसलिए भी उपयुक्त है कि

इस समय हिन्दी और उर्दू से जिन भाषा-शैलियों का बोध होता है उनमें से कोई अकेली समस्त भारत की राष्ट्रभाषा के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक और मान्य नहीं है। हिन्दू 'उर्दू' शब्द को स्वीकार नहीं कर सकते, यद्यपि उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा नहीं है। और मुसलमान 'हिन्दी' शब्द को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि हिन्दुओं ने सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी को संस्कृतमयी बना कर उसका एक विशेष संस्कृति और धर्म से गठबन्धन कर दिया है। अतः हिन्दुस्तानी शब्द ही सबको समान रूप से मान्य हो सकता है।

(ख) **राष्ट्रभाषा का स्वरूप हिन्दुस्तानी हो।** ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रभाषा का हिन्दुस्तानी स्वरूप ही उपयुक्त है।

ऐतिहासिक--हिन्दुस्तानी में पर्याप्त साहित्य मिलता है। मुन्शी इन्शाअल्लाह की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दुस्तानी भाषा में ही लिखी गयी है। इनके अतिरिक्त सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, विहारी, नाथूराम शंकर शर्मा आदि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी कवियों की पर्याप्त संख्या में ऐसी कविताएँ मिलती हैं जिनमें भाषा का आदर्श सरल, सुबोध हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तक के हिन्दी लेखक भी अपने निबन्धों और कविताओं में उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। प्रेमचन्द की भाषा को हिन्दुस्तानी की आदर्श भाषा कह सकते हैं। इसी प्रकार उर्दू के प्रसिद्ध कवियों वली, सौदा, मीर, इन्शा, ज़फ़र, नज़ीर, हाली और अक़बर की कविताओं में हिन्दुस्तानी के श्रेष्ठ नमूने मिलते हैं।

भाषा-शास्त्रीय—भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दुस्तानी वह भाषा है अथवा होगी जिसमें खड़ी बोली के ठेठ शब्दों के अतिरिक्त फ़ारसी-अरबी के वे सब शब्द जिनका प्रयोग हिन्दी लेखकों और कवियों ने किया है तथा संस्कृत के वे शब्द जिनका प्रयोग उर्दू लेखकों और कवियों ने किया है—अर्थात् अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के समान रूप से हिन्दू-मुसलमानों में प्रचलित शब्द—प्रयोग में आते हैं अथवा आयेंगे। इसमें भाषा को कुघड़ और विरूप बनाने का प्रश्न नहीं उठता। प्रत्युत इससे भाषा अधिक सरल, सुबोध, मधुर और प्रसाद-गुणयुक्त बन जायगी। इस प्रकार के शब्दों का एक प्रमाणिक शब्द-कोश तैयार करना परम आवश्यक है। उसमें एक ही शब्द के लिए कई पर्यायवाची शब्द भी रहेंगे, परन्तु इससे भाषा की समृद्धि ही प्रकट होगी। पारिभाषिक शब्दों के लिये संस्कृत, अरबी और अंग्रेज़ी, तीनों से मुक्त हृदय से शब्द उधार लिये जा सकेंगे।

व्यावहारिक—व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी ही सबसे अधिक प्रचलित भाषा है। वक्ता हिन्दू मुसलमानों की सम्मिलित सभाओं में हिन्दुस्तानी में ही बोलकर जनता को अपना मन्तव्य समझा पाते हैं। आमतौर पर अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में लोग हिन्दुस्तानी का ही प्रयोग करते हैं और रोज़मर्रा की बोलचाल में भी हिन्दुस्तानी का ही प्रयोग होता है, संस्कृतमयी अथवा अरबी-फ़ारसीमयी भाषा का प्रयोग पण्डितों और मौलवियों के घरों में भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुसलिम संस्कृतियों में से किसी एक के प्रति पक्षपात की बू हिन्दुस्तानी में नहीं मिलती। वह दोनों के योगदान को स्वीकार करती है

और उसे अभिव्यक्ति देती है। इसमें सन्देह नहीं है कि वर्तमान स्थिति में हिन्दुस्तानी का कोई सार्वदेशिक आदर्श रूप नहीं हो सकेगा। उत्तर भारत में उर्दू की अधिक पुट होगी और मध्य और दक्षिण-पूर्व भारत में उसमें संस्कृत की अधिक पुट होगी। अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की सुविधा के लिए यह अनिवार्य होगा।

हिन्दी और उर्दू अपना स्वतन्त्र विकास करने के लिए स्वाधीन होंगी। वस्तुतः वे ही साहित्य की भाषाएँ होंगी, हिन्दुस्तानी केवल राजकीय और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा होगी।

(ग) **राष्ट्रलिपि देवनागरी और उर्दू दोनों हों।** व्यावहारिक दृष्टि से दोनों ही लिपियों का रखना अपेक्षित है।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न अन्ततोगत्वा हिन्दू-मुस्लिम समस्या का प्रश्न भी है। इस समय जैसी स्थिति है दोनों में से कोई एक लिपि सर्वमान्य नहीं हो सकती। इस कारण दोनों लिपियों का रखना अनिवार्य होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी का दोनों लिपियों में प्रचार करने के लिए जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति दोनों लिपियाँ सीखे। इससे हिन्दी-उर्दू का शैली-भेद भी धीरे-धीरे कम होता जायगा। और सम्भव है कि राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास होने पर दोनों धाराएँ मिलकर एक हो जाँय और समूचे भारत की एक ही राष्ट्रभाषा और एक ही लिपि बन जाय।

संक्षेप में हिन्दुस्तानी वालों का दावा है कि हिन्दुस्तानी (प्रचलित अरबी, फ़ारसी, संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली) समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है और दोनों देवनागरी और फ़ारसी लिपियाँ समान भाव से राष्ट्रलिपियाँ मानी जायँ।

हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के समर्थक अपने दावों को हमेशा इतने धीरज और तार्किकता से नहीं समझाते, ऐसा उपक्रम तो वे तभी करते हैं जब विवाद पत्र-पत्रिकाओं में चलता है और उसमें कोरी भावुकता और प्रमादभरी उक्तियों का कोई प्रचार-मूल्य नहीं रहता। अन्यथा सम्मेलनों और सभाओं के मंचों से जो गलेबाज़ी की जाती है उसमें अपने हर विपक्षी को भाषण-कला की सहज-रीति के अनुसार लांछनों और आरोपों से मढ़ दिया जाता है, एक बड़े षड्यन्त्र या कुचक्र की चेतावनियाँ दी जाती हैं और जो विषय शान्त वातावरण में गम्भीरतापूर्वक विद्वानों द्वारा सोचने समझने का है, उसे साम्प्रदायिक भावनाएँ उभारने का साधन बना लिया जाता है। यह दिन-प्रतिदिन की बात है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू दोनों ही इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं और अपने-अपने दोषों की गठरी दूसरे के सिर पर पटककर स्वयं निर्दोष होने का पाखण्ड रचते हैं। अबौद्धिकता ही जैसे तीनों दलों का मूलमन्त्र है। हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का विवाद राजा लक्ष्मणसिंह अथवा उनसे भी पहले से चला आ रहा है, इस पर सहस्रों पृष्ठ रँगे जा चुके हैं, हजारों सभा-मंचों से धुंआधार भाषण दिये गये हैं, अनेक कॉन्फ्रेन्सों और सम्मेलनों में कथित विद्वानों ने इस प्रश्न पर सोचा है और परामर्श दिये हैं, परन्तु इस समस्या का जो रूप पहले था, उसमें आज और ज्यादा उग्र हो गया है, जो तर्क पहले दिये जाते रहे हैं, वे

ही आज भी दिये जाते हैं, जो लांछन और आरोप पहले लगाये जाते थे, वे आज भी वैसे ही लगाये जाते हैं। अर्थात् इन तीनों दलों के कर्णधारों की समझ एक ही स्थान पर अङ्गद का पाँव रोपकर बैठ गयी है और अब बस अनियन्त्रित उद्गारों और आवेशपूर्ण भावनाओं का विस्फोट ही आये दिन इस बात की साक्षी देता रहता है कि यह समझ एकदम जड़ नहीं हो गयी है।

बहुधा सूक्ष्म भाव चेतना के सुसंस्कृत विचारकों को जब इस विवाद में साग्रह घसीट लिया गया है तब उन्होंने इसके विषाक्त वातावरण से खिन्न होकर प्रतिवाद किया है कि इस बहस में तरह-तरह के अनधिकारी व्यक्ति घुस आये हैं, और विभिन्न विरोधी राजनीतिक दलों के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने तो जैसे इन बहसों के मंच पर क़ब्जा ही जमा लिया है। कोई किसी की बात नहीं सुनना चाहता, जब कि राष्ट्रभाषा क्या हो, क्या न हो, एक अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और भाषाशास्त्री और शिक्षाविद् ही मिलकर इसका कोई सर्वमान्य उत्तर दे सकते हैं। जिस प्रश्न का निर्णय बुद्धि और विज्ञान को करना चाहिए था, उसका निर्णय लोग अपने-अपने दल की ताक़त के बल पर करना चाहते हैं। राजनीतिज्ञों ने इस विवाद में पाँव रखकर राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक अंग बना दिया है। और जब तक हिन्दू-मुस्लिम समस्या का कोई हल नहीं हो पाता, तब तक इस प्रश्न का हल भी असम्भव रहेगा।

हमारी दृष्टि में राष्ट्रभाषा के विवाद में राजनीतिज्ञों का प्रवेश क्षोभ का कारण नहीं बनना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता हमारे लिए तभी अनिवार्य हो सकी जब देश में राष्ट्रीय जागरण एक सीमा तक पहुँच गया। सामान्य राजनीतिक आकांक्षा की अभिव्यक्ति के लिए एक सामान्य राष्ट्रभाषा का अभीष्ट हो जाना स्वाभाविक है। और इस सम्बन्ध में जो विवाद उठे, उससे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं और विचारकों का तटस्थ रहना अनपेक्षित होता। क्षोभ केवल इस बात पर किया जा सकता है कि राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने इस विवाद में तर्क की राजनीतिक विधि से ही काम लिया, पूर्व-निश्चित धारणाओं को लेकर वे आग्रह-दुराग्रह में पड़ गये। उन्होंने यह नहीं विचारा कि भाषा का प्रश्न राजनीतिक नहीं, वरन् सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रश्न है, अतः उसमें यथावसर कामचलाऊ समाधान ढूँढ़ने से काम नहीं चल सकेगा। उनका सोचने-समझने का तरीक़ा इतना सरल और साधारण है कि उसका प्रभाव भाषा-शास्त्रियों और शिक्षाविदों पर भी पड़ा है जिससे भाषा-शास्त्रियों ने समझा कि राष्ट्रभाषा क्या हो, क्या न हो, का प्रश्न वस्तुतः भाषा का प्रश्न नहीं वरन् बीजगणित अथवा अंकगणित का प्रश्न है और प्रत्येक दल के भाषाविद् अंकों की गणना करके विपक्षी भाषाओं के मुक़ाबले में अपनी भाषा के दावे का औचित्य सिद्ध करने लगे। इस प्रकार न भाषा-शास्त्रियों ने और न राजनीतिज्ञो ने ही इस समूचे विवाद का कोई समुचित समाधान उपस्थित करने की कभी कोई गम्भीर चेष्टा की। अपनी पूर्वनिश्चित धारणाओं को प्रमाणित करने में ही उन्होंने अपनी गंभीर विचार-शैली की चरम-सिद्धि मान ली। इस बात का प्रमाण यह है कि तीनों दलों के तर्कों, आरोपों

और समाधानों में एक विलक्षण साम्य है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले तीनों पक्ष इतिहास, भाषा-शास्त्र और व्यवहार की कसौटी पर परखवा कर अपने-अपने दावों को न्यायसंगत प्रमाणित करते हैं। तीनों इतिहास की साक्षी देकर यह सिद्ध करते हैं कि हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा के लिए सबसे उपयुक्त नाम है। तीनों दलों के अनुसार यथाक्रम प्रत्येक नाम हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक है। प्रत्येक दल का दावा है कि सच्चे अर्थों में उसकी भाषा भारतीय है, साम्प्रदायिक नहीं। सन् १६३१ की जन-गणना के आधार पर प्रत्येक भाषा के बोलने वालों की संख्या २५ करोड़ साबित की जाती है। कभी-कभी बड़ी मनोरंजक घटनाएँ भी हो जाती हैं। श्री कन्हैयालाल मुंशी जब महात्मा गाँधी के अनुयायी थे, तब उन्होंने सन् १६३१ की जन-गणना के आँकड़ों के आधार पर हिन्दुस्तानी बोलने वालों की संख्या २५ करोड़ बताकर हिन्दुस्तानी का दावा पेश किया और इस वर्ष जब वे जयपुर सम्मेलन के सभापति चुन लिये गये तो उन्होंने अपने अभि-भाषण में उसी जन-गणना के आँकड़े हिन्दी का दावा सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किये। इस प्रकार इन दावों में सत्य पर कितना जोर दिया जाता है, यह अनुमेय है। अवसर-सिद्धि में जो साधन बने, वही सत्य है—कुछ ऐसी नीति तीनों दल प्रयोग में ला रहे हैं। प्रत्येक भाषा को १४ करोड़ की मातृभाषा बताया जाता है। हिन्दी वालों की मान्यता है कि उर्दू कोई पृथक् भाषा नहीं है, वह केवल हिन्दी की ही फ़ारसी-अरबी-प्रधान एक शैली है। इसके विपरीत उर्दू वाले हिन्दी को कोई भाषा नहीं मानते; उनके अनुसार वह उर्दू की ही संस्कृत-प्रधान शैली है। हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी और उर्दू दोनों को हिन्दुस्तानी की ही दो भिन्न साहित्यिक शैलियाँ सिद्ध करते हैं। प्रत्येक दल का दावा है कि हिन्दू-मुसलमानों के सम्मिलित प्रयत्न से उसकी भाषा के साहित्य का निर्माण हुआ है। प्रत्येक का सुविचारित अनुमान है कि केवल उसकी ही भाषा व्यावहारिक दृष्टि से समूचे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।

इन स्थापनाओं के अतिरिक्त तीनों के एक-दूसरे के विरुद्ध आरोप भी एक-से हैं। हिन्दी वालों की शिकायत है कि उर्दू वाले अरबी-फ़ारसी के शब्द ठूँसकर एक नयी कृत्रिम भाषा गढ़ रहे हैं, उर्दू वालों की भी यही शिकायत है कि हिन्दी वाले संस्कृत के तत्सम शब्द ठूँसकर एक कृत्रिम भाषा गढ़ रहे हैं और हिन्दुस्तानी वालों को दोनों से शिकायत है कि वे उनकी भाषा की ऐसी खींचतान कर रहे हैं। हिन्दी वालों की दृष्टि से उर्दू वालों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और मुस्लिम साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। उर्दू वालों की दृष्टि से हिन्दी वालों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है, और हिन्दू साम्प्रदायिकता से प्रेरित है। हिन्दुस्तान वालों की दृष्टि से इन दोनों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक और अराष्ट्रीय है और हिन्दी-उर्दू वालों की संकीर्ण और हीन मनोवृत्ति पर क्षुब्ध होकर वे गहरे आत्म-संतोष की दीर्घ श्वास लेते हैं कि भगवान की दया से उन्होंने अभी तक अपने दामन को पाक रखा है। और उनकी यह आशा कि राष्ट्रीय भावनाओं का व्यापक प्रसार होते ही इस मनोवृत्ति का अन्त हो जायगा, उनको हिन्दी और उर्दू के पृथक्

उत्थान के मूल कारणों की खोज में अपना मस्तिष्क खपाने से अवकाश दे देती है।

इन दलों की स्थापनाएँ और एक दूसरे के विरुद्ध आरोप ही एक-से हों, केवल इतना ही नहीं है। वे जो राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान उपस्थित करते हैं उनमें भी एक विलक्षण साम्य है। तीनों दल यह अनुभव करते हैं कि एक अखिल-भारतीय राष्ट्रभाषा की परम आवश्यकता है और वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतीक होनी चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे इस बात का भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी और उर्दू के बीच का उत्तरोत्तर बढ़ता व्यवधान किसी प्रकार कम होना चाहिए और यदि संभव हो तो दोनों भाषाओं को एक हो जाना चाहिए। इसके लिए बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन, मौलवी अब्दुल-हक़ और महात्मा गांधी, तीनों एक सामान्य शब्द-कोष का प्रस्ताव करते हैं। उनका विचार है कि ऐसे शब्द-कोष के बनते ही जिसमें हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के प्रचलित शब्द संग्रहीत हों, इस समस्या का हल अपने आप हो जायगा। फिर केवल थोड़ा प्रचार करने की जरूरत रह जायगी ताकि लेखक संस्कृत और फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों का बहुल प्रयोग करने का दुराग्रह छोड़ दें। परन्तु वे साथ ही इस बात का भी अनुभव करते हैं कि कदाचित् अब यह सम्भव न हो सके। हिन्दी और उर्दू की दो भिन्न शैलियाँ बन चुकी हैं और सूक्ष्म भावनाओं और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये लेखक तत्सम शब्दों के प्रयोग का मोह न छोड़ेंगे। अतः वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रभाषा का आधार बोल-चाल की भाषा हो (हिन्दी वालों के अनुसार हिन्दी, उर्दू वालों के अनुसार उर्दू और हिन्दुस्तानी वालों के अनुसार हिन्दुस्तानी) और उच्च शिक्षा और साहित्य के माध्यम के रूप में हिन्दी और उर्दू अपने वर्तमान रूप में ही विकास करती रहें। यदि उर्दू वाले बोल-चाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लें तो वे साहित्यिक भाषा के रूप में उर्दू का पृथक् विकास करते रहें, इससे हिन्दी वालों को आपत्ति न होगी। उर्दू वाले कहते हैं कि हिन्दी वाले यदि बोल-चाल की उर्दू को राष्ट्रभाषा मान लें तो हिन्दी के साहित्यिक विकास से उन्हें कभी कोई आपत्ति न होगी। हिन्दुस्तानी वाले कहते हैं कि दोनों दल यदि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लें तो हिन्दी-उर्दू के पृथक् साहित्यिक-विकास के मार्ग में वे अवरोध न बनेंगे। परन्तु बोल-चाल की भाषा का रूप निश्चित करते समय पुनः दुर्निवार कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उत्तर भारत में उसका जो रूप है वह मध्य और दक्खिन-पूरब भारत में नहीं है। अतः तीनों दल यह भी स्वीकार करते हैं कि पश्चिमोत्तर भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में उर्दू-फ़ारसी की अधिक पुट रहेगी और दक्षिण अथवा पूरबी भारत में राष्ट्रभाषा उर्दू पर संस्कृत की छाप अधिक रहेगी। इस प्रकार हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी किसी एक को राष्ट्रभाषा बना देने पर भी उत्तर और दक्षिण की शैलियों में भेद तो बना ही रहेगा, इस बात को तीनों दल स्वीकार करते हैं। अतः यह सारा विवाद किस लिये है, यह तथ्य भ्रान्ति में पड़ जाता है। इस बहस का अध्ययन करके कोई निष्पक्ष व्यक्ति यह नहीं समझ सकता कि अखिल भारतीय एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सर्वमान्य भाषा आदि शब्दों का इस बहस में प्रयोग केवल दिखावे के लिए किया जाता है

या वस्तुत: एक सर्वमान्य राष्ट्रभाषा की संभावनाओं के यथार्थ ज्ञान से। सच तो यह है कि इन शब्दों के पीछे किसी सच्ची भावना और समझ का आभास नहीं मिलता, केवल प्रथा-पालन के लिए ही उन्हें दुहराया जाता है।

इस स्थल पर प्रगतिवादियों के दृष्टिकोण का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। प्रारम्भ से ही प्रगतिवादी राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी का समर्थन करते आये हैं। इस समर्थन के लिए उन्हें तीन बातों से प्रेरणा मिली। पहली बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानी को उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक समझा और चूँकि प्रगतिवादी साम्प्रदायिकता से दूर रहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने हिन्दी अथवा उर्दू के पक्षों को साम्प्रदायिक पक्ष मानकर उनके दृष्टिकोण को समझना अवांछनीय माना। दूसरे, इससे उन्हें राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गहराई से सोचने से जैसे छुट्टी मिल गयी और सरल समाधानों को ही स्वीकार करके उन्होंने अपनी इतिकर्तव्यता मान ली। तीसरे, प्रगतिवादी आन्दोलन में हिन्दी और उर्दू के प्रमुख लेखक एक ही संगठन में एकत्र होते थे, अत: यह और भी ज़रूरी था कि हिन्दी अथवा उर्दू में से किसी एक का पक्ष न लिया जाय बल्कि दोनों की ऐतिहासिक परम्पराओं की एकता पर ज़ोर दिया जाय। इससे तथ्य-निरूपण की एकांगी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर भी प्रगतिवादी असन्तुष्ट नहीं हुए। फिर भी दोनों लिपियों का प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सीखना व्यावहारिक सिद्ध न हो सका। प्रगतिवादी अपनी तर्क-पद्धति से किसी एक लिपि का पक्षपात करके हिन्दी-उर्दू के लेखकों का संयुक्त मोर्चा क़ायम न रख सकते थे, अत: लिपि के प्रश्न पर उनको पलायन का मार्ग ही इष्ट हुआ और उन्होंने न फ़ारसी और न देवनागरी बल्कि रोमन लिपि का मत प्रतिपादित किया। डॉ० अब्दुल अलीम ने, जो उस समय (सन् १६३६ में) अखिल-भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रधान मन्त्री थे, 'नया भारतीय साहित्य' (अँग्रेज़ी) में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एक निबन्ध लिखा जिसकी विचारधारा का मूलाधार यही था। परन्तु जब राष्ट्रभाषा के विवाद में और अधिक कटुता आने लगी तो प्रगतिवादी इस प्रश्न से तटस्थ-से हो गये। मैंने स्वयं 'हंस' के सम्पादन काल में 'हिन्दुस्तानी की भ्रूण-हत्या का प्रयत्न' शीर्षक टिप्पणी में इस विवाद में आयी कटुता का विरोध करके हिन्दुस्तानी का पक्ष-समर्थन किया था। फिर भी प्रगतिवादियों की तटस्थता की नीति पूर्ववत् जारी रही, क्योंकि इस प्रश्न पर उन्होंने नया कुछ सोचा नहीं था और पुराने तर्कों को दुहराने से कोई लाभ न था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रगतिवादियों में विचार-मंथन न हो रहा था। गत वर्ष से वे पुन: इस प्रश्न पर सोचने लगे हैं, कारण वे अब स्वयं सरल-समाधानों की व्यर्थता का अनुभव करने लगे हैं और इस बात की आवश्यकता उन्हें महसूस हो रही है कि इस समूचे प्रश्न पर नये सिरे से रूढ़ सीमाओं को तोड़कर आमूल सोचा जाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर अब तक जिन्होंने सोचा है उनमें केवल पण्डित जवाहरलाल और डॉ० तासीर ने ही पुरानी लकीर पीटने से इन्कार किया है यद्यपि वे भी पुरानी धारणाओं की सीमा से एकदम बाहर नहीं निकल सके। पण्डित जवाहरलाल ने अपने निबन्ध

'राष्ट्रभाषा का प्रश्न' में राष्ट्रभाषा की बहस को नाम, स्वरूप और लिपि तक ही सीमित रखने को श्लाघ्य नहीं माना, उन्होंने उसे अधिक मौलिक प्रश्नों से सम्बद्ध करने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि मूल प्रश्न तो यह है कि सार्वजनिक शिक्षा की योजना बनाते समय हमारी भाषा सम्बन्धी नीति क्या होगी, भाषा के द्वारा हम देश की एकता किस प्रकार और स्थायी बना सकते हैं और साथ ही किस प्रकार अपनी महान विरासत के वैविध्य को सुरक्षित रख सकते हैं। इन मौलिक प्रश्नों का पण्डित नेहरू ने उत्तर देने का प्रयत्न किया, परंतु वे इस पूर्वधारणा को लेकर चले कि हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है; अतः अपनी समस्त उदार चेतना के बावजूद वे अनेक जटिल प्रश्नों से कतरा जाने के लिए विवश हुए। उन्होंने अनेक भ्रांत धारणाओं को प्रामाणिक स्वीकार कर लिया, जैसे वर्तमान प्रान्तीय सीमाओं को उन्होंने भाषागत आधार पर बनी सीमाएँ स्वीकार किया, हिन्दुस्तानी को समस्त उत्तर भारत की मातृभाषा माना, उर्दू को नगरों और हिन्दी को गाँवों की भाषा कहा—इस प्रकार अनेक प्रचलित धारणाओं को आधार मानकर उन्होंने राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझाने की चेष्टा की। फलतः स्वयं एक लेखक और संस्कृत व्यक्ति होने के कारण जहाँ उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि हिन्दी-उर्दू का भेद एक स्वस्थ विकास है क्योंकि दो दिशाओं का यह विकास दो सांस्कृतिक परम्पराओं द्वारा नये विचारों और नयी शैलियों के माध्यम से उत्कृष्ट साहित्यिक भाव-वस्तु को अभिव्यक्ति देने की उदात्त चेष्टा का परिणाम है और दोनों का यह विकास-भेद जारी रहेगा, और इससे घबराने की कोई बात नहीं है; वहाँ हिन्दुस्तानी और एक राष्ट्रभाषा की पूर्वनिश्चित धारणाओं में बंधे रहने के कारण उन्होंने ऐसे निराधार उद्गार भी प्रकट किये कि राष्ट्रीय एकता की भावना के प्रबल होते ही दोनों भाषाएँ एक-दूसरे में मिलकर एक हो जाएँगी। पण्डित नेहरू की विचार-पद्धति के मूल में जो विरोधाभास था उसके कारण वे कोई सही समाधान उपस्थित करने में असमर्थ रहे। अतः हल पाने के लिए उन्होंने भी पुराने सरल-समाधानों को ही अपनाया अर्थात् यह कि 'बेसिक-हिन्दुस्तानी' का विकास किया जाय, पारिभाषिक शब्दों का एक हिन्दुस्तानी कोष तैयार किया जाय और राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार पर जोर दिया जाय, वैसे हिन्दी और उर्दू अन्य प्रान्तिक भाषाओं की तरह अपना स्वतंत्र विकास करती रहें। दोनों लिपियाँ स्वीकार की जायँ, परन्तु हर व्यक्ति को दोनों लिपियों को सीखने के लिए बाध्य न किया जाय।

फिर भी पण्डित नेहरू ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सार्वजनिक शिक्षा के व्यापक प्रश्न से सम्बद्ध किया और उस पर अपने निबंध में विस्तारपूर्वक विचार किया। परन्तु इसके पश्चात भी अन्य सभी विचारक इस मौलिक प्रश्न की उपेक्षा करते गये और अपनी पुरानी लकीर ही पीटते गये।

डॉ० तासीर ने प्रथम बार 'एक राष्ट्रभाषा' की समस्त प्रचलित धारणाओं पर निर्भीक होकर आक्रमण किया। उन्होंने पहले तो भाषा-शास्त्र के इस नियम की ओर ध्यान दिलाया कि कोई भी जाति राजनीतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक प्रभाव या दबाव में

पड़कर विदेशी भाषा नहीं सीख लेती, जिसके कारण उसकी अपनी भाषा मिश्रित हो जाती है, बल्कि स्वयं उसकी मातृभाषा विदेशी भाषा के प्रभावों से मिश्रित बन जाती है। अर्थात् उर्दू भाषा हिन्दुस्तानी मिश्रित फ़ारसी नहीं है जिसके कारण विदेशी कही जा सके। वह फ़ारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) है अतः पूर्णतः भारतीय है। भाषा-शास्त्र के इस नियम को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दूसरे, भारत में आन्तरिक विरोध का कारण भाषा-भेद नहीं है। अनेक ऐसे राष्ट्र और जातियाँ हैं जिनमें सांस्कृतिक एकता के अनेक तत्त्व मिलते हैं परन्तु उनकी भाषाएँ भिन्न हैं। हिन्दी और उर्दू का भिन्न विकास हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के भिन्न विकास का परिणाम है, यद्यपि उनमें बहुत कुछ ऐक्य और साम्य भी है। अतः प्रश्न यह नहीं है कि इन दोनों धाराओं को पीछे मोड़कर पुनः उनका संगम करा देना चाहिए, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या ऐसा संगम संभव है? क्या ऐतिहासिक विकास-क्रम को पलट कर किसी धारा का पुनः प्रारंभ किया जा सकता है? तात्पर्य यह कि सारे देश की एकता को सिद्ध करने के लिए केवल **एक ही राष्ट्रभाषा** का आग्रह क्यों किया जाय? राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सीमाएँ क्या सदैव एक ही होनी चाहिए? डॉ० तासीर के अनुसार ऐसा अनिवार्य नहीं है। कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और अनेक दूसरे राष्ट्रों में एक से अधिक राष्ट्रभाषाएँ स्वीकृत हैं। अतः दोनों भाषाओं—हिन्दी और उर्दू को राष्ट्र-भाषाएँ क्यों न मान लिया जाय? हिन्दुस्तानी का अभी कोई रूप नहीं बना है, और जो भाषा अभी बनी नहीं है, उसे मानने के लिए गाँधी जी क्यों ज़ोर दें? परन्तु डॉ० तासीर भी इस तर्क-पद्धति पर आद्यन्त आरूढ़ न रह सके और उन्होंने भी अन्त में यही सुझाया कि यदि हिन्दुस्तानी बनाना ही है तो उसके शब्दों और व्याकरण का एक गुटका बनाया जाय, उसे सारे कांग्रेस जन सीखें और धीरे-धीरे हिन्दुस्तानी भाषा का विकास करें। तब तक जनता को हिन्दुस्तानी सीखने के लिए बाध्य न किया जाय।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि एक राष्ट्रभाषा हो, उसका एक ही स्वरूप और एक ही लिपि हो, तभी हमारी राष्ट्रीय एकता व्यक्त हो सकती है—यह धारणा एक प्रकार से सभी विचारकों का बद्धमूल संस्कार बन गयी है, जिससे वे इसकी परिधि से निकलने की चेष्टा करके भी नहीं निकल पाते।

इस बद्धमूल संस्कार के कारण राष्ट्रभाषा का प्रश्न एक अनबूझ पहेली बन गया है। हिन्दी, उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के समर्थक जो एक से ही दावे पेश करते हैं वे सब निश्चय ही एक साथ सत्य नहीं हो सकते। और जो वे अपनी-अपनी भाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व का दावा करते हैं वह दूसरे पक्ष के नकारने से असत्य भी नहीं हो सकता, अर्थात् हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं। हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। 'हिन्दुस्तानी' शब्द से यथावसर अन्यान्य अर्थों का बोध किया जाता है। कोई लेखक हिन्दी-समूह की सभी भाषाओं और बोलियों (खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, बाँगरू, बुन्देली, बघेली, कोसली, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि) के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग करता है, कोई केवल खड़ी बोली के लिए। वास्तव में हिन्दु-

स्तानी का प्रयोग केवल खड़ी बोली के अर्थ में होना चाहिए। यदि ऐसा है तो हिन्दी अथवा उर्दू से हिन्दुस्तानी कोई भिन्न भाषा नहीं रह जाती। महात्मा गान्धी और दूसरे विचारक भी हिन्दुस्तानी से खड़ी बोली का ही अर्थ लेते हैं, तभी वे यह दावा करते हैं कि हिन्दुस्तानी की ही जमीन पर हिन्दी-उर्दू का विकास किया गया है। ऐसी दशा में यह विचारणीय है कि खड़ी बोली (अर्थात् हिन्दुस्तानी) अपने प्रकृत रूप में साहित्य की भाषा नहीं है। हिन्दू संस्कृति के प्रभाव के अन्दर उसका जो रूप निखरा है वह आधुनिक हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली है) और मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में उसका उर्दू रूप विकसित हुआ है। अतएव जब हिन्दुस्तानी के समर्थक यह कहते हैं कि हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए तब वे इस बात को नहीं सोचते कि हमारे ऐतिहासिक विकास-क्रम ने खड़ी बोली के दो भिन्न साहित्यिक रूप विकसित किए हैं—वर्तमान हिन्दी और उर्दू। इन दो साहित्यिक रूपों के अतिरिक्त कोई तीसरा साहित्यक रूप जो इनसे सर्वथा भिन्न हो विकसित किया जा सकेगा, यह सन्दिग्ध है। केवल सन्दिग्ध ही नहीं, असम्भव भी है। राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) का यदि पुनः साहित्यिक संस्कार करने की चेष्टा की गई तो पश्चिमोत्तर और पूर्व-मध्य भारत में उसके पुनः दो रूप निखरेंगे जो आधुनिक हिन्दी और आधुनिक उर्दू की ही अनुकृति होंगे और इस प्रकार एक राष्ट्रभाषा गढ़ने का यह सारा संकल्प-अनुष्ठान एक प्राचीन ऐतिहासिक विकास-क्रम की ही पुनरावृत्ति करके अपनी व्यर्थता सिद्ध कर देगा। इस सम्भावना को गांधी जी और दूसरे हिन्दुस्तानी समर्थक भी स्वीकार करते हैं। अतः ऐसे प्रयोग में श्रम और साधन का अपव्यय कहाँ तक समीचीन है जो खड़ी बोली की दो भाषाओं के ऐतिहासिक विकासक्रम को थामने की चेष्टा करे पर अन्त में निष्फल होकर उस विकास-क्रम के अजस्र प्रवाह को पुनः मुक्त करने के लिए विवश हो जाय ? इस सम्भावना को स्वीकार करने से हिन्दुस्तानी के समर्थकों के कन्धों पर जो दायित्व आता है उससे वे अब तक बचने की चेष्टा करते आये हैं। यही कारण है कि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि पश्चिमोत्तर भारत में हिन्दुस्तानी अरबी-फ़ारसी-निष्ठ होगी और मध्य और दक्षिण भारत में संस्कृत-निष्ठ; और वे यह भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दी और उर्दू का स्वतन्त्र विकास होता रहेगा, परन्तु साथ ही वे हिन्दुस्तानी की मरीचिका के पीछे दौड़ना भी बन्द नहीं करते। यथार्थ-सत्य से आँख-मिचौनी खेलने का यह प्रयत्न उन्हें वैज्ञानिक चिन्तन के दायित्व से मुक्ति पाने के लिए विवश कर देता है और वे हिन्दुस्तानी के ऐसे राष्ट्रभाषा रूप की कल्पना करने लगते हैं जिसमें राष्ट्रभाषा बोल-चाल की ही भाषा होगी; अर्थात् आजकल सार्वजनिक भाषणों में जो भाषा प्रयुक्त होती है वही राष्ट्रभाषा का लिखित स्वरूप होगा। परन्तु विचारणीय प्रश्न केवल इतना है कि क्या राष्ट्रभाषा का उपयोग स्वतन्त्र भारत में केवल राजनीतिक व्याख्यानों तक ही सीमित रहेगा ? केन्द्रीय सरकार के दफ़्तरों में, विभिन्न विभागों में जब पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जायगा, तब वे शब्द बोल-चाल की भाषा से तो नहीं मिलेंगे। संस्कृत या अरबी-फ़ारसी या अंग्रेजी से ही वे शब्द लेने पड़ेंगे। इसमें ५०-५० का अनुपात रखने की

चेष्टा करना राजनीतिक क्षेत्र की बहसों को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रक्षेपित करना होगा। ऐसी कठिनाइयाँ रोज़ उठेंगी और किसी भी कृत्रिम उपाय से उनका निवारण न किया जा सकेगा। फिर राष्ट्रभाषा में यदि साहित्य न होगा (हिन्दुस्तानी के राष्ट्रभाषा हो जाने पर भी उच्च साहित्य तो हिन्दी और उर्दू में ही रचा जायगा) तो इसका अर्थ यह होगा कि उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक शिक्षा से राष्ट्रभाषा का कोई सम्बन्ध न रहेगा। देश की अनेक प्रान्तीय और जनपदीय भाषाएँ अनुन्नत और पिछड़ी हैं, उनमें अभी तक केवल नाम मात्र को ही साहित्य मिलता है। अतएव जब ऐसे जनपदों को अपनी ही मातृ-भाषाओं में सार्वजनिक रूप से प्राथमिक और उच्च-शिक्षा देने का प्रश्न उठेगा तब प्रारम्भ में उच्च-शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा को नहीं बनाया जायगा तब और कौन-सी भाषा इस दायित्व को निभायेगी ? सोवियत रूस आदि में जहाँ ऐसी ही स्थिति रह चुकी है, रूसी भाषा को ही तत्काल के लिए उच्च-शिक्षा का माध्यम बनाया गया था और ज्यों-ज्यों जनपदीय भाषाओं में साहित्य रचना होती गयी, वे स्वयं शिक्षा का माध्यम बनती गयीं। शिक्षा, रेडियो, सिनेमा, रंगमंच, इन सभी क्षेत्रों में उच्च सांस्कृतिक परम्पराओं की विकास-समृद्धि के लिए राष्ट्रभाषा को स्वयं ऐसी भाषा होना पड़ेगा जिसमें उच्च-कोटि का वैज्ञानिक और रचनात्मक साहित्य हो। साथ ही समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, राजनीति और उच्चकोटि के रचनात्मक साहित्य का विदेशी भाषाओं से हिन्दु-स्तानी में अनुवाद करते समय शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास उर्दू के अनुसार होगा या हिन्दी के, इन प्रश्नों का निर्णय कैसे होगा और हिन्दुस्तानी कैसे रहेगी ? परन्तु हिन्दुस्तानी के प्रतिपादक राजनीतिक मंचों के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा का और कहीं कोई उपयोग नहीं देखते, राष्ट्र-जीवन के बृहद् सांस्कृतिक प्रश्न उनकी संकीर्ण विचार-सीमा के बाहर हैं। और यदि वे कभी इन प्रश्नों पर सोचते हैं तो उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी पुनः हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाओं में बँट जाती है और वे इस संभावना से निर्भीक होकर आँखें नहीं मिलाना चाहते। परन्तु इन समस्त प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि राष्ट्रभाषा के विवाद में हिन्दुस्तानी का दावा सब से कमज़ोर है। न तो हिन्दुस्तानी की एक सम्मिलित भाषा के रूप में साहित्यिक प्रतिष्ठा संभव है और न उसकी कोई एक लिपि हो सकती है। उच्च साहित्यिक और वैज्ञानिक अभि-व्यक्ति के लिए सदैव उसके दो भिन्न रूप बन जाया करेंगे और देवनागरी और फ़ारसी की लिपियों का भी उसे व्यवहार करना पड़ेगा। अतः व्यवहार में आकर हिन्दुस्तानी निरन्तर हिन्दी और उर्दू रूपों में बँट जाया करेगी। इस प्रकार हिन्दुस्तानी नाम केवल एक पाखण्ड का द्योतक रह जायगा। यह कहना कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी सरल हिन्दी और सरल उर्दू होगी जिसकी मिसाल हमें प्रेमचन्द और नज़ीर की भाषा में मिलती है, तो यह एक बड़े भ्रम को प्रश्रय देना है। प्रेमचन्द या नज़ीर की भाषा एक नहीं है, वह चाहे जितनी सरल क्यों न हो। एक हिन्दी है, दूसरी उर्दू। सरलता से किसी को विरोध नहीं हो सकता और कथा-साहित्य की प्रवृत्ति अपनी आन्तरिक आवश्यकता से सरल भाषा की ओर ही

होती है, परन्तु दार्शनिक और अधिक विचार-प्रधान विषयों पर सरल हिन्दी में कहाँ तक लिखा जा सकता है, यह प्रयोग-सिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू का भेद अब केवल दो शैलियों की सरलता-दुरूहता तक ही सीमित नहीं रहा, वे दोनों भिन्न पद-वाच्य भाषाएँ बन गयी हैं और केवल सरल शैली में लिखे जाने से एक ही नहीं कही जा सकतीं। अतः हमारा आग्रह है कि राष्ट्रभाषा की बहस के मैदान से हिन्दुस्तानी शिविर के खेमे उखाड़ लेने चाहिएँ। व्यर्थ का वितंडावाद खड़ा करने से कोई लाभ नहीं है। इससे राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हल करने में भी सहायता मिलेगी, क्योंकि असली दावेदार सामने आ जायँगे। और हिन्दी-उर्दू के विवाद को नयी दृष्टि से समझने में सुविधा होगी।

हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं, इस तथ्य को स्वीकार करना हमारे लिए आवश्यक है; क्योंकि वास्तव में, चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय, सत्य यही है। हिन्दी वाले जब उर्दू को हिन्दी की शैली बताते हैं अथवा उर्दू वाले जब हिन्दी को उर्दू की शैली बताते हैं तब वे हिन्दी अथवा उर्दू के ऐतिहासिक विकास की अवहेलना करते हैं। एक क्षण के लिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही खड़ी बोली की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इस दावे में सत्य है, यद्यपि इससे न हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) के दावे को औचित्य मिल जाता है और न हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा सिद्ध किया जा सकता है। एक ही शौरसेनी अपभ्रंश से अनेक भाषाएँ राजस्थानी, मराठी, गुजराती, ब्रज, बुन्देली आदि निकली हैं। एक समय में उनको भी शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंश की अन्य-अन्य शैलियाँ ही कहा जा सकता था; परन्तु इससे, वे एक ही भाषाएँ हैं, यह अब किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण, देश और काल की विभिन्न परिस्थितियों में सामाजिक-ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विभेद के कारण, उनका विकास-क्रम असामान्य रहा और वे कालान्तर में भिन्न-भिन्न भाषाओं का रूप धारण कर गयीं। हिन्दी और उर्दू के ऐतिहासिक विकास में जिन सांस्कृतिक परम्पराओं ने दोनों को प्रेरणा दी है, वे आपस में एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। गुजराती, मराठी और राजस्थानी आदि की सांस्कृतिक परम्पराओं में इतनी भिन्नता कदापि नहीं रही। उदाहरण के लिए, यद्यपि यह सत्य है कि प्रारम्भ में जब खड़ी बोली की साहित्यिक स्थापना होने लगी तब उसमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का न्यूनाधिक समागम रहा; परन्तु ब्रज और अवधी की भक्ति और रीतिकाव्य की परम्पराओं ने आर्य अथवा हिन्दू संस्कृति के ही जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परम्पराओं और सौन्दर्य-प्रतीकों, ध्वनि, छन्द, रस, अलङ्कार-विधानों को अपनाया। अतः दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि चूँकि चन्दबरदायी के पृथ्वीराज रासो में फ़ारसी-अरबी-तुर्की के अनेक शब्द मिलते हैं; पृथ्वीराज की पुत्री पृथावाई ने चित्तौड़ के राजकुमार को खड़ी बोली में जो पत्र लिखा था उसमें फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया था; अथवा यह कि अमीर ख़ुसरो और बाबा फ़रीद शकरगंज (११७३-१२६५) आदि ने खड़ी बोली में जो कविताएँ कीं वे चाहे फारसी लिपि में क्यों न लिखी हों, परन्तु उनकी भाषा सरल हिन्दी (खड़ी बोली) है; या चौदहवीं सदी में सूफी सन्त हज़रत गेसूद-

राज़ बन्दानवाज़ ने खड़ी बोली में जो प्रथम गद्य-रचना (मिराजुल-ग्राशिकीन) की उसकी भाषा खड़ी बोली हिन्दी है, जिसमें २५-३० फ़ीसदी से ज्यादा फ़ारसी के शब्द नहीं हैं; अथवा यह कि कबीर और मलिक मुहम्मद जायसी की रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का अत्यन्त सफल समन्वय हुआ है—अतः हिन्दी और उर्दू एक ही भाषाएँ हैं, ऐसा कहना वस्तुस्थिति से आँखें मींच लेना है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों में एक लम्बी अवधि तक मुक्त आदान-प्रदान और मिश्रण होता रहा। हिन्दुओं ने देवनागरी लिपि का प्रयोग किया या मुसलमानों ने अरबी-फ़ारसी लिपि का, अथवा कुछ हिन्दुओं ने फ़ारसी लिपि का और कुछ मुसलमानों ने देवनागरी लिपि का, यह उतने महत्त्व की बात नहीं है जितनी यह कि उस समय दोनों संस्कृतियों ने परस्पर प्रभाव ग्रहण किये और इस प्रकार जहाँ गेसूदराज़, कुतबन, मलिक मुहम्मद जायसी, कबीर, उसमान आदि की रचनाओं में हिन्दू-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है वहाँ रैदास, धर्मदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, मंझन आदि कवियों में मुस्लिम संस्कृति की प्रतिच्छाया मिलती है। धार्मिक भेदभाव के विरुद्ध निर्गुणपन्थी और प्रेममार्गी कवियों ने जो रचनाएँ की हैं उनकी सृष्टि में हिन्दू और मुसलमानों ने समान उत्साह से योग दिया। उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद, योग और अहिंसावाद का समर्थन करके हिन्दुओं के बहुदेवोपासना, अवतार, मूर्तिपूजा और छुआछूत के भेद-भाव का विरोध किया, साथ ही मुसलमानों के एकात्मवाद और एकेश्वरवाद को स्वीकार करके उनके रोज़ा, नमाज़, कुरबानी आदि का भी विरोध किया। सूफ़ियों ने अपनी प्रेम कहानियों के लौकिक दृष्टान्तों द्वारा उस अलौकिक प्रेमतत्व की चर्चा की, जो बौद्धिक खण्डन-मण्डन से परे है, केवल हृदय की वस्तु है, अतः जीव और परमात्मा के एकात्म होने में अधिक समर्थ माध्यम है। इस संयुक्त विचार-परम्परा की कविताएँ यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी तक होती रहीं, परन्तु स्वामी रामानुजाचार्य के अनुयायी रामानन्द और श्री वल्लभाचार्य ने राम और कृष्ण की सगुणोपासना की जो परिपाटी चलायी उसने तुलसी और सूर जैसे महाकवियों को जन्म दिया, जिन्होंने अवधी और ब्रज की काव्य-धारा को कबीर और जायसी की हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों की सम्मिलित परम्परा से एकदम अलग कर दिया। अवधी और ब्रज की काव्य-परम्परा हिन्दू-संस्कृति की प्राचीन काव्य-परम्पराओं की उत्तराधिकारिणी बन गयी। यह हिन्दुओं की सांस्कृतिक नवचेतना का परिणाम था।

तुलसी, सूर अथवा रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु यह तथ्य इससे अधिक और कुछ नहीं सिद्ध करता। यह कहना ग़लत होगा कि उनकी रचनाएँ हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय की प्रतीक हैं। रामभक्ति, कृष्णभक्ति और रीतिकाव्य की परम्पराएँ हिन्दू-संस्कृति से प्रेरित-पोषित विचारधाराएँ हैं, उनमें मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव उतने ही ग्रहण किये गये जितने इस विचारधारा को अभिव्यक्ति देने के लिए अनिवार्य थे—अर्थात् कतिपय प्रचलित शब्दों

को ही अवधी या ब्रज के व्याकरण के अनुसार लिया गया। ये काव्य-धाराएँ हिन्दू संस्कृति के नवोन्मेष की प्रतीक हैं। इनकी भाव-भूमि, जीवन-दर्शन, सौन्दर्य-मूल्य, छन्द-रचना, ध्वनि-योजना, अलंकार-विधान, पद-विन्यास, रूपक और प्रतीक आदि विचारवस्तु और रूप-विधान सभी संस्कृत साहित्य और हिन्दू-आर्य संस्कृति से प्रभावित और निरूपित हैं। सूरदास और तुलसीदास के समय से भारतेन्दु-काल तक ब्रज और अवधी की काव्य-परम्परा में यह विचारधारा ही सर्व-प्रधान बनी रही। मुस्लिम संस्कृति के मेल से एक सामान्य विचार-धारा का विकास करने का लक्ष्य इस परम्परा के सम्मुख नहीं रहा। हिन्दू-काव्यों में अरबी-फ़ारसी के शब्द यदि प्रयुक्त हुए तो केवल इसलिए कि वे सर्वसाधारण में प्रचलित हो गये थे। उनके प्रयोग से हिन्दू-काव्यों की विचारवस्तु और सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रभाव नहीं पड़ता था।

अतः जब आधुनिक हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) का विकास हुआ तो हिन्दी के समर्थकों ने समग्र खड़ी बोली साहित्य को हिन्दी की परम्परा में ग्राह्य नहीं माना। खड़ी बोली मुस्लिम शासन के प्रभाव के कारण समस्त मध्यदेश के नगरों में फैल चुकी थी। यद्यपि खड़ी बोली का हिन्दू परम्परा के अन्तर्गत इस बीच जो साहित्य उत्पन्न हुआ उसे नगण्य ही कहना चाहिए, परन्तु जब फ़ोर्ट विलियम के समय से खड़ी बोली में हिन्दी गद्य की रचना होने लगी और उसके पश्चात काव्य-रचना भी प्रारम्भ हुई तो खड़ी बोली हिन्दी ने अपने ही अरबी-फ़ारसी-प्रभावित साहित्य की परम्परा को अस्वीकृत करके ब्रज, अवधी, राजस्थानी और मैथिली की काव्य-परम्पराओं को अपनी प्राचीन विरासत माना और अपने को उन्हीं की उत्तराधिकारिणी घोषित किया। खड़ी बोली हिन्दी का प्राचीन साहित्य न परिमाण में इतना था न इस कोटि का था कि उसकी पूंजी पर आधुनिक हिन्दी गर्व कर सकती। गंग कवि (अकबर के दरबारी कवि) का 'चन्द छन्द बरनन की महिमा', रामप्रसाद 'निरञ्जनी' (अठारहवीं सदी) का 'योगवशिष्ठ', पण्डित दौलतराम (अठारहवीं सदी) का 'पद्मपुराण' का अनुवाद, या मुन्शी सदासुखलाल का 'सुखसागर' आदि अंगुलियों पर गिनी जाने योग्य खड़ी बोली हिन्दी की रचनाएँ उसके प्राचीन गौरव का आधार नहीं बन सकती थीं। और हिन्दू साम्प्रदायिकता, दक्षिण (बीजापुर, गोलकुण्डा) और उत्तर भारत (दिल्ली, लाहौर) में मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में खड़ी बोली उर्दू का जो साहित्य उत्पन्न हुआ था, उसकी परम्परा को अपनाने के लिए प्रस्तुत न थी, क्योंकि खड़ी बोली उर्दू का साहित्य उसकी दृष्टि से इतर भारतीय संस्कृति का द्योतक था। फलतः खड़ी बोली हिन्दी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशों से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़कर शौरसेनी, मागधी आदि अपभ्रंशों की अन्य भाषाओं के प्राचीन साहित्य को अपना प्राचीन साहित्य घोषित करके अपने को आर्य-हिन्दू परंपरा का उत्तराधिकारी सिद्ध किया। इस प्रकार हिन्दू साम्प्रदायिकता ने अपनी जाग्रति, संगठन और विकास के लिए खड़ी बोली हिन्दी के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया, अथवा कहें कि इस पुनरुत्थान और राष्ट्रीय चेतना में हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली हिन्दी माध्यम और वाहक बनी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस तथ्य को मुक्त कण्ठ

से स्वीकार किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के यदि सभी अङ्ग-उपांगों का निरीक्षण करें तो उससे निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य में साहित्य, संस्कृति, विचारधारा तथा राष्ट्रीयता आदि जिन शब्दों के आगे 'भारतीय' विशेषण का निर्बाध प्रयोग होता है वह वास्तव में मुसलमानों के योग से विकसित एक संयुक्त अखिल-भारतीय संस्कृति अथवा विचारधारा का द्योतन नहीं करती। इन प्रयोगों में 'भारतीय' केवल हिन्दू-आर्य संस्कृति और हिन्दू साम्प्रदायिकता का अर्थवाची है। हिन्दी की दार्शनिक पुस्तकों में आर्य-हिन्दू दर्शन का ही इतिहास रहता है; समीक्षा-सिद्धान्तों की पुस्तकों में रस, ध्वनि, अलंकार आदि आर्य-हिन्दू काव्य-शास्त्रों का ही विवेचन होता है, और काव्य-ग्रन्थों में रूपक, उपमाएँ और अन्योक्तियाँ पुराणों और संस्कृत से ही ली जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) के द्वारा जिस सांस्कृतिक मनोभूमि (कल्चरल कॉम्प्लेक्स) की सृष्टि की गयी है और की जा रही है वह प्रधानतः हिन्दू-जीवन-दर्शन, हिन्दू इतिहास और परम्परा से प्रभावित-निरूपित है। यह प्रभाव हिन्दी-साहित्य की शैली, छन्द-चयन, शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, आदि सभी पर स्पष्ट लक्षित है। अतः इसको कतिपय लेखकों की साम्प्रदायिक अहंकारिता के मत्थे मढ़कर विवेचित नहीं किया जा सकता।

हिन्दी (संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) के समानान्तर उर्दू (अरबी-फ़ारसी-निष्ठ साहित्यिक खड़ी बोली) का विकास मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू भाषा और साहित्य का विकास हिन्दी की अपेक्षा पहले और अधिक पुष्ट हुआ। सन्त कवियों तक हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के समन्वय को व्यक्त करने वाली साहित्य की जो सामान्य परम्परा थी वह कालान्तर में दो धाराओं में फूट निकली। हिन्दू परम्परा का उल्लेख हम कर चुके हैं, मुस्लिम परम्परा और संस्कृति ने उर्दू भाषा और साहित्य का विकास किया और उसके माध्यम से उसने अभिव्यक्ति पायी। चौदहवीं शताब्दी में गुजरात और दक्षिण भारत में मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये थे। दिल्ली में उस समय फ़ारसी का ही ज़ोर था और वहाँ के शासक सर्वसाधारण की बोली में साहित्य रचना को प्रोत्सान देकर अपने गौरव को कम नहीं करना चाहते थे। परन्तु दक्षिण भारत की परिस्थिति इससे भिन्न थी। दक्षिण में मुस्लिम शासक उत्तर भारत से गये थे, उनके साथ अहलकारों और व्यापारियों आदि दरबार से सम्बन्धिन लोगों का दल भी उत्तर भारत से ही गया था। इन लोगों की बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली थी। परन्तु प्रथानुसार वहाँ भी राजभाषा तो फ़ारसी ही रही, यद्यपि मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु आदि भाषा-क्षेत्रों में फैली इन रियासतों में फ़ारसी का प्रयोग सुविधाजनक न था। फ़ारसी की अपेक्षा खड़ी बोली अधिक सरल और सुबोध थी। इसके अतिरिक्त सन्त कवियों ने ख़ड़ी बोली में काव्य-रचना भी प्रारम्भ कर दी थी। चौदवीं सदी के गुजरात के हजरत गेसूदराज़ बन्दानवाज़ का उल्लेख हम कर चुके हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों और अमीरों ने खड़ी बोली का उर्दू के रूप में साहित्यिक संस्कार किया और उर्दू में उच्चकोटि की रचनाएँ कीं। उन्होंने मसनवी और मरसिये लिखे। इस भाषा को हिन्दी

कहना अनुचित होगा। क्योंकि इसकी भावभूमि मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित है और हिन्दू काव्य-परम्परा से भिन्न है। कुछ दिनों में ही उर्दू में इतने उच्चकोटि के गद्य और पद्य-साहित्य की रचना हुई कि उसने दक्षिण में राजभाषा के रूप में फ़ारसी का स्थान ले लिया। इसके पश्चात् जो काव्य रचना हुई उसे खड़ी बोली के अन्तर्गत रखना गलत होगा, उसे उर्दू की रचनाएँ कहना उपयुक्त होगा। औरंगज़ेब ने जब बीजापुर और गोलकुण्डा पर आक्रमण किया तब दिल्ली की मुस्लिम संस्कृति की और गहरी छाप वहाँ पर पड़ी। उर्दू का प्रथम महाकवि वली (१६६८-१७४४) का यही काल है। वली ने दक्षिण भारत, गुजरात और उत्तर भारत में सर्वत्र पर्यटन किया था, अतः उन्होंने जो काव्य-रचना की उसमें उत्तर और दक्षिण भारत की शैलियों को मिलाकर उनका विकास किया। परन्तु उनकी गज़लों में फ़ारसी का प्रभाव अधिक निखर कर सामने आया।

दिल्ली के दरबार में फ़ारसी का बोलबाला था। परन्तु फिर भी शाह हातिम (१६९९-१७४४) के समय से ही खड़ी बोली में फ़ारसी प्रभाव को लेकर रचनाएँ शुरू हो गयी थीं। उर्दू की शैली उस समय तक पूर्णतः फ़ारसी से अलग स्वतन्त्र रूप नहीं धारण कर पायी थी, और रेख़्ता (मिश्रत भाषा) का वाक्य-विन्यास फ़ारसी का अनुकरण करता था। कविता में कभी-कभी एक पद फ़ारसी का और दूसरा उर्दू का होता था। वली ने उर्दू की साहित्यिक शैली को परिमार्जित करके सुष्ठु और कलात्मक बना दिया। इसके पश्चात् तो अनेक महान् कवियों ने उर्दू की काव्य-परम्परा को समृद्ध बनाया। मीर, सौदा, दर्द, नज़ीर आदि महाकवियों ने अठारहवीं सदी में उर्दू काव्य की जो उन्नति की वह अभूतपूर्व है। इस काल में उर्दू के मुशायरे होने लगे, उस्तादों ने नये कवियों की रचनाओं में इस्लाह देने की परिपाटी चलायी। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, जब मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था, दिल्ली के अतिरिक्त उर्दू के अन्य अनेक केन्द्र सारे देश में स्थापित हो गये। इनमें लखनऊ, पटना, रामपुर, मुर्शिदाबाद आदि प्रमुख हैं। इस नये दौर में अब तक ग़ालिब, हाली, इक़बाल, और जोश मलीहाबादी की रचनाओं में उर्दू काव्य को जो उत्कर्ष मिला, वह अनुपम है।

हिन्दी और उर्दू की भिन्नता केवल शब्दों के संस्कृत या फ़ारसी प्रयोग तक ही सीमित नहीं है। उनके व्याकरण, पिंगल, वाक्य-विन्यास आदि में भी मौलिक भेद उत्पन्न हो गया है। अधिक क्लिष्ठ उर्दू में क्रियापदों और कारक-चिह्नों के अतिरिक्त कभी-कभी प्रत्येक शब्द फ़ारसी और अरबी का होता है। क्लिष्ठ हिन्दी का भी यही हाल है। पन्त और निराला की अनेक कविताओं में भी यही प्रवृत्ति मिलती है! परन्तु इससे भी अधिक खड़ी बोली के व्याकरण का शुद्ध पालन न हिन्दी में किया जाता है न उर्दू में। हिन्दी व्याकरण पर संस्कृत व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है और उर्दू व्याकरण पर फ़ारसी और सामी भाषा पर अरबी व्याकरण की गहरी छाप पड़ गयी है। हिन्दी में संस्कृति से जो तत्सम शब्द उधार लिए जाते हैं उनका प्रयोग बहुधा संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही किया जाता है। हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल प्रत्यय न लगाकर विशुद्ध प्रयोग पर ज़ोर दिया

जाने लगा है। कतिपय प्रयोग न हिन्दी व्याकरण के अनुसार होते हैं न संस्कृत व्याकरण के अनुसार, और इससे एक विचित्र अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है। विशेषकर तद्धित का आवश्यक-अनावश्यक सर्वत्र प्रयोग, कृन्दत रूपों की विलक्षणता, विशेषणों के स्थान पर भाववाचक शब्दों को रखकर नये मुहावरे गढ़ने की प्रवृत्ति आदि अनेक व्याकरणगत उच्छृङ्खलताएँ हिन्दी भाषा के शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास को अधिकाधिक जटिल बनाती जाती हैं और उसे उर्दू भाषा से दूर खींच रही हैं। इसी प्रकार उर्दू साहित्य और भाषा के निर्माण में यद्यपि हिन्दुओं ने भी पर्याप्त योगदान किया है तो भी उर्दू की भाव-भूमि हिन्दी से सर्वथा भिन्न है। उसकी विचारधारा, दृष्टिकोण, भावधारा मुस्लिम संस्कृति से निरूपित हैं। उर्दू काव्य में इस्लामी पुराण के उपाख्यानों के दृष्टान्त रहते हैं, उसकी अन्योक्तियाँ, रूपक और उपमाएँ अरबी-फ़ारसी की काव्य-पद्धति से प्रभावित हैं। हिन्दी और उर्दू की शैली में भी मौलिक भेद है जो गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से व्यक्त है। विशेषकर उर्दू का पिंगल (अरूज़) फ़ारसी से लिये जाने के कारण हिन्दी के पिंगल से बहुत भिन्न है। मसनवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल—सभी फ़ारसी से लिए गए हैं। फ़ारसी ने ये असनाफ़े सख़ुन (कविता के रूप-विधान) अरबी से लिये थे। फलतः उर्दू की उपमाएँ (तश्बीहात) और रूपक (इस्तआरात) भी फ़ारसी-अरबी के हैं। इससे उर्दू की कविता को उत्कर्ष अवश्य मिला, परन्तु वह हिन्दी की काव्य-परम्परा से सदैव को अलग हो गयी।

इस विवाद में यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हिन्दी वालों की संस्कृत-प्रियता अथवा उर्दू वालों की अरबी-फ़ारसी-प्रियता उचित अथवा अनुचित है; या यह कि हिन्दी के छन्दोनियम (पिंगल) अच्छे हैं अथवा उर्दू बहरों के, न यह महत्त्वपूर्ण है कि दोनों में से कौनसी भाषा अधिक सरल अथवा कठिन है। इन कसौटियों पर दो भाषाओं की तुलना करना कम-से-कम इस विवाद में समीचीन नहीं है; न इस सम्बन्ध में शास्त्रीय विधि से कोई निर्णय करके हिन्दी अथवा उर्दू के दावे को अस्वीकृत किया जा सकता है। सर्वप्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं। उत्तरोत्तर हिन्दी उत्तर भारत और मध्य भारत के हिन्दुओं की भाषा बनती जाती है और उर्दू मुसलमानों की। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, इस सत्य की प्रियता-अप्रियता उसके अस्तित्व को नकारने का औचित्य नहीं प्रदान करती। इसके अतिरिक्त यह कहना कि राष्ट्रीय भावना ज्यों-ज्यों व्यापक होती जायगी त्यों-त्यों हिन्दी-उर्दू का भेद कम होता जायगा, केवल भ्रान्त धारणा है। यथार्थ सत्य तो यह है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भावना व्यापक होती गयी है, दोनों भाषाओं के पृथक् विकास की गति भी उतनी ही तीव्र होती गयी है। परन्तु यह कोई ऐसी रहस्यमय घटना नहीं है जिसका विवेचन न किया जा सके। इस पृथक् विकास को प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिकता और संकीर्ण जातीयता की भावना ने प्रेरणा दी है, केवल ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि यह अनुभव सिद्ध उदाहरण है कि हिन्दी और उर्दू के प्रगतिवादी साहित्यकारों की भाषा में भी उतना ही भेद है जितना श्री सम्पू-

र्णानन्द और मौलवी अब्दुलहक़ की भाषा में, यद्यपि हिन्दी-उर्दू के प्रगतिवादी साहित्यकार एक ही संघ में परस्पर मिलते रहे हैं और एक दूसरे की रचनाएँ सुनते-सुनाते रहे हैं। विलक्षण बात यह है कि उनमें कभी साम्प्रदायिकता, प्रतिस्पर्धा और संकुचित मनोवृत्ति का लेश भी नहीं रहा और वे सच्चे दिल से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक रहे हैं। परन्तु न जोश मलीहाबादी की कविता हिन्दुस्तानी की कविता बन पायी और न पन्त की युगवाणी या ग्राम्या की कविता हिन्दुस्तानी की। अतः जब महात्मा गान्धी अथवा दूसरे विचारक इस भेद का सारा दायित्व लेखकों की कुप्रवृत्ति या दुर्भावना के मत्थे मढ़ देते हैं तब सहज़ ही आश्चर्य होता है कि ये विचारक इतने विनयशील क्यों हैं! जिस राष्ट्रीय आन्दोलन ने समस्त भारत के कण-कण में जाग्रति भर दी है, उससे लेखक क्यों नहीं अनुप्राणित हुए और वे इतने जड़-बुद्धि क्यों हैं कि एकता के मूल-मन्त्र का पहला पाठ भी नहीं सीख पाये? क्या हमारे महाप्राण नेताओं की मेधा इतनी अशक्त है कि वह इन मुट्ठी भर लेखकों का विचार नहीं पलट सकती और वे 'एक राष्ट्रभाषा', 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' आदि के श्रुति-मधुर नारों के लिए बधिर बनकर हिन्दी और उर्दू को पृथक्-पृथक् मार्गों पर खींचे लिये जा रहे हैं? अतः या तो हिन्दी और उर्दू के समस्त महान् साहित्यकार निम्न कोटि के सम्प्रदायी, संकीर्ण मनोवृत्ति के षड्यन्त्रकारी और भारतीय एकता के द्रोही रहे हैं और ऐसी दशा में हमारे राष्ट्रीय नेताओं की साहित्यकारों के प्रति प्रच्छन्न रूप से तिरस्कारभरी विनयशीलता उचित है, अथवा स्वयं हमारे नेताओं की चिन्ता में दोष है और वे इतिहास का अपने मनोनुकूल अध्ययन करते हैं। ऐसा त्रुटिपूर्ण अध्ययन प्रगतिवादियों का भी था, परन्तु चूँकि वे कोरे प्रचारक न होकर साहित्य-सृष्टा भी थे अतः व्यवहार में वे इतिहास की प्रेरक शक्तियों की उपेक्षा न कर सके और अपने पूर्व-चिन्तित निर्णयों के बावजूद हिन्दी और उर्दू की शैलियों का नयी सौन्दर्य-दृष्टि और नयी विचार-वस्तु के अनुकूल अलग-अलग ही परिमार्जन करते रहे। उन्होंने अपनी कला और उत्कृष्ट भाव-विचार की अभिव्यक्ति को प्रचार के अधीन करके बाल्योचित सरलता का बाना नहीं पहनाया और शैली में 'जनता की भाषा' या 'बोलचाल की भाषा' के नारों के प्रभाव में पड़कर ऐसे प्रयोग नहीं किये जिनसे हिन्दी अथवा उर्दू के काव्य या साहित्य का चरम उत्कर्ष हरिऔध के 'चुभते चौपदो' या नज़ीर के 'बंजारा नामा' तक ही सीमित रह जाता और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' ही हमारे गद्य का आदर्श बन जाती। प्रगतिवादी लेखकों ने प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला या मीर, ग़ालिब, इक़बाल, जोश की विरासत की रक्षा और उसका विकास करना अधिक अनिवार्य और साहित्य के लिए गौरवपूर्ण समझा, न कि कृत्रिम रूप से हिन्दी और उर्दू को मिला करके एक करना। और यह उन्होंने एक दूसरे की सद्भावना के वातावरण में किया। अतः इस विवाद में कटुता आयी है उसके लिए लेखकों से अधिक राजनीतिज्ञ और प्रचारक ज़िम्मेदार हैं जिसके कारण एक राष्ट्रभाषा की खोज में उर्दू वाले हिन्दी के अस्तित्व को नकारते हैं, हिन्दी वाले उर्दू के अस्तित्व को और महात्मा गान्धी दोनों को,

और उनके ऐतिहासिक विकास का तिरस्कार करके एक नयी ही भाषा 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने की धमकी देते हैं।

इसके अतिरिक्त इस विवाद में एक भाषा के अस्तित्व और दूसरी के अनस्तित्व का निर्णय करने के लिए अपने अनुकूल आँकड़े जोड़कर जनसंख्या-बल दिखाना और भी हीन मनोवृत्ति का सूचक है। वास्तविक सत्य यह है कि खड़ी बोली, जिसकी ज़मीन पर हिन्दी और उर्दू के पौधे फूटे हैं, केवल उत्तरी दोआब के ५३ लाख जनों की ही मातृभाषा है। १४ करोड़ की मातृभाषा है, यह दावा भाषा-शास्त्र सम्मत नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि देश के २५ करोड़ व्यक्ति इस बोली को समझ लेते हैं और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में इसका प्रयोग करते हैं, यद्यपि प्रत्येक प्रान्त अथवा भाषा-क्षेत्र में अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की इस भाषा का एक सामान्य रूप ही प्रचलित नहीं है, उसके अनेक स्थानीय रूपान्तर हो गये हैं। फिर भी मोटे तौर पर इतना कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तर भारत, सीमाप्रान्त, काश्मीर, सिन्ध, बलोचिस्तान और पंजाब में खड़ी बोली का उर्दू रूप अधिक प्रचलित है--हिन्दू और मुसलमान सभी में--और संयुक्त प्रान्त (कतिपय नगरों को छोड़ कर) राजस्थान, बिहार, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य भारत तथा दक्षिण भारत में खड़ी बोली का हिन्दी रूप अधिक प्रचलित है। ऐसी स्थिति में अङ्क गणना में इन निरीह २५ करोड़ जनों की बड़ी छीछालेदर होती है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी वाले तीनों उन्हें अपने-अपने कोष्ठों में भर देते हैं। इस वितण्डावाद का अन्त करके हमें वस्तुस्थिति को देखना चाहिए, अर्थात् यह कि पश्चिमोत्तर भारत और मध्य और दक्षिण भारत की अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा एक ही नहीं है। पश्चिमोत्तर भारत में उर्दू और मध्य और दक्षिण भारत में हिन्दी का अधिक प्रचलन है।

इस सम्बन्ध में एक कुतर्क और प्रचलित है, वह यह कि मद्रास या बंगाल के मुस-लमान भी शुद्ध द्रविड़ या बंगाली भाषाएँ ही बोलते हैं, उनकी मातृभाषा उर्दू नहीं है। परन्तु फिर वहाँ के हिन्दुओं की मातृभाषा भी तो हिन्दी नहीं है। अतः हिन्दी अथवा उर्दू उनके लिए एक द्वितीय भाषा ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में अपने धर्म और अपनी संस्कृति का परिचय पाने के लिए यदि बङ्गाल या मद्रास के मुसलमान हिन्दी के स्थान पर उर्दू सीखना चाहें तो इसमें आपत्तिजनक क्या है ? इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रान्तों के हिन्दू यदि अपनी मातृभाषा पश्तो, पंजाबी, सिन्धी, काश्मीरी या बलूची आदि के साथ-साथ द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी सीखना चाहें तो इस पर आपत्ति क्योंकर की जा सकती है ?

हमने ऊपर कहा कि राष्ट्रीय जाग्रति के साथ-साथ हिन्दी और उर्दू का भेद और भी बढ़ता गया और यह कि इसमें कुछ भी रहस्यमय नहीं है। न इस बात पर क्षुब्ध होने की आवश्यकता है। कारण, इस भेद के बढ़ने से साहित्य की दृष्टि से केवल इतना ही तात्पर्य है कि दोनों भाषाओं ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल पर्याप्त विकास किया और अब वे न केवल दो भिन्न भाषाएँ ही हैं बल्कि उनका साहित्य-भण्डार भी इतना

समृद्ध और उन्नत हो यगा है कि वे स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रभाषा का दायित्व भी उठा सकती हे। राष्ट्रीय जाग्रति के बिना, इन दोनों भाषाओं का ऐसा अपूर्व विकास असम्भव होता, इस बात के लिए अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी और उर्दू के स्वतन्त्र विकास से केवल ऐसे ही लोग विक्षुब्ध हैं जो अपने अनैतिहासिक दृष्टिकोण और इस बद्धमूल धारणा के कारण कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अथवा समस्त भारत की अखण्डता के लिए एक ही राष्ट्रभाषा का होना अनिवार्य है, भारत की विशिष्ट वस्तु-स्थिति को समझ नहीं पाते। वे इस बात को समझ नहीं पाते कि राष्ट्रीय चेतना के परिणामस्वरूप ही देश के विभिन्न भागों में जातीय चेतना उत्पन्न हो रही है, साथ ही इन जातियों में जो इस्लाम के अनुयायी हैं, वे चाहे नृशास्त्र की दृष्टि से आर्य ही हों और हिन्दू ही धर्म परिवर्तन करके चाहे मुसलमान बन गये हों, परन्तु वे हिन्दू-धर्म, वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू-विधान को स्वीकार नहीं करते और अब साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय चेतना प्राप्त करके तो वे अपनी संस्कृति, रस्म-रिवाज़, सामाजिक-विधान और साहित्य के वैशिष्ठ्य को सुरक्षित रखने के लिए और भी सतर्क हो गये हैं। वस्तुतः हमारे देश के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ही यह विशिष्टता है कि राष्ट्रीय चेतना ने हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण किया है। जिन सामाजिक-योग-सूत्रों ने इस द्वैत को स्थायित्व प्रदान किया उसमें भिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोणों के अतिरिक्त अँग्रेज़ी शासन की दुरंगी नीति का भी हाथ है, परन्तु राष्ट्रीय जागरण ने इस भेद-चैतन्य को और भी निखारा है यह एक ऐसा सत्य है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें औचित्य-अनौचित्य के नैतिक मानदण्डों का प्रयोग अनपेक्षित है। यह एक परिस्थितिजन्य सत्य है और कितने भी प्रचार से इसको बदल देना, पाँच-सात सौ वर्षों के ऐतिहासिक जीवन की स्मृतियों तक का उन्मूलन करने की असम्भव चेष्टा करना है।

अतः राष्ट्रभाषा के विवाद में पड़ने वाले विचारकों को सर्वप्रथम उन दो बद्धमूल धारणाओं को अपने मन से निकाल देना चाहिए जिनके कारण यह प्रश्न एक न सुलझने वाली गुत्थी बन गया है। पहली धारणा यह कि समस्त भारत के लिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिए क्योंकि तभी राष्ट्रीय एकता अथवा हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित की जा सकती है। राष्ट्रीय एकता और एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि आदि में कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है और फिर हमें अपने देश की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार हल निकालने के लिए किसी पूर्व-निश्चित धारणा को अपना जड़ संस्कार नहीं बना लेना चाहिए। दूसरी धारणा जिसको हमें निर्मूल करना है वह यह है कि हिन्दी और उर्दू दो प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ हैं अतः हिन्दी और उर्दू के अलग-अलग दावे और कुछ लोगों द्वारा 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन। इस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त करने के लिए राष्ट्रभाषा-पद के लिए हिन्दी और उर्दू को प्रतिद्वन्द्वी मानने का अर्थ है कि अन्त में इनमें जिसकी विजय होगी वही राष्ट्रभाषा हो सकेगी, दूसरी को अपनी पराजय स्वीकार करके पीछे हटना पड़ेगा। यह धारणा अत्यन्त संकीर्ण और खतरनाक है। हिन्दी और उर्दू को प्रतिद्वन्द्वी कहने

का अर्थ है कि भारत में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ प्रतिद्वन्द्वी हैं, अर्थात् उनके सामने प्रश्न है कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दू राज्य करेंगे अथवा मुसलमान राज्य करेंगे। जो लोग हिन्दी अथवा उर्दू के पृथक् भाषा अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं वे लोग कण्ठमुल्ला हिन्दू-सभावादियों अथवा मुस्लिम लीगियों के समान हैं जो हिन्दुस्तान को हिन्दुओं अथवा मुसलमानों का ही देश बताते हैं। अतः प्रतिद्वन्द्विता की धारणा को हमें समूल नष्ट करना पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी अथवा उर्दू प्रतिद्वन्द्वी भाषाएँ नहीं हैं बल्कि हमारे देश के ऐतिहासिक विकास-क्रम के अनुसार यह दोनों भाषाएँ एक साथ ही राष्ट्रभाषा होने की अधिकारी हैं, जिस प्रकार स्वतन्त्र भारत पर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ राज्य करने के अधिकारी हैं, चाहे स्वतन्त्र भारत 'अखण्ड भारत' हो अथवा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में बँटा हो। अतः यदि हम इन दो बद्धमूल धारणाओं को त्याग दें तो 'हिन्दुस्तानी' गढ़ने की आवश्यकता न रहेगी और राष्ट्रभाषा की समस्या का समाधान अत्यन्त सरल हो जायगा।

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण कर देना अप्रासंगिक न होगा। इस देश में 'पाकिस्तान' और 'अखण्ड हिन्दुस्तान' का विवाद छिड़ा हुआ है। हमने अपने विवेचन में अखण्ड अथवा विभाजित भारत को लक्ष्य में रखकर कोई समाधान निकालने की चेष्टा नहीं की, क्योंकि हमारी दृष्टि में अखण्ड हिन्दुस्तान हो अथवा पाकिस्तान और हिन्दुस्तान अलग-अलग हों, दोनों दशाओं में राष्ट्रभाषा के प्रश्न का वही समाधान हो सकता है जिस पर हम अभी विचार करेंगे। किसी राजनीतिक-आर्थिक विभाजन से सांस्कृतिक प्रश्नों के समाधानों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आयेगा, अधिक-से-अधिक मात्रा भेद ही हो सकेगा। क्योंकि हम जनवाद के उन सिद्धान्तों के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना चाहते हैं जिनका आधार अखण्ड हिन्दुस्तान अथवा विभाजित हिन्दुस्तान की केन्द्रीय सरकारों को भी लेना पड़ेगा। अभी तक जिन विचारकों ने इस प्रश्न पर सोचा है उन्होंने जनवाद के सिद्धान्तों को आधार बनाकर राष्ट्रभाषा की समस्या का हल निकालने की चेष्टा नहीं की। फलतः उन्होंने इस बात पर भी नहीं सोचा कि यदि भारत का विभाजन दो अथवा इससे अधिक भागों में होना ही पड़ा तो उनका एक राष्ट्रभाषा का स्वप्न-लोक पल मात्र में ढह जायगा। बहुमत के ज़ोर पर आज हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मनवा भी लें तो कल यदि मुसलमानों ने अपना पाकिस्तान बना लिया तो वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों स्वीकार करने लगे? और फिर पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में यही विवाद दूसरा रूप लेकर उठ खड़ा हुआ तो उसका अन्त कहाँ होगा? पाकिस्तान के हिन्दू हिन्दी के लिए और हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू के लिए फिर भी अपना सिर फोड़ते रहेंगे। अतः अब तक यह विवाद जिस असंयम के साथ निम्नस्तर पर चलता रहा है, उससे निकाल कर इसको जनवादी आधार देने की आवश्यकता है, कोई ऐसा समाधान ढूँढ़ने की ज़रूरत है जिसके कारण इस समस्या का अपेक्षाकृत स्थायी फैसला हो जाय और राजनीतिक परिवर्तनों से राष्ट्रभाषा का भाग्य न बदलता रहे।

अतः उपरोक्त विवेचन से यदि पाठक अपने को उन दो बद्धमूल धारणाओं से मुक्त करने में समर्थ हो गये हैं जिनके कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर प्रगति अवरुद्ध है तो वे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जायँगे कि हिन्दी और उर्दू वालों को यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये दोनों अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाएँ हैं और चूँकि वे प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं अतः दोनों में परस्पर विरोध का कोई प्रश्न नहीं उठाना चाहिए। ये दोनों पृथक् भाषाएँ खड़ी बोली की जमीन पर संस्कृत और फ़ारसी के खाद-बीज से उत्पन्न दो पौधों के समान हैं जो भिन्न संस्कृतियों-हिन्दू और मुस्लिम से प्रभावित हैं। इन दोनों भाषाओं को एक साथ रहना है, क्योंकि जनवाद का सिद्धान्त सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का उतना ही विरोधी है जितना आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्यवाद का। इन दोनों को अपनी-अपनी संस्कृति की अभिवृद्धि का माध्यम बने रहना है और यह किसी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर नहीं बल्कि उस अधिकार और दायित्व के कारण जो ऐतिहासिक विकास-क्रम और सामाजिक योग-सूत्र ने उन्हें सौंपा है।

इस जनवादी उदार दृष्टि को प्राप्त करने पर राष्ट्रभाषा के प्रश्न का समाधान स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् हिन्दी और उर्दू दोनों को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाय। कम-से-कम पश्चिमोत्तर और मध्यदेश के लिए तो हिन्दी और उर्दू दोनों को राष्ट्रभाषा घोषित करना न केवल राष्ट्रीय काँग्रेस और मुस्लिम लीग का कर्तव्य है, वरन् हिन्दी साहित्य सम्मेलन और अंजुमन तरक्क़ी-ए-उर्दू का भी। दक्षिण भारत (द्राविड़ी भाषा-क्षेत्र) और बंगाल का मत जान करके इन दो राष्ट्रभाषाओं को सार्वदेशिक प्रतिष्ठा प्रदान की जा सकती है। जबरन किसी पर राष्ट्रभाषा लादने का हमें अधिकार नहीं है, विशेषकर द्राविड़ी प्रान्तों पर, क्योंकि उनकी भाषाएँ आर्य-हिन्द परिवार की भाषाएँ नहीं हैं और सम्भव है कि वे अपनी ही किसी भाषा को अपने प्रान्तों की राष्ट्रभाषा बनाना चाहें।

परन्तु हिन्दी और उर्दू दोनों राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार की जायँ, इस प्रस्ताव के सम्पूर्ण मन्तव्य को समझ लेना आवश्यक है। महात्मा गान्धी और काँग्रेस की नीति यह है कि हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषाओं, अर्थात् न हिन्दी, न उर्दू बल्कि उनका सम्मिलित रूप हिन्दुस्तानी। उनके अनुसार यह भाषा अभी बनने के मार्ग में है और उसे नये सिरे से गढ़ने के प्रयत्न में अजीब कुघड़ चेष्टाएँ की जा रही हैं जैसे टिकट का अनुवाद 'घरघुस' आदि। परन्तु एक बात जिस पर अब हिन्दुस्तानी वाले विशेष ज़ोर देने लगे हैं वह यह है कि प्रत्येक काँग्रेस और राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्यकर्ता को हिन्दी और उर्दू, दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। यह आम खाने से इन्कार करके पेड़ गिनने पर ज़ोर देने की प्रवृत्ति है, अर्थात् महात्माजी का विचार है कि दोनों लिपियों को जानने मात्र से एक तीसरी सम्मिलित भाषा बन जायगी। दोनों लिपियाँ सीखिए पर दोनों भाषाएँ मत सीखिए, मानों ऐसा करने से एक तिलिस्म घटित हो जायेगा जिससे एक नई भाषा उत्पन्न हो जायेगी। हम ऐसे काल्पनिक समाधानों की व्यर्थता का विवेचन कर चुके हैं और पुनः यह कहने की आवश्यकता

नहीं है कि हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) की साहित्यिक प्रतिष्ठा हिन्दी तथा उर्दू के ही रूप में हो सकती है, किसी तीसरे रूप में नहीं । अतः यह बताने की भी ज़रूरत नहीं है कि भाषाओं से लिपियों को अलग करके उनको सीखने पर ज़ोर देना भी राष्ट्रभाषा के प्रश्न को टालने की चेष्टा करना है। सम्भव है कि गान्धी जी और हिन्दुस्तानी वाले इतना तो जानते ही हैं कि वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत भी द्वितीय भाषा के रूप में प्रत्येक विद्यार्थी को हिन्दी अथवा उर्दू के साथ-साथ उर्दू अथवा हिन्दी की प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं जिसके कारण दोनों लिपियों का ज्ञान तो उन्हें हो ही जाता है। परन्तु फिर भी भाषा-भेद तो बना ही है। अतः दोनों लिपियों का ज्ञान पर्याप्त नहीं है । हिन्दी और उर्दू दोनों को राष्ट्रभाषाएँ मानने का अभिप्राय केवल यही नहीं हो सकता कि दोनों लिपियों का समान रूप से प्रयोग तो हो, परन्तु भाषा एक ही हो। यह तो एक व्यक्ति को एक साथ ही कुरता-धोती और पाजामा-शेरवानी पहना कर प्रदर्शित करने के समान होगा। गांधी जी यह जानते हैं कि ऐसा करना असम्भव है और वे पश्चिमोत्तर और मध्यदेश की हिन्दुस्तानी के शैली-भेद को अभी अनिवार्य भी समझते हैं । परन्तु वे अपने चिन्तन के विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न न करके अविराम अँधेरे में टटोलते रहना ही पसन्द करते हैं।

इस नीति का एक ही परिणाम हो सकता है, वह यह कि राजकीय कार्यों में आज जो स्थिति पश्चिमोत्तर प्रान्तों और मध्यदेश में हिन्दी की है, वही स्थिति मध्यदेश में उर्दू की हो जाय। अदालत में उर्दू के साथ ही हिन्दी का प्रयोग भी स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु दोनों लिपियों में जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह क्लिष्ट उर्दू भाषा है । अदालती सम्मन एक ओर उर्दू में छपे होते हैं, दूसरी ओर हिन्दी में । उर्दू लिपि वाले भाग की भाषा तो उर्दू होती ही है हिन्दी वाले भाग की भाषा भी उर्दू ही होती है क्योंकि समस्त पारिभाषिक शब्द अरबी-फ़ारसी के होते हैं । दोनों लिपियों में हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने से और पश्चिमोत्तर और मध्यदेश में उसके शैली-भेद को भी स्वीकार कर लेने से केवल इतना फ़रक पड़ेगा कि पश्चिमोत्तर प्रान्तों में राजकीय कार्य उर्दू भाषा में होगा, यद्यपि हिन्दी लिपि का भी समान रूप से ही प्रयोग होगा और मध्यदेश में राजकीय कार्य हिन्दी भाषा में होगा यद्यपि उर्दू लिपि का भी प्रयोग किया जायगा । यह स्थिति वर्तमान स्थिति से मूलतः भिन्न न होगी, केवल हिन्दी की स्थिति कुछ सुधर जायगी । फलतः पश्चिमोत्तर प्रान्तों में हिन्दी लिपि में लिखी हिन्दी, हिन्दी न होगी और मध्यदेश की उर्दू, उर्दू न होगी। इस वैषम्य को इन दोनों भूखण्डों की हिन्दू अथवा मुस्लिम जनता कैसे स्वीकार कर लेगी, यह समझ में नहीं आता। अतः दोनो भाषाओं को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का यह अर्थ होगा कि हिन्दुस्तानी के प्रपञ्च को सदैव के लिए दफ़ना दिया जायगा और राजकीय कार्यों में पश्चिमोत्तर प्रान्तों अथवा मध्यदेश या दक्षिण भारत में दोनों लिपियों में जो भाषा लिखी जायगी वह साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दू के आदर्श को स्वीकार

करेगी। उर्दू और हिन्दी के पारिभाषिक शब्द एक किये जा सकते हैं, परन्तु जब तक वे प्रचलित नहीं हो जाते और विद्वान उनका निर्णय नहीं कर देते तब तक दोनों भाषाओं के अपने-अपने पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए।

इस प्रकार से हिन्दी और उर्दू दोनों को समान रूप से राष्ट्रभाषा सीखने का तात्पर्य यह होगा कि मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों में राजकीय कार्यों में उर्दू भाषा का प्रयोग होगा, परन्तु वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को हिन्दी-भाषा (केवल लिपि ही नहीं) का प्रयोग करने का समान अधिकार होगा। इसी प्रकार मध्यदेश (हिन्दू-प्रधान प्रान्तों) में राजकीय कार्यों में हिन्दी भाषा का प्रयोग होगा, परन्तु मुसलमानों को उर्दू भाषा (केवल लिपि ही नहीं) का प्रयोग करने का समान अधिकार होगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य न होगा कि वह दोनों भाषाएँ और दोनों लिपियाँ सीखे ही। सरकारी कर्मचारियों के लिए ही ऐसी विशेष योग्यता आवश्यक होगी, क्योंकि सारा सरकारी कार्य दोनों भाषाओं में होगा और सरकारी विज्ञप्तियाँ आदि दोनों भाषाओं और दोनों लिपियों में निकलेंगी। सर्वसाधारण जिस राष्ट्रभाषा को जानते हैं, उसका ही प्रयोग करेंगे।

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, यह प्रश्न विचारणीय है कि प्रारम्भ में विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में उच्चशिक्षा का माध्यम क्या होगा, क्योंकि अभी तक सभी प्रान्तिक भाषाओं का विकास समान नहीं हुआ है। परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समूची शिक्षा, प्राथमिक से लेकर उच्चतम तक, अपनी मातृभाषा में प्राप्त करने का अधिकार है। ऐसी दशा में समूचे देश का भाषागत् प्रान्तों में पुनर्विभाजन करने की आवश्यकता होगी, और भाषा-क्षेत्रों का निर्णय जरूरी होगा। इस आधार पर हिन्दी प्रान्तों का भी पुनर्विभाजन करना होगा, क्योंकि इन क्षेत्रों में लगभग २० भाषाएँ और बड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं। साहित्यिक हिन्दी सर्वत्र मातृभाषा के रूप में नहीं बोली जाती। उदाहरण के लिए इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मैथिली जनपद का भाषा-क्षेत्र निर्णीत कर दिया गया तो वहाँ की प्राथमिक और उच्च शिक्षा का माध्यम मैथिली होगी जो हिन्दू और मुसलमानों दोनों को समान रूप से सीखनी होगी, क्योंकि नगरों में उत्तर भारत से जाकर बसे कुछ परिवारों को छोड़कर, जिनकी मातृभाषा उर्दू (खड़ी बोली) है, वहाँ के आम मुसलमानों की मातृभाषा भी मैथिली ही है। राष्ट्रभाषाएँ अनिवार्य द्वितीय भाषा के रूप में उच्च कक्षाओं में सिखायी जायँगी। यहाँ हिन्दी और उर्दू में विकल्प होगा, विद्यार्थी जिस राष्ट्र-भाषा को चाहेगा, चुन लेगा। यही नियम गुजराती, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, पश्तो, काश्मीरी आदि अ-हिन्दी और अ-उर्दू भाषा-क्षेत्रों पर भी लागू होगा। इस प्रकार सारे देश में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार हिन्दी अथवा उर्दू में से अपनी राष्ट्रभाषा चुनने का अवसर मिल जायगा। इससे न हिन्दुओं को असुविधा होगी, न मुसलमानों को। सीमाप्रान्त के हिन्दू अथवा मद्रास के मुसलमान को हिन्दी अथवा उर्दू सीखकर अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं तक पहुँचना सुगम और सुलभ होगा। अहिन्दी-अउर्दू प्रान्तों के निवासियों के लिए तो दो लिपियों का सीखना इससे अनिवार्य हो ही जायगा। गुजराती

अपनी गुजराती लिपि सीखेंगे, साथ ही उन्हें हिन्दी तथा उर्दू में से एक लिपि सीखनी होगी। वर्तमान हिन्दी-उर्दू प्रान्तों में दोनों लिपियों का सीखना अनिवार्य किया जा सकता है, परन्तु अभी यह प्रश्न विचारणीय है। उत्तरी दोआब (अन्तर्वेद) में तो कम-से-कम हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं और लिपियों का जानना अनिवार्य किया ही जा सकता है, क्योंकि वहाँ की मातृभाषा खड़ी बोली है जिससे ये दोनों भाषाएँ निकली हैं। परन्तु ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर अभी अन्तिम रूप से कोई सुझाव नहीं दिया जा सकता। परन्तु जिन जनपदों की भाषा में अभी उच्च कोटि का साहित्य नहीं है, वहाँ पर मातृभाषा में उच्च शिक्षा देने में कठिनाई पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में राज्य की ओर से उन भाषाओं को विकास के लिए प्रोत्साहन देना अपेक्षित होगा, तथा प्रारम्भ में उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषाओं को बनाना होगा। उच्च शिक्षा में हमें एक विदेशी भाषा का जानना भी अनिवार्य करना पड़ेगा। कदाचित् इस आवश्यकता को सभी महसूस करते हैं।

हिन्दी और उर्दू दोनों को समान रूप से राष्ट्रभाषाएँ मान लेने से केवल विशिष्ट-शिक्षा (विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग आदि) के मार्ग में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रह जायगी, क्योंकि पारिभाषिक शब्द संस्कृत से लिए जायें अथवा अरबी-फ़ारसी से, इस पर विवाद उठेगा। परन्तु दोनों को समान रूप से राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के उपरान्त जो सद्भावना का वातावरण उत्पन्न होगा उसमें विद्वानों को इस प्रश्न पर विचार करने की पर्याप्त सुविधा होगी कि पारिभाषिक शब्द अलग-अलग हों अथवा उनका अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ही स्वीकार कर लिया जाय और उनकी व्याख्या हिन्दी और उर्दू भाषाओं में अलग-अलग की जाय, आदि।

इस प्रकार हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विवाद का अध्ययन करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि हिन्दी और उर्दू दोनों को ही समान रूप से राष्ट्रभाषाएँ स्वीकार करना चाहिए। भारत जैसे महाप्रदेश के लिए दो राष्ट्रभाषाओं का होना अनभीष्ट नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस प्रश्न का और कोई दूसरा समाधान नहीं हो सकता।

—अक्तूबर १९४६

परिशिष्ट

१

पंचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना

वर्ष १—साहित्य, कविता, लोकगीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अङ्गों की खोज और संग्रह। वैज्ञानिक पद्धति से उनका प्रकाशन और सम्पादन।

वर्ष २—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सांगोपांग अध्ययन—अर्थात् उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान, शब्दकोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन।

वर्ष ३—स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास। स्थानीय पुरातत्त्व और शिल्प का अध्ययन।

वर्ष ४—पृथ्वी के भौतिक रूप का समग्र परिचय प्राप्त करना—अर्थात् वृक्ष वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धों का अध्ययन।

वर्ष ५—जनपद के निवासी-जनों का सम्पूर्ण परिचय—अर्थात् मनुष्यों की जातियाँ, लोक का रहन-सहन, धर्म-विश्वास और रीति-रिवाज, नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव, मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएँ, इन सबकी बारीक छानबीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत करना।

यह पञ्चविधि योजना वर्षानुक्रम से पूरी की जा सकती है, अथवा एक साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकर्त्ताओं की इच्छानुसार प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्य का विवरण प्रकाशित होता रहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्र के साधनों को एकत्र करके 'मधुकर', 'ब्रजभारती' और 'बान्धव' के ढंग के पत्र प्रकाशित करें तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की सूची तैयार होनी चाहिए और कार्य के सम्पादन के लिए विविध समितियों का संगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ कुछ समितियों के नाम ये हैं :—

(१) भाषा समिति—जनपदीय भाषा का अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोष का निर्माण। धातु पाठ और पारिभाषिक शब्दों का संग्रह इसी के अन्तर्गत होगा।

(२) भूगोल या देश-दर्शन समिति—भूमि का आँखों देखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना। स्थानों के प्राचीन नामों की पहिचान; नदियों के सांगोपांग वर्णन तैयार करना।

(३) पशु-पक्षी-समिति—अपने प्रदेश के सत्वों की पूरी जाँच-पड़ताल करना इस समिति का कार्य होना चाहिए। इस विषय में लोगों की जानकारी से लाभ उठाना, नामों की सूचियाँ तैयार करना, अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों से नामों का मेल मिलाना आदि

विषयों को अध्ययन के अन्तर्गत लाना चाहिए।

(४) वृक्ष-वनस्पति-समिति--पेड़, पौधे, जड़ी-बूटी, फूल-फल-मूल सबका विस्तृत संग्रह तैयार करना।

(५) ग्राम-गीत-समिति--लोक-गीत, कथा-कहानी आदि के संग्रह का कार्य।

(६) जन-विज्ञान-समित--विभिन्न जातियों और वर्णों में लोगों के आचार-विचार और रीति-रिवाजों का अध्ययन।

(७) इतिहास-पुरातत्त्व-समिति--प्राचीन इतिहास और पुरातत्व की सामग्री की छानबीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन। पुरातत्व सम्बन्धी खुदाई का भी प्रबन्ध करना।

(८) कृषि-उद्योग-समिति--जनता के कृषि-विज्ञान, उद्योग-धन्धों और खनिज पदार्थों का अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए, अपने लोक का रुचि के साथ एक सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजना का उद्देश्य है।

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

२

मातृभाषाओं के जनपदों की सूची

भाषा	जनपद	राजधानी
हिन्दकी	पश्चिमी पञ्जाब	रावलपिण्डी
मध्य-पञ्जाबी	मध्य-पञ्जाब	लाहौर
पूर्वीय-पञ्जाबी	पूर्वी-पञ्जाब	लुधियाना
सिन्धी	सिन्ध	करांची
मुल्तानी	मुल्तान	मुल्तान
काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
पश्चिमी पहाड़ी	त्रिगर्त	काँगड़ा
हरियानी	हरयाना	दिल्ली
मारवाड़ी	मारवाड़	जोधपुर
बैराटी	विराट	जयपुर
मेवाड़ी	मेवाड़	उदयपुर
मालवी	मालवा	उज्जैन
बुन्देली	बुन्देलखण्ड	झाँसी
ब्रज	सूरसेन	आगरा
कौरवी	कुरु	मेरठ
पञ्चाली	रुहेलखण्ड	बरेली
गढ़वाली	गढ़वाल	श्रीनगर
कूर्माचली	कूर्माचल	अल्मोड़ा
कौसली	कौसल (अवध)	लखनऊ
वात्सी	वत्स	प्रयाग
चेदिका	चेदि	जबलपुर
बघेली	बघेलखण्ड	रीवा
छत्तीसी	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
काशिका	काशी	बनारस
मल्लिका	मल्ल	छपरा
व्रज्जिका	वज्जी	मुजफ़्फ़रपुर

मैथिली	विदेह (तिर्हुत)	दरभंगा
अङ्गिका	अङ्ग	भागलपुर
मागधी	मगध	पटना
सन्थाली	सन्थाल परगना	जसीडीय

—राहुल सांकृत्यायन

३

संयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ की कौंसिल का प्रस्ताव

(श्री शिवदानसिंह चौहान की रिपोर्ट पर बहस के उपरान्त कौंसिल का यह मत हुआ कि 'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न' बहुत व्यापक है और एक ही बैठक में श्री चौहान की रिपोर्ट के सब अङ्गों पर सम्यक् विचार करके कोई अन्तिम निर्णय कर लेना असम्भव है, अतः अभी इस प्रश्न का और अध्ययन किया जाना चाहिए। अतः कौंसिल ने श्री चौहान के मूल प्रस्ताव को संशोधन करके निम्न रूप में स्वीकार किया।)

युक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ की यह कौंसिल हिन्दी-भाषी क्षेत्रों, विशेषकर राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा क्षेत्रों में जनपद आन्दोलन के सूत्रपात का स्वागत इस दृष्टि से करती है कि यह आन्दोलन इन प्रदेशों में रहने वाली जनता की इस आकांक्षा का परिचायक है कि उनकी मातृभाषा और संस्कृति का भी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण तथा स्वस्थ विकास हो।

कौंसिल को यह देखकर दुःख हुआ है कि अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन ने इस आन्दोलन को अवाञ्छनीय और हानिकर बतलाया है। इस कौंसिल का विचार है कि इस आन्दोलन का विरोध करने वाली संस्थाओं तथा व्यक्तियों को यह आशंका है कि विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों का विकास समस्त भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रभाषा बनाने के मार्ग में व्याघात उपस्थित करेगा। इस आशंका में पड़कर हमें इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या में निहित आधारभूत प्रश्नों को आँख से ओझल न कर देना चाहिए।

इस कौंसिल का निश्चित मत है कि जनपदीय भाषाओं के स्वतन्त्र विकास से इन प्रदेशों की स्वतन्त्र संस्कृतियों और निजी विशेषताओं का समुचित प्रस्फुटन होगा। इसके साथ-ही-साथ जनपदीय भाषाओं के विकास से जन-शिक्षा के कार्य में सहायता मिलेगी और देश के सबसे पिछड़े हुए, विस्मृत कोनों में भी जन-साहित्य के विकास को अप्रत्याशित बल मिलेगा।

इस कौंसिल का यह मत है कि ऐतिहासिक रूप से देखने पर जनपद आदोलन हमारी बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना का परिणाम ही सिद्ध होता है। यह चेतना विभिन्न प्रदेशों की जनता की इस प्रजातान्त्रिक माँग के रूप में अभिव्यक्ति पा रही है कि उसे अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास का अधिकार मिले।

अतः यह कौंसिल इस आन्दोलन के सम्बन्ध में उठाये गये सन्देहों को न्यायोचित

नहीं समझती। यह समझती है कि हम सबको इस आन्दोलन से उठने वाली मौलिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। इस अध्ययन से यह लाभ होगा कि हम इस आन्दोलन का कुछ लोगों के विरोध की प्रतिक्रिया-स्वरूप अस्वस्थ विच्छेदमूलक धारा में प्रवाहित होने से बचाते हुए उसे रचनात्मक दिशा में लेजा सकेंगे।

अतः यह कौंसिल सभी हिन्दी और उर्दू लेखकों से अनुरोध करती है कि वे इस समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें और जनपद आन्दोलन के समुचित विकास में सहायक हों।

—प्रस्तावक : शिवदानसिंह चौहान

—अनुमोदक : डॉ० रामबिलास शर्मा